राजनीति के सिद्धांत

कृष्णकांत मिश्र

प्राक्कथन

हमारे देश में राजनीतिक सिद्धांतों की विवेचना प्रायः पारंपरिक ब्रिटिश उदारवादी दृष्टिकोण से की जाती रही है। जान स्टुअर्ट मिल, टी एच ग्रीन, अर्नेस्ट बार्कर, हेरोल्ड जे लास्की आदि के राजनीतिक विचारों के विवेचन पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। कुछ दिनों से कुछ विश्वविद्यालयों मे व्यवहारवादी राजनीतिविज्ञान की चर्चा होने लगी है और उसे भी पाठ्यक्रमो में स्थान देने का प्रयास किया जाने लगा है। अब डेविड ईस्टन, आमंड, पावेल एवं राबर्ट डाल की कृतियों को पाठ्यक्रमो में कही कही शामिल किया गया है। इस प्रकार धीरे धीरे व्यवहारवादी राजनीतिविज्ञान, जिसका विकास विशेप रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ, हमारे देश में भी प्रवेश कर रहा है।

रूसी क्रांति के पश्चात भारत के बुद्धिजीवी लोगों पर मार्क्सवादी तथा लेनिनवादी चिंतन का भी प्रभाव पडना शुरू हुआ किंतु राजनीतिक सिद्धांतों की व्याख्या के लिए राजनीतिविज्ञान के भारतीय लेखकों ने मार्क्सवादी पद्धति का उपयोग करना कुछ कारणों से आवश्यक नही समझा। आशीर्वादम एवं अन्य भारतीय विद्वान केवल एक अध्याय में मार्क्सवादी साम्यवाद को एक सर्वाधिकारी विचारधारा के रूप मे प्रस्तुत करके और उदारवादी विचारधारा के पूर्वग्रहों के अनुसार मार्क्सवाद की समीक्षा और निंदा करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मानते दिखते हैं। समाज विज्ञानों एवं राजनीतिविज्ञान के विश्लेषण मे मार्क्सवादी पद्धति का भी अपना स्वतंत्र योगदान है। इस योगदान को राजनीतिक सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन के संदर्भ में भुला देना उचित नही है, क्योकि उसका परिणाम प्रतिपाद्य विपय का एकागी प्रस्तुतीकरण होता है।

अतः प्रस्तुत पुस्तक मे राजनीतिक सिद्धातों की व्याख्या के लिए परंपरावादी उदारवादियों, अनुभववादी व्यवहारवादियो एवं द्वंद्ववादी मार्क्सवादियों के योगदान पर समान एव न्यायोचित रूप से ध्यान दिया गया है। राजनीति के सैद्धांतिक और क्रियात्मक पक्षों की विवेचना पर जोर दिया गया है। पुस्तक के लेखन मे मैकीवर की कृति 'दी माडर्न स्टेट', लास्की की कृतियों 'ए ग्रामर आफ पालिटिक्स' एवं 'दी स्टेट इन थियरी ऐंड प्रेक्टिस', बार्कर की कृति 'प्रिंसीपिल्स आफ सोशल ऐंड पोलिटीकल थियरी', वेन तथा

पीटर्स द्वारा लिखित 'सोशल प्रिंसीपिल्स ऐंड दि डेमोक्रेटिक स्टेट', राबर्ट डाल की रचना 'माडर्न पोलिटीकल एनेलिसिस' एवं ऐलन स्विगवुड की कृति 'मार्क्स ऐंड माडर्न सोशल थियरी' से विशेष सहायता मिली है। मैं उपर्युक्त लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करना कर्तव्य समझता हूं।

आशा है यह पुस्तक विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकेगी। दिल्ली विश्वविद्यालय तथा उससे संबद्ध कालेजों के अपने विभागीय साथियों और छात्रों को यह पुस्तक सस्नेह समर्पित है। वस्तुतः यह उनके ही सहयोग, उत्साह और अनुग्रह का परिणाम है।

15-सी यूनिवर्सिटी रोड,
दिल्ली-110007

—कृष्णकांत मिश्र

अनुक्रम

1

राजनीति क्या है

राजनीति और सत्ता

आज मनुष्य पहले से कहीं ज्यादा राज्य के संरक्षण में रहते हैं। वे अगर व्यक्तिगत या सामूहिक तरीके से कुछ पाना चाहते हैं, तो उसके लिए उन्हें राज्य की मदद और अनुमति की जरूरत पड़ती है। राज्य यह मदद और अनुमति बिना किसी भेदभाव के नहीं देता, इसलिए मनुष्य को राज्य की शक्ति और उद्देश्य को अपने पक्ष मे प्रभावित करने और बदलने की जरूरत पडती है। यही नही उनमें कुछ लोग या वर्ग राजशक्ति को अपने कब्जे में करने की पूरी कोशिश करते है। समाज के विभिन्न वर्गो द्वारा राजशक्ति के उपयोग के लिए प्रतियोगिता या संघर्ष का ही नाम राजनीति है।

राज्य का अपनी ओर ध्यान खींचने के लिए या उस पर अपना नियंत्रण रखने के लिए समुदायों और वर्गों मे लगातार मुकाबला चलता रहता है। रैल्फ मिलीबैंड लिखते हैं कि 'सामाजिक संघर्ष की लहरें राज्य से ही जाकर टकराती हैं।'[1] जब लोगों के वर्ग-हित आपस मे टकराते है तब राज्य ही आकर उनका बीच-बचाव करता है और अपने निर्णय को झगडने वाले वर्गों पर लाद देता है। इसीलिए मनुष्य आज सामाजिक प्राणी होने के साथ साथ राजनीतिक प्राणी भी बन गया है। यह दूसरी बात है कि काफी लोग अपनी राजनीतिक स्थिति को सही ढंग से पहचानते नही हैं। कोई अगर चाहे तो वह व्यक्तिगत रूप से राज्य के प्रति उदासीन रह सकता है। फिर भी राज्य उसे किसी न किसी रूप मे प्रभावित अवश्य करेगा। राजनीति किसी न किसी रूप मे हमारे जीवन को प्रभावित करती ही है।

वर्तमान युग मे राजनीति की व्यापकता चरम सीमा को पहुंच चुकी है। उदाहरण के लिए अगर कुछ राजनीतिज्ञ, जो आज अमरीका या सोवियत रूस की सरकार चला रहे हैं, परमाणु युद्ध छेडने का निर्णय ले लें तो बहुत थोड़े समय में आधी दुनिया के लोग मारे जा सकते हैं। राज्य के पास आज असीमित सैनिक शक्ति है। इस शक्ति द्वारा वह जनता के सभी वर्गों से आज्ञापालन कराता है। अंतिम विश्लेषण में हैं कि नागरिकों के द्वारा आज्ञापालन का मुख्य आधार इसी सैनिक बल के

संभावना है। यदि आज दुनिया का नक्शा उठाकर देखा जाए, तो पता चलेगा कि आधे से अधिक राज्यों में राजनीति के सबसे सफल और चतुर खिलाड़ी फौज के जनरल, कर्नल और मेजर हैं। राजनीति की शतरंज में इन सैनिक अधिकारियों ने पेशेवर राजनीतिज्ञों को मात दे दी है।

राजनीति सत्ता के लिए विभिन्न वर्गों का संघर्ष है। समाज में हमेशा दो प्रमुख वर्ग रहे हैं। पहला वर्ग वह है जो उत्पादन के साधनों का मालिक होता है। उत्पादन के साधनों का मालिक होने के कारण यह वर्ग राजनीति पर छा जाता है और राज्य की नीतियों को अपने पक्ष में मोड़ने की कोशिश में कामयाब हो जाता है। जिन देशों में आज सैनिक विशिष्ट वर्ग शासन कर रहे हैं, वे भी प्रायः इन्हीं उत्पादन के साधनों के मालिकों के प्रतिनिधि के रूप में ही शासन करते हैं। इंडोनेशिया या पाकिस्तान में सैनिक गुटों की राजनीति के पीछे वहां के जमींदारों और पूंजीपतियों की राजनीति छिपी हुई थी। चिली, ब्राजील और अर्जेंटिना जैसे लैटिन-अमरीकी देशों में भी सैनिक तानाशाही वहां के जमींदार और पूंजीपति वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है। जिन लोगों के पास आर्थिक सत्ता होती है, वे ही इन सैनिक नेताओं के जरिए राजनीतिक सत्ता पर नियंत्रण रखते हैं। समाज में दूसरा प्रमुख वर्ग वह है जिसके पास आर्थिक सत्ता का अभाव है, उदाहरण के लिए मजदूर वर्ग। पूंजीवादी देशों में उसकी भूमिका श्रम बेचकर अपनी जीविका चलाना है। पूंजीपति उसके श्रम को खरीदकर तथा उस श्रम की पूरी मजदूरी न देकर मुनाफा कमाते हैं और इस प्रकार अपनी पूंजी का संचय करते हैं।

मजदूर वर्ग अपने हितों की रक्षा के लिए यूनियन बनाता है। अकेला मजदूर असहाय है किंतु वह मजदूर संघ में संगठित होकर अपनी सामूहिक शक्ति का उपयोग अपने बचाव के लिए करता है। पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक सत्ता से जुड़ी हुई राजनीति होती है। मजदूर वर्ग की राजनीति सत्ता के विरोध की राजनीति है।

राजनीति में भाग लेने के लिए उत्पादन के मालिक पूंजीपति अपने दल बना लेते हैं। यह जरूरी नहीं कि वे कितने दल बनाएं। इसी प्रकार मजदूर वर्ग भी अपने राजनीतिक दल बनाता है और परिस्थिति के अनुसार वह एक या अनेक दलों में संगठित हो सकता है। पूंजीवादी लोकतंत्र में राजनीतिक दल सत्ता के लिए चुनाव पर निर्भर होते हैं। वे अपने दलों का कार्यक्रम मतदाताओं के सामने पेश करते हैं। चुनाव जीतने पर ये दल सरकार बनाते हैं अन्यथा विरोधी दल के रूप में कार्य करते हुए सरकार की आलोचना करते हैं। इन पेशेवर राजनीतिज्ञों की राजनीति भी स्वावलंबी राजनीति नहीं है। चुनाव के प्रचार अभियान का खर्च अक्सर पूंजीपति देते हैं। उनके अपने वर्ग के दल तो विचारधारा और कार्यक्रम की दृष्टि से उनके गुलाम होते ही हैं, वे मजदूर आंदोलन और मजदूर दलों के नेताओं को भी धन और लालच देकर अपने पक्ष में मोड़ने में सफल हो जाते हैं। पूंजीवादी समाज के पेशेवर राजनीतिज्ञ पूंजीपति वर्ग की राजनीति को ही अपने दल की व्यावहारिक राजनीति बना लेते हैं। इस प्रकार राजनीतिक विशिष्ट वर्ग राजनीति में एक पराधीन प्रबंधक की भूमिका निभाता है। मार्क्स के शब्दों में इन राजनीतिज्ञों की राजनीति संपूर्ण बुर्जुआ वर्ग के सामान्य हितों के प्रबंध की राजनीति है।

अकसर समझा जाता है कि नौकरशाही और पुलिस राजनीति की परिधि से बाहर हैं। लोकतंत्र की राजनीति में यही बात फौज के बारे में कही जाती है। स्थिति इससे बिलकुल विपरीत है। राजनीति दो प्रकार की हो सकती है: यथास्थिति की राजनीति और विरोध या विद्रोह की राजनीति। नौकरशाही, पुलिस और फौज की राजनीति सिर्फ यथास्थिति की राजनीति हो सकती है। इसका उद्देश्य समाज के आर्थिक संबंधों को ज्यों का त्यों रखना है। अगर इन आर्थिक संबंधों का आधार पूंजीवाद है तो फौज, पुलिस और नौकरशाही पूंजीवाद की रक्षा और संचालन की राजनीति अपना लेंगी। अगर कोई मिल मालिक कारखाना बंद कर दे, जिससे हजारों मजदूर एकदम बेकार हो जाएं, तो इस तालाबंदी को खोलने के लिए नौकरशाही, पुलिस या फौज का कोई दायित्व नहीं माना जाता। इसके विपरीत हड़ताल करने वाले मजदूरों को दबाना, उन पर लाठी-गोली चलाना नौकरशाही, पुलिस और फौज अपने फर्ज में शामिल करती है। उनकी निगाह में हड़ताली मजदूरों के शांतिपूर्ण जुलूस भी विप्लवी षडयंत्र बन जाते हैं।

राजनीति का एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र मनुष्य की विचारधारा और संस्कृति भी है। समाचारपत्र, साप्ताहिक-मासिक पत्रिकाएं, स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय, चर्च या ट्रेड यूनियन, मंदिर या संगीत परिषद, कविता, नाटक या निबंध सभी के माध्यम से राजनीतिक विचारधाराओं का छिपा या खुला प्रचार संभव है। समाचारपत्र खबरों और विचारों को इस तरह पेश कर सकते हैं जिससे किसी निश्चित विचारधारा के पक्ष में जनमत को प्रभावित किया जा सके। मंदिर की राजनीति, जो खेतिहर मजदूरों को हरिजन होने की वजह से मंदिर में घुसने नहीं देती, जमींदार द्वारा उनके आर्थिक शोषण का औचित्य साबित करती है। उपन्यास और चलचित्र की बुर्जुआ नायिकाएं अपने चरित्र के द्वारा साधारण लोगों के मन में बुर्जुआ जीवनदर्शन के प्रति आकर्षण पैदा करती हैं। सिनेमा में नायक रिक्शा खींचता है; अमीर नायिका उसकी रिक्शा में सवारी करती है, प्रेम हो जाता है और अंत में दोनों की शादी हो जाती है। यह अवास्तविक और पलायनवादी हल रिक्शा-कुलियों की समस्या का सही हल नहीं है, पर यह उन्हें बुर्जुआ प्रणाली के प्रति सहनशील बनाता है और वे एक दिवास्वप्न के सहारे जीने लगते हैं। इसी तरह हर मजदूर नायक के लिए पूंजीपति की फैक्टरी उसकी मां होती है, जिसकी रक्षा वह सीना तानकर हड़ताली मजदूरों के हमले और आक्रोश से करता है। अंत में इस मजदूर नायक की शादी उसी पूंजीपति की सुघरी हुई लड़की से हो जाती है यानी मजदूर समस्या का हल मजदूर संघ के नेता को मिल मालिक द्वारा अपना दामाद बनाना है।

अतः राजनीति के तीन मुख्य स्तर हैं: पहला, बुनियादी और महत्वपूर्ण स्तर आर्थिक सत्ता की राजनीति का होता है। राजनीति को इस स्तर पर समझने के लिए समाज के वर्गविश्लेषण और श्रेणीसंघर्ष के रूप को समझने की जरूरत होती है। राजनीति का दूसरा, महत्वपूर्ण और अपेक्षाकृत ज्यादा साफ स्तर राजनीतिक सत्ता का है जो राजनीतिक दलों, नौकरशाही, फौजी जनरलों, पुलिस और अदालतों की राजनीति है।

कुछ राजनीतिक लेखक इसी राजनीतिक सत्ता की राजनीति को स्वावलंबी और एकमात्र राजनीति मानकर चलते है। वे भूल जाते हैं कि राजनीतिक सत्ता आर्थिक सत्ता से स्वतंत्र नही है, बल्कि बुनियादी रूप में उस पर आश्रित है। राजनीति का तीसरा स्तर विचार-धारा की सत्ता का है जिसकी अपेक्षाकृत बहुत कम चर्चा की जाती है। धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान आदि क्षेत्रों में जो विचार प्रस्तुत किए जाते हैं वे बड़े सूक्ष्म तरीके से लोगो के सोचने के तरीके, अच्छे-बुरे के मापदंड, कानूनी और गैरकानूनी, पाप और पुण्य के विचार के भेद एवं सही और गलत राजनीतिक व्यवहार का अंतर निर्धारित कर देते हैं। राजा-रानी, सामंतों और श्रीमंतों के प्रति श्रद्धा और आज्ञापालन के भाव को जनमानस मे अंकित करने के लिए अनेक कवियों, नाटककारों और कलाकारों को श्रेय दिया जा सकता है। उसी प्रकार जनवादी और समाजवादी राजनीति को मजबूत बनाने मे रूसो, वाल्टेयर, मार्क्स, गांधी और लेनिन के क्रांतिकारी विचारो के योगदान की चर्चा की जा सकती है।

राजनीति के विषय में कुछ मत

समाज के राजनीतिक रूप और दूसरे रूपों मे क्या अंतर है ? उदाहरणार्थ राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली मे क्या भेद है ? यद्यपि सभी विचारक इस संबंध में एक राय नहीं रखते, फिर भी राजनीतिक संबंधों की एक विशेषता पर सभी जोर देते हैं। अरस्तू का कथन है कि राजनीतिक समाज का मुख्य लक्षण 'सत्ता या शासन का अस्तित्व' है। समाज मे कई प्रकार की सत्ताएं हो सकती है, जैसे मालिक की गुलाम पर, पति की पत्नी पर या माता-पिता की संतान पर। अरस्तू के अनुसार राजनीतिक सत्ता का अर्थ शासक की शासितो पर सत्ता है। राजनीतिक समुदाय सबसे अधिक शक्तिशाली और व्यापक समुदाय हैं और संविधान इस राजनीतिक सत्ता के विस्तार का विवरण होता हैं। प्लेटो के अनुसार राजनीतिक सत्ता समाज की सबसे महत्वपूर्ण सत्ता है। इस सत्ता के प्रयोग द्वारा आदर्श राज्य के शासक नागरिकों की भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति कर सकते है। प्लेटो के अनुसार समाज मे तीन वर्ग होते हैं: विद्वान, सैनिक और श्रमिक। आदर्श राज्य मे सत्ता विद्वान और सैनिक वर्गों में निहित होगी। प्लेटो और अरस्तू में एक मतभेद है। प्लेटो के अनुसार स्त्रियो को भी सत्ताधारी वर्ग मे शामिल किया जाएगा जबकि अरस्तू इस मत का समर्थन नही करते। प्लेटो और अरस्तू समान रूप से तत्कालीन दासप्रथा का समर्थन करते हैं।

राजनीतिक सत्ता का मुख्य आधार हिंसा, बल प्रयोग और शक्ति का संचय हैं। इस विचार को आधुनिक युग मे मैकियावेली, हाब्स और मैक्स वेबर ने प्रस्तुत किया हैं। मैक्स वेबर (1864-1920) का विचार हैं कि किसी समुदाय को राजनीतिक तभी कहा जा सकता है 'जब वह एक निर्धारित प्रदेश मे अपने प्रशासकीय अधिकारियो द्वारा बल प्रयोग करके या उसकी धमकी द्वारा अपनी आज्ञाओ का पालन कराता हैं।'[2]

एक समकालीन अमरीकी विचारक हेरोल्ड लासवेल राजनीति की परिभाषा देते हुए कहते है :'राजनीतिविज्ञान एक अनुभव पर आधारित ज्ञानहै, यह शक्ति के निर्धारण

और वितरण का अध्ययन है और राजनीति शक्ति के दृष्टिकोण से किया गया कार्य है।'[3] राजनीति के संबंध मे अगर हम अरस्तू, मैक्स वेबर और लासवेल के दृष्टिकोणो से विचार करें तो इसके तीन तत्व मालूम पड़ेंगे : सत्ता और बल प्रयोग, क्षेत्रीयता और आत्मनिर्भरता।

रावर्ट डाल का विचार है कि न केवल इन तीन विचारकों की वल्कि सभी विचारकों की राजनीति के बारे मे धारणाएं आपस मे जुड़े हुए तीन वृत्तों से समझाई जा सकती हैं। अगर पहले वृत्त मे उन सभी राजनीतिक संवधो को शामिल कर लिया जाए जिनका संबंध शासन, सत्ता या बल प्रयोग से है, तो यह वृत्त लासवेल द्वारा प्रस्तुत राजनीति की परिभाषा को अंकित करेगा जिसमें क्षेत्रीयता या आत्मनिर्भरता का महत्व गौण रहेगा। अरस्तू और वेबर के दृष्टिकोणों को समझाने के लिए दूसरे और तीसरे वृत्तों की जरूरत पड़ेगी जो क्रमशः क्षेत्रीयता और आत्मनिर्भरता को अंकित करेंगे। ये वृत्त एक-दूसरे को काटते हैं। वेबर के अनुसार राजनीति का क्षेत्र पहले और दूसरे वृत्तों के सधिस्थल मे मिलेगा और अरस्तू के अनुसार यह तीनों वृत्तों के सधिस्थल में प्राप्त होगा। रावर्ट डाल ने इसे निम्नांकित वृत्तचित्र द्वारा स्पष्ट किया है :
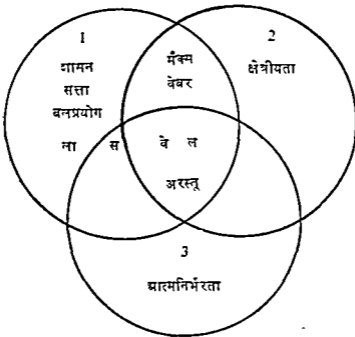
यह स्पष्ट है कि जिसे अरस्तू और वेबर राजनीति मानेंगे, लासवेल भी उसे राजनीति मान लेंगे। परतु जिसे लासवेल राजनीति में शामिल करेंगे, उसे अरस्तू या मैक्स वेबर राजनीति से अलग समझेंगे। उदाहरणार्थ लासवेल मजदूर संघ, औद्योगिक संस्था या कैथोलिक चर्च के कुछ कार्यों को भी राजनीतिक मानकर उनके अध्ययन पर जोर देंगे। रावर्ट डाल का

कथन है कि नागरिक न केवल देश और नगर की सरकार में राजनीति से टकराता है, बल्कि वह स्कूल, गिरजाघर, व्यापारिक कंपनी, मजदूर यूनियन, क्लब, सामाजिक समुदाय आदि से लेकर सयुक्त राष्ट्र संघ तक अनेक स्तरों पर राजनीति का मुकाबला करता है। राजनीति मनुष्य के अस्तित्व से अनिवार्य रूप मे जुड गई है। इसे मानवजीवन के किसी अंग मे भी अलग करना नामुमकिन हो गया है। राजनीतिक प्रणाली से प्रत्येक मनुष्य का किसी न किसी समय, किसी न किसी तरीके से संपर्क होता ही रहता है।[4]

राजनीति की उपर्युक्त परिभाषा बहुत व्यापक मालूम पड़ती है। इसके अनुसार राजनीति परिवार, कबीले, मजदूर यूनियन, व्यापारिक संगठन, धार्मिक संघ और राज्य मे समान रूप से व्याप्त हो सकती है। राबर्ट डाल इस नई संकल्पना को इस प्रकार स्पष्ट करते है :

1. आम बोलचाल में भी हम क्लब या कंपनी के अधिकारियों और संचालको की बात करते है और इनमे चलनेवाली 'राजनीति' और झगड़ों की चर्चा करते हैं। इन अधिकारियों को तानाशाही प्रकृति का बताकर निंदा की जाती है या प्रजातांत्रिक स्वभाव का बताकर तारीफ की जाती है।

2. किसी भी समुदाय की राजनीति उसके जीवन का एक अंग होती है। जिस तरह एक डाक्टर सिर्फ डाक्टर ही नही होता, एक अध्यापक सिर्फ अध्यापक नही होता और एक किसान केवल किसान ही नही होता, उसी प्रकार एक राजनीतिज्ञ केवल राजनीतिज्ञ नही होता। सत्ता और शक्ति के अलावा मनुष्य के दूसरे संबंध भी हैं, जिनका आधार प्रेम, आदर, आदर्श, समर्पण और समान विश्वास हो सकता है। इसलिए कोई भी समुदाय सिर्फ राजनीतिक ही नहीं हो सकता।

3. यह परिभाषा मनुष्य की मनोवृत्तियों की कोई चर्चा नही करती। इसका यह मतलब नहीं है कि लोग जानबूझकर दूसरों पर हुकूमत करने की इच्छा से प्रेरित होकर कार्य करते हैं या वे सदा सत्ता की कामना करते है और शक्ति प्राप्त करने के लिए सघर्ष करते रहते है। ऐसे व्यक्ति जिन्हें सत्ता की बहुत कम लालसा हो, शासक चुने जा सकते हैं। ऐसे व्यक्ति जो सत्ता के पीछे भागते हों, सत्ता से वंचित रह सकते हैं। राजनीति मे हम सत्ता के मनोवैज्ञानिक पहलू का अध्ययन करने के बजाय उसकी व्यावहारिक स्थिति का ही अध्ययन करते हैं।[5]

अल्फ्रेड डी ग्राजिया ने राजनीति के विकास में निम्नलिखित विचारों और धारणाओं की चर्चा की है : यूनानी और रोमन विचारकों की देन : 1. सत्ता (इनाम और सजा); 2. दुनिया गणित पर आधारित व्यवस्था है; 3. मानदंड के रूप में मनुष्य; 4. राजनीतिक समाज और राष्ट्रीयता; 5. श्रम-का विभाजन और सीढीनुमा समाज; 6. लोकतंत्र और सामाजिक इकरारनामा; 7. संविधानवाद; 8. राजनीति के अध्ययन का अनुभवात्मक तरीका; 9. सुख-दुख और राजनीति; 10. विश्व व्यवस्था, बंधुत्व और कानून; और 11. अस्तित्ववादी राजनीतिक सक्रियता'। अल्फ्रेड ग्राजिया के अनुसार मध्ययुग ने चार नई धारणाओं को जन्म दिया : 1. अंतर्दर्शी पद्धति; 2. विश्व इतिहास का सिद्धात; 3. सुव्यवस्थित नैतिक राजनीतिक सिद्धांत; और 4. प्रातिनिधिक शासन

और वहुलवादी समाज। आधुनिक युग ने ये संकल्पनाएं प्रस्तुत की : 1. मूल्यनिरपेक्ष राजनीतिविज्ञान; 2. शक्तिराजनीति; 3. स्वतंत्रता, उदारवादी राज्य और व्यक्तिवाद; 4. नया विज्ञान; 5. कानून का तर्कवादी विश्लेषण; 6. व्यावहारिक समाजविज्ञान; 7. आर्थिक निर्धारणवाद; 8. श्रेणी समाजशास्त्र; 9. समाज और संस्कृति के नमूने; 10. विशिष्ट वर्ग; 11. संचार; 12. प्रयोगवादी जांच-पड़ताल; और 13. राजनीतिक व्यवहार के अवचेतन स्रोत।[6]

इनाम और सजा के रूप में सत्ता का प्रयोग : सत्ता का जन्म पितृसत्ताक समाज में हो जाता है। मनुष्य ने दुनिया नहीं बनाई बल्कि किसी देवता या ईश्वर ने बनाई है। यही से सत्ता और आज्ञापालन का विचार शुरू होता है। कबायली समाज के जादूगर, पुरोहित और योद्धा इतिहास के पहले सत्ताधारी हैं। इनका दायित्व कबीले की परंपराओं और नियमो की रक्षा करना है। सत्ता का काम है कि वह इन नियमों का उल्लंघन करनेवाले को दंड दे और उनका पालन करनेवालो को इनाम दे। यही काम बाद में सुसंगठित राजनीतिक समाज बन जाने पर राजा और सरकार को सौंप दिया जाता है। कबायली रीति-रिवाजो की जगह राजा के कानून और आदेश, इनाम और सजा का फैसला करते हैं। प्राचीन भारत में राजनीति को इसीलिए दंडनीति या सजा देने के नियम कहा गया है।

यही सत्ता का विचार, जैसाकि अठारहवीं सदी के लेखक वीको ने बताया है, जादू और धर्म के मार्ग से होता हुआ समाजविज्ञान की संकल्पना बन जाता है। मातृसत्ताक समाज की रानी से लेकर आधुनिक गणतंत्र के प्रधानमंत्री तक राज्य इसी दंड देनेवाली सत्ता की कहानी कहता रहा है। राज्य के विरोधी अराजकतावादी और राज्य के पूजक आदर्शवादी समान रूप से राजनीति और सत्ता के अटूट संबंध से परिचित हैं। हाब्स इसी सत्ता के सिद्धात से अपने संप्रभुता संबंधी सिद्धांत को विकसित करते हैं। हीगल इस सत्ता का नैतिक औचित्य साबित करने की कोशिश मे लग जाते हैं। परंतु सत्ता के सिद्धांत की पहली विवेचना हमें कौटिल्य, प्लेटो, कन्फ्यूशियस और अरस्तू के विचारों में मिल जाती है।

दुनिया—गणित पर आधारित व्यवस्था : ज्योतिष और गणित के द्वारा इस दुनिया को समझने का प्रयास विज्ञान के विकास की दिशा मे पहला कदम है। प्लेटो और पायथागोरस पहले विचारक थे जिन्होंने समाज और राजनीति के अध्ययन में गणित का प्रयोग किया। हाब्स और स्पिनोजा ने गणित के नियमों और तर्कों के आधार पर राजनीतिविज्ञान की विवेचना का प्रयत्न किया। अत्यधिक आधुनिक व्यवहारवादी राजनीति गणित और सांख्यिकी का उपयोग करती है। सत्ता और प्रभाव के अध्ययन में अनेक पश्चिमी लेखक सांख्यिकी (स्टेटिस्टिक्स) का सहारा लेते हैं।

मानदंड के रूप में मनुष्य : यूनान के सोफिस्टो और भारत में चार्वाक ने पहली बार मनुष्य को सभी चीजों का मानदंड माना। मनुष्य स्थान और काल के अनुसार अपने लिए कानून और नियम बनाते हैं। सत्ता का उद्देश्य मनुष्यों को लाभ और सुख पहुंचाना है। एथेंस, स्पार्टा, मिस्र तथा ईरान के कानून एक जैसे नहीं हो सकते। ईरान के लिए राजतंत्र, स्पार्टा के लिए सैनिक तानाशाही, मिस्र के लिए धर्मतंत्र और एथेंस के लिए

प्रजातंत्र वहां के निवासियों के लिए उपयुक्त है। व्यवस्था के लिए सत्ता की जरूरत है, परंतु सत्ता के रूप अलग अलग देशों मे लोगो के स्वभाव और भौतिक आवश्यकताओ के द्वारा निर्धारित किए जाएंगे। अरस्तू दासता को स्वाभाविक मानते थे। सोफिस्टों का विचार था कि वह वर्तमान शासक वर्ग के फायदे की चीज है, कोई दास स्वभाव से गुलाम पैदा नहीं होता। सोफिस्टों ने राजनीति को सास्कृतिक सापेक्षता का सिद्धात दिया।

राजनीतिक समाज और राष्ट्रीयता : प्राचीन यूनान ने राजनीति को सुसंगठित राजनीतिक समाज और राष्ट्रीयता की धारणा दी। चीन, भारत या ईरान के राज्य बहुत कुछ अंशो मे अभी पितृसत्ताक सगठन थे। उनमें क्षेत्रीय आधार पर सामूहिकता, देश-भक्ति, लोकमत, सामाजिक एकता या राजनीतिक सुदृढता की भावना जाग्रत नही हुई थी। इनका विकास सबसे पहले यूनान के नगर राज्यों में और बाद मे रोम के गणतंत्र में ही हुआ। लगभग दो हजार वर्षों तक प्लेटो (427-347 ई०-पू०) और अरस्तू (384-322 ई० पू०) की 'रिपब्लिक' और 'पालिटिक्स' यूरोप को राजनीतिक समाज के आदर्शों की प्रेरणा देती रही हैं। दोनों ने समाज और प्रकृति की भिन्न भिन्न परिभाषाएं दीं और तर्कशास्त्र की दो विरोधी पद्धतियों को जन्म दिया। उन्होंने भिन्नता के बावजूद जिस आदर्श राज्य की कल्पना प्रस्तुत की, उसे वे ज्ञान द्वारा पहचाने हुए सद्गुणो पर आधारित और नैतिक मूल्यों का पोषक चिरस्थायी राजनीतिक समाज मानते थे। समाज मे प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के कर्तव्य निर्धारित कर दिए गए। यदि सभी श्रेणियो के सदस्य अपने निर्धारित कामों को योग्यता और निष्ठा से करेंगे तो राष्ट्र मजबूत होगा।

अल्फ्रेड डी ग्राजिया का विचार है कि आधुनिक राष्ट्रवाद के जनक यूनान के नगर-राज्य ही है; केवल राष्ट्रीयता का दायरा विस्तृत हो गया है। मध्यकालीन साम्राज्य और सामंतशाही पर आधारित राज्य यूरोप की सास्कृतिक राष्ट्रीय इकाइयो को पहचानते थे परंतु उन्हें राजनीतिक महत्व नहीं दिया जाता था।[7] इसलिए वास्तव मे राष्ट्रीयता पर आधारित राजनीतिक समाज आधुनिक युग की देन है। रूसो, हीगल और मैजिनी आधुनिक राष्ट्रवाद का वैचारिक स्रोत प्लेटो और अरस्तू की पुस्तकों मे ही खोजते है।

श्रम का विभाजन और सीढ़ीनुमा समाज : प्लेटो से लास्की तक यूरोप का समाज वर्गों में विभक्त समाज रहा है। यह दासता, सामंतशाही और पूंजीशाही का समाज है। प्लेटो का आदर्श राज्य श्रेणियों के आधार पर संगठित है और उसमे श्रम के विभाजन के आधार पर एक सीढ़ीनुमा समाज की रूपरेखा है। भारत का राजनीतिक समाज वर्गों और जातियों पर आधारित बहुत ही जटिल सीढ़ीनुमा समाज है और कौटिल्य के राज्य मे क्षत्रिय और ब्राह्मण शासक वर्ग हैं और शूद्र और वैश्य दलित और शासित वर्ग हैं। प्लेटो के आदर्श राज्य मे भी विद्वानों और योद्धाओं को शासक वर्ग माना गया है, बाकी सभी वर्ग शासित वर्ग है। अरस्तू मानते हैं कुछ लोग स्वभाव से मालिक बनने योग्य होते हैं और कुछ स्वभाव से गुलाम बनने लायक होते हैं।

जेम्स मैडीसन ने प्लेटो के 2200 वर्ष बाद 'फेडरलिस्ट' में उनके सिद्धांत को दोहराया था : 'मनुष्यों के स्वभावों के भेद से संपत्ति के अधिकारों का उद्गम होता है, जो

हितों की समरूपता लाने मे बडी बाधा डालते हैं। सरकार का पहला कर्तव्य इन स्वभावों की रक्षा करना है। संपत्ति प्राप्त करने की भिन्न और असमान योग्यता की रक्षा करने से तुरंत संपत्ति की किस्मों और मात्रा के भेद पैदा हो जाते हैं और भिन्न भिन्न मात्रा और किस्म की संपत्ति के मालिको के विचारो और भावनाओं के असर से समाज भिन्न भिन्न हितों और दलों में बंट जाता है।[8]

जेम्स मैडीसन पूंजीवादी अमरीका के सविधान के संस्थापकों मे माने जाते हैं परंतु उनका वर्गविश्लेषण मार्क्स के वर्गविश्लेषण से मिलता-जुलता है। फर्क यह है कि जहां मैडीसन संपत्ति के विषय विभाजन और उत्पादन के पूजीवादी स्वामित्व के समर्थक हैं, मार्क्स इस व्यवस्था के गंभीर वैज्ञानिक आलोचक और क्रांतिकारी समाजवादी है।

सीढीनुमा समाज राजनीति मे वर्गशासन को मदद देता है। ऊपरी सीढी के वर्ग नीचे की सीढी के वर्गों से उन्हें दास, कृपकदास या औद्योगिक मजदूर बनाकर मनमाफिक काम ले सकते हैं और उनसे अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकते है। यूरोप की सामंतशाही और भारत की वर्णव्यवस्था सीढीनुमा समाज के शोषण और उत्पीडन की सबसे महत्वपूर्ण मिसालें हैं। इस समाज में आर्थिक सत्ता, राजनीतिक सत्ता और विचारधारा की सत्ता घुलमिलकर एकाकार हो जाती है।

लोकतंत्र और सामाजिक इकरारनामा : सबसे पहले यूनान के नगरराज्यों के मालिक वर्ग ने सत्ता के विस्तार के बारे में कुछ नए प्रयोग किए। कुछ नगरों में कुछ समय के लिए शासन में हिस्सा लेने का हक मालिक वर्ग के सभी सदस्यों को दे दिया गया। हमे ध्यान में रखना चाहिए कि इन नगरराज्यो में स्त्रियों, गुलामों और दूसरे नगरो के प्रवासियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही थे। अरस्तू और प्लेटो के विचार लोकतंत्रविरोधी थे। परंतु अन्य यूनानी विचारकों ने लोकतंत्र का समर्थन भी किया। रोमन गणतंत्र मे भी लोकतंत्र की संतोषजनक व्याख्या न हो सकी। रोम की परिषद में गुटो और वर्गों के आपसी वाद-विवाद से प्रजातत्र के सिद्धांत का विकास न हो सका। रोम के संपन्न वर्ग की एकमात्र इच्छा विपन्न वर्ग और दासों को दबाकर अपने ऐश्वर्य और विशेषाधिकारो की रक्षा करना ही था।

आधुनिक युग मे सत्रहवी सदी के लेविलर आदोलन, क्रामवेल और फिर लाक ने लोकतंत्र के सिद्धात का प्रतिपादन किया। लाक ने सामाजिक इकरारनामे के सिद्धात को प्रजातंत्र की दिशा मे मोड़ दिया। उसके बाद फ्रास और अमरीका की बुर्जुआ क्रांतियों ने राजनीति में प्रजातंत्र और सामाजिक इकरारनामे के सिद्धातों को कार्यान्वित किया। संक्षेप में सामाजिक इकरारनामे का सिद्धांत कहता है : लोग अपनी मेहनत से संपत्ति पैदा करते हैं और यह उनके पसीने की कमाई उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाती है। ये लोग बहुमत से अपने प्रतिनिधियों को चुन लेते हैं और आशा करते हैं कि वे उनकी इच्छा के अनुसार शासन करेंगे। अगर वे इकरारनामे का उल्लंघन करते हुए उनकी संपत्ति या स्वतत्रता के अधिकारों का उल्लंघन करेंगे, तो वे शासकों को विद्रोह के जरिए हटाकर नए शासक चुन लेंगे, जो सविधान और इकरारनामे का पालन करेंगे। रूसो की 'सामान्य इच्छा' का उद्देश्य भी स्वतंत्रता और सपत्ति के अधिकारों को संरक्षण देना है। इस

कानून, नीतिशास्त्र, और राजनीति पर समान रूप से अपने विचार पेश किए। उन्होंने राजकुमारों को राय दी कि वे लोकहित के लिए शासन करें। उन्होंने कहा कि कानून विवेक का आदेश है जिसका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण है। ये विचार अपने युग के लिए नवीन और महत्वपूर्ण थे परंतु ऐक्विनास का महत्वपूर्ण योगदान सुव्यवस्थित नैतिक राजनीतिक सिद्धांत का प्रतिपादन है। इस सिद्धांत के द्वारा उन्होंने पूर्ण रूप से नैतिक शासनप्रणाली की विवेचना की। उन्होंने मनुष्य और समाज के प्रारंभिक और अंतिम लक्ष्यों को बताया और मूल्यों की प्राथमिकता निश्चित कर राजनीति को आदर्शात्मक बनाया। आज भी यूरोप के कैथोलिक आंदोलन और क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टियां ऐक्विनास की विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण करती है।

प्रतिनिधियों की सरकार : यूरोप की वर्तमान संसदों का उद्गम मध्ययुग की पादरियों और सामंतों की परिषदों में देखा जा सकता है। इन संस्थाओं में पहले व्यापारियों और अन्य वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं था। वे शुद्ध रूप से सामंती संस्थाएं थीं। सामंत इनका उपयोग गुटबंदी के आधार पर अपने गुटों के लाभ के लिए करते थे या राजा द्वारा लगाए गए टैक्सों का विरोध करने के लिए करते थे। यही सामंती परिषद कई सौ वर्ष बाद संवैधानिक विकास या क्रांति के जरिए बुर्जुआ वर्ग की पार्लियामेंट बन गई। बुर्जुआ वर्ग ने पहले शहरों में स्थानीय स्वशासन प्राप्त कर अपने को सामंती शासन से व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र करा लिया। तदुपरांत व्यापारियों और छोटे जमींदारों ने पार्लियामेंट में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया किंतु प्रातिनिधिक सरकार का सही रूप में निर्माण आर्थिक क्षेत्र में सामंतशाही के पतन और बुर्जुआ औद्योगिक क्रांति के बाद ही संभव हो सका।

सामंतशाही का ढांचा सत्ता के विकेंद्रीकरण पर आधारित था। इसलिए मध्ययुग में सबसे पहले बहुलवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया। राजा की निरंकुशता को अस्वीकार करते हुए सामंतों की क्षेत्रीय स्वायत्तता पर जोर दिया गया। नगरों के बुर्जुआ वर्ग ने राजा से नागरिक स्वशासन के चार्टर मांगे और प्राप्त किए। शिल्प श्रेणियों (गिल्ड्स) ने व्यावसायिक आधार निगमों की स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

आधुनिक उदारवादी विचारधारा में प्रतिनिधि शासन और बहुलवाद को बहुत महत्व दिया गया है। परंतु इन विचारों की जड़ें मध्ययुग के राजनीतिक ढांचे में पाई जाती है। प्रतिनिधित्व, शिष्टमंडल, लोकसम्मति, नेतृत्व, आज्ञापालन, शक्ति और सत्ता, स्वशासन, संतुलन, मतदान, बहुमत आदि अनेक विचार मध्ययुग की राजनीति में जन्म ले रहे थे। इन्हीं विचारों को जान लाक, ऐडमंड बर्क और जान स्टुअर्ट मिल ने आगे चलकर सुव्यवस्थित ढंग से पेश कर दिया।

इसी प्रकार बहुलवादी विचारों को आधुनिक युग में श्रमिकसंघवादियों, श्रेणी-समाजवादियों, क्षेत्रीयतावादियों और चर्च की स्वायत्तता के समर्थकों ने प्रस्तुत किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादियों ने बहुलवादी लोकतंत्र में विभिन्न समुदायों और विशिष्ट वर्गों के शक्तिसंतुलन की संकल्पना पेश की, जिसके प्रमुख समर्थकों में राबर्ट डाल का नाम लिया जा सकता है।

आधुनिक युग की राजनीति पर कुछ नए विचार : यूरोप में आधुनिक युग इटली के

पुनर्जागरण से शुरू होता है जिसका प्रभाव धीरे धीरे पश्चिम और उत्तर के देशों में भी फैल गया। पुनर्जागरण आंदोलन ने राजनीति की कुछ नई संकल्पनाएं और धारणाएं प्रस्तुत की। ये धारणाएं सामंतशाही की गिरती हुई व्यवस्था और बुर्जुआ वर्ग के उत्थान के संदर्भ मे पेश की गई। मैकियावेली इस नई राजनीति के पहले विवेचक माने जाते हैं।

मूल्यनिरपेक्ष राजनीतिविज्ञान : मैकियावेली का 'प्रिंस' मूल्यनिरपेक्ष राजनीति की इतिहास मे पहली व्याख्या है। उनका कथन है कि सफलता और विजय का इच्छुक राजकुमार धर्म, नैतिकता या भावनाओं से प्रेरित होकर अपनी लक्ष्यसिद्धि नही कर सकता। नैतिक मूल्य व्यक्तिगत आचरण के लिए ठीक हैं। राजनीति नैतिक मूल्यो को नही पहचानती। राजकुमार के लिए सदाचारी होना जरूरी नहीं। राज्य के विस्तार या सुदृढता के लिए वह हत्या, धोखाधडी, झूठ, युद्ध और कूटनीति का सहारा ले सकता है।

हमें तो तथ्यों और वास्तविकता के आधार पर मूल्यनिरपेक्ष राजनीतिविज्ञान का निर्माण करना चाहिए। वैज्ञानिक पद्धति का तकाजा है कि हम भावनाओ को ताक पर रखकर राजनीति के ऐतिहासिक विकास और वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करें और अनुभव के आधार पर राजनीति के व्यावहारिक सिद्धातों का प्रतिपादन करें। आदर्शों और नैतिक मूल्यों के पीछे भागनेवाले विचारक राजनीति का सही और वैज्ञानिक विश्लेषण नही कर सकते।

समकालीन समाजविज्ञान में मैक्स वेबर, टैल्काट पार्सस आदि लेखकों ने मूल्य-निरपेक्ष समाजविज्ञान पर बहुत जोर दिया है। राजनीति के क्षेत्र मे व्यवहारवादी लेखको —डेविड ईस्टन, राबर्ट डाल, आमड आदि ने मूल्यनिरपेक्ष राजनीतिविज्ञान का समर्थन किया है। यह दूसरी बात है कि मूल्यनिरपेक्षता की आड मे ये व्यवहारवादी लेखक पूंजीवादी मूल्यों और आदर्शों की वकालत करते हुए दिखाई पडते हैं। अब डेविड ईस्टन ने स्वीकार कर लिया है कि मूल्यनिरपेक्ष राजनीतिविज्ञान के लक्ष्य को प्राप्त करना असंभव है।

शक्ति राजनीति : मूल्यनिरपेक्ष राजनीति वास्तव में शक्ति की राजनीति है और इस सिद्धात को भी सबसे पहले पेश करने का श्रेय मैकियावेली को जाता है। अगर हम यह मानकर चलें कि राजनीतिज्ञो का चरम उद्देश्य ताकत हासिल करना और उसका इस्तेमाल करना ही है, तो सभी प्रकार की राजनीति को सरलता से समझा जा सकता है और राजनीतिक व्यवहार के नियमो का निर्धारण हो सकता है। इसी प्रकार हाब्स (1588-1679) ने 'लेवायथन' मे कहा : 'सभी आवेगो की बुनियाद शक्ति की लालसा है।' आधुनिक लेखको में हेरोल्ड लैसवेल 'शक्ति राजनीति' पद्धति को राजनीति के सही विश्लेषण के लिए अत्यंत जरूरी समझते है। उनके अनुसार राजनीति 'प्रभाव और प्रभावशाली का अध्ययन है।' आधुनिक व्यवहारवादी मुहावरे मे 'शक्ति' का नया नाम 'प्रभाव' और 'शक्तिशाली' का सयत भाषा मे अर्थ 'प्रभावशाली' हो गया है।

स्वतंत्रता, व्यक्तिवाद और उदारवादी राज्य : स्वतंत्रता के अनेक अर्थ किए गए हैं, जिनकी चर्चा आगे की जाएगी। प्रतिबंधों से मुक्ति की धारणा आधुनिक युग मे स्वतत्रता की पहली संकल्पना है। 1776 ई० मे अमरीकी क्रांति, बेंथम का 'फ्रैगमेंट आफ

ऐडम स्मिथ की 'वेल्थ आफ नेशंस' और टाम पेन की 'कामन सेंस' व्यक्तिवादी स्वतंत्रता के विचार की अभिव्यक्ति करती हैं। यह उदारवादी लोकतंत्र की प्रारंभिक अवस्था से जुड़ी हुई है। लाक ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और निजी संपत्ति को प्राकृतिक अधिकार बताया जिनका अतिक्रमण करना राज्य के लिए निषिद्ध कर दिया गया। टाम पेन ने जिन 'मानवीय अधिकारों' की चर्चा की, वे व्यवहार में बुर्जुआ संपत्ति और स्वतंत्रता के अधिकार साबित हुए। बेंथम और ऐडम स्मिथ ने अर्थव्यवस्था को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त रखने का प्रस्ताव किया। उदारवादी राजनीति राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने पर आधारित थी। बेंथम के राजनीतिक उपयोगितावाद और व्यक्तिवादी अर्थनीति में जो असंगति थी, उस पर ध्यान नहीं दिया गया। जान स्टुअर्ट मिल ने बौद्धिक और नैतिक क्षेत्रों में जहां व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया, आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने सामाजिक कल्याण के लिए राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन किया। उत्पादन में निजी स्वामित्व के समर्थन के साथ साथ मिल ने आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप को उचित माना।

नया विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति : राजनीति को दर्शन और कला की जगह विज्ञान का रूप देने का प्रयास किया गया। प्राकृतिकविज्ञान और समाजविज्ञान के अंतर को ध्यान में रखकर राजनीतिविज्ञान के लिए उपयुक्त वैज्ञानिक पद्धति की खोज शुरू हुई। प्राचीन, मध्ययुगीन और वर्तमान राजनीतिक समस्याओं और प्रश्नों के विश्लेषण से निष्कर्ष निकाला गया कि राजनीतिक प्रणाली के बुनियादी तत्वों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है क्योंकि मनुष्य के चरित्र और स्वभाव में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। हमें राजनीतिक समस्याओं का मूल्यांकन करने के लिए आदर्शों, विश्वासों और नियमों का एक सामान्य मापदंड निर्धारित करना चाहिए। आधुनिक समाज में क्रांतियों, लड़ाइयों और संकटों का मुख्य कारण नैतिक मूल्यों की अनिश्चितता है। इस विचार के समर्थक मूल्यनिरपेक्ष राजनीतिविज्ञान के स्थान पर मूल्यसापेक्ष राजनीति की संकल्पना पेश करते हैं। आरनोल्ड ब्रेख्त और डेविड ईस्टन राजनीति को इसी रूप में देखते हैं। यह पद्धति उदारवाद की सीमा के अंदर रहकर अनुभवात्मक और व्यवहारवादी पद्धति के दोषों का निराकरण करना चाहती है किंतु वास्तव में यह उसी पद्धति का एक संशोधित रूप है।

कानून का तर्कवादी विश्लेषण : उदारवादी राजनीति का एक पहलू कानून का तर्कवादी विश्लेषण है। बेंथम ने उपयोगिता के आधार पर परंपरागत अंगरेजी कानूनव्यवस्था की आलोचना की और उसके स्थान पर 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के दृष्टिकोण से नए कानूनों के निर्माण पर जोर दिया। फ्रांस में हेल्वेशियस और इटली में बेकारिया ने उपयोगितावादी नीति के आधार पर नए कानूनों के निर्माण के लिए सुझाव पेश किए। इन सुधारों का उद्देश्य कानूनों के सामंतवादी रूप को बदलकर उन्हें नए बुर्जुआ समाज के लिए उपयुक्त बनाना था। कानून बुर्जुआ समाज में धर्म का स्थान ग्रहण कर लेता है और वकील पुरोहितों का कर्तव्य निभाते हैं। उदारवादी राजनीति कानून की सर्वोपरिता पर निर्भर है। कानून, जिसका उद्देश्य निजी संपत्ति के पूंजीवादी अधिकार की रक्षा

करना है, बुर्जुआ समाज की महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारधारा है। कानून और अदालतें पूंजीपतियों के वर्गशासन को वैध बनाने के तरीके हैं।

व्यावहारिक समाजविज्ञान : फ्रांस के सेंट सिमोन और अगस्ट काम्ते ने राजनीति को व्यावहारिक समाजविज्ञान के अंग के रूप मे देखा। इन्होने कहा कि राजनीति की समस्याएं, कुशल प्रशासन और प्रबंध की समस्याए हैं। सैनिक अधिकारी, जागीरदार-जमींदार या पादरी शासन के लिए बिलकुल अयोग्य हैं। इसके विपरीत सामाजिक और राजनीतिक नेतृत्व के सही हकदार उद्योगपति, इंजीनियर और बुद्धिजीवी है। ये अपने ज्ञान, अनुभव और प्रतिभा के आधार पर व्यावहारिक समाजविज्ञान के नियमो का अध्ययन करके समाज के प्रशासन मे कार्यकुशलता ला सकते हैं। क्रांति या हिंसा से आज की राजनीतिक समस्याओं का हल नही निकल सकता। आर्थिक अल्पविकास या जनता की गरीबी का वास्तविक हल उद्योगपति और बुद्धिजीवी औद्योगिक विकास और शिक्षाप्रसार द्वारा निकाल सकते हैं। व्यावहारिक समाजविज्ञान के समर्थक क्रमिक सुधार-राजनीति पसंद करते हैं।

राजनीति का मार्क्सवादी सिद्धांत

आर्थिक निर्धारणवाद : सेंट सिमोन, चार्ल्स फूरियर और राबर्ट ओवन ने राजनीति में आर्थिक कारकों का महत्व बताया था किंतु इतिहास की भौतिक व्याख्या के रूप मे इस सिद्धात की विस्तृत विवेचना हमे मार्क्स और एंगेल्स के विचारो मे प्राप्त होती है। बुर्जुआ आलोचक जिसे मार्क्स का आर्थिक निर्धारणवाद कहते है, स्वय मार्क्स उसे केवल इतिहास की भौतिक व्याख्या के नाम से पुकारते हैं। मार्क्स का कथन है कि आदिम साम्यवाद से आज तक राजनीति का आधार हमे उत्पादन के तरीको और संबंधों मे खोजना चाहिए। वे राजनीति को अर्थव्यवस्था पर निर्भर अवश्य मानते हैं किंतु आर्थिक कारको को प्रत्येक परिस्थिति मे राजनीति और विचारधारा का निर्धारक नही मानते। आमतौर से विचारधारा और राजनीति की बुनियाद अर्थव्यवस्था में पाई जाएगी किंतु किसी विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति मे स्वयं अर्थव्यवस्था राजनीति या विचारधारा से प्रभावित और नियंत्रित हो सकती है।

राजनीति में आर्थिक कारकों का महत्व, जैसा कि सैबाइन का कथन है, अब उदारवादी विचारक भी स्वीकार कर चुके है। उदारवादी लेखक भी अब धर्म, राजनीति, शासन, कानून, पारिवारिक संबंध और यहां तक कि यौन संबंधों की व्याख्या आर्थिक कारकों के संदर्भ में करने लगे हैं। लास्की और मैकाइवर जैसे उदारवादी लेखक अपनी पुस्तकों—'ए ग्रामर आफ पालिटिक्स' एवं 'दि माडर्न स्टेट'—मे सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ के विश्लेषण में मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास के भौतिक विश्लेषण से कुछ सीमा तक प्रभावित जान पडते हैं।

समाजवादी देशो मे इतिहास की भौतिक व्याख्या को समाजविज्ञान और राजनीति के अध्ययन के लिए एक अनिवार्य सिद्धांत माना जाता है। मार्क्स और एंगेल्स राजनीति को ऐतिहासिक विज्ञानों की सूची मे रखते थे और समकालीन आर्थिक व्यवस्था को आधार मानकर राज्य की विवेचना करते थे। उदाहरणार्थ यूनान और रोम की राजनीति

और संस्कृति को समझने के लिए दासता पर आधारित अर्थव्यवस्था को बुनियाद मान कर चलना चाहिए। मध्ययुग की राजनीतिक प्रणाली या धार्मिक विचारधारा का आधार सामंतशाही पर आधारित उत्पादन के तरीके और संबंध हैं। इसी प्रकार उदारवादी प्रतिनिधि लोकतंत्र और कानूनी विचारधारा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की अभिव्यक्ति है। अंत में जब समाजवादी क्रांति द्वारा सर्वहारावर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित होता है तो यह समाजवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित होता है।

श्रेणी समाजशास्त्र : मार्क्स और एंगेल्स ने 1848 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र में श्रेणियों और श्रेणीसंघर्ष के महत्व पर प्रकाश डाला। पहले समाज मालिकों और दासों में विभक्त था। मध्ययुग में यह विभाजन जमींदारों और कृषकदासों के बीच में था। मध्यवर्ग के व्यापारी तथा उद्योगपति सामंतशाही के खिलाफ संघर्ष में उठ खड़े हुए और विद्रोही किसानों के साथ मिलकर उन्होंने सामंतशाही का तख्ता पलट दिया। इस प्रकार आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पूंजीपतियों के हाथ में आ गई। अब मजदूर वर्ग ने पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष शुरू किया। रूस में लेनिन के नेतृत्व में शोषित मजदूर वर्ग ने समाजवादी क्रांति की और सत्ता अपने हाथ में ले ली।

मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर समाजशास्त्र में श्रेणी और श्रेणीसंघर्ष को महत्वपूर्ण संकल्पनाओं के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उदारवादी विचारकों ने भी श्रेणीविभाजन और वर्गचेतना का अपने चिंतन और लेखन में काफी उपयोग किया। वे यह भी स्वीकार करने लगे कि इतिहास में श्रेणीशासन और श्रेणीसंघर्ष के बहुत से उदाहरण हैं। परंतु वे यह नहीं मानते कि प्रजातंत्र और वयस्क मताधिकार के बाद भी पूंजीपति वर्ग का शासन कायम रहता है।

बुर्जुआ समाजशास्त्रियों ने वर्गसंघर्ष के स्थान पर समुदायों, दलों, दबाव समूहों और विशिष्ट वर्गों के संतुलन का सिद्धांत पेश किया। पूंजीपति और मजदूर अपने दलों और दबाव गुटों में संगठित होकर सरकार को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं और परिणामस्वरूप वे सरकार की नीति को इस प्रकार संतुलित कर देते हैं कि वह न तो पूंजीपतियों के पक्ष में रहती है और न मजदूरों के पक्ष में। इस प्रकार लोकतंत्र में वर्गसंघर्ष को वर्गसमन्वय में बदल दिया जाता है।

मार्क्सवादी वर्गों के समन्वय को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार पूंजीवादी समाज में वर्गसंघर्ष को स्थगित किया जा सकता है, पर मिटाया नहीं जा सकता। साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेशों के शोषण से कुछ पूंजीवादी देश मजदूरों के जीवनस्तर को ऊंचा उठा सके किंतु रैल्फ मिलीबैंड का कथन है कि आज भी विकसित पूंजीवादी देशों में पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच में वर्गभेद उसी भयंकर रूप में कायम है, जैसा कुछ दशक पहले था। अतः इन देशों की राजनीति में वर्गसंघर्ष का महत्व अभी कम नहीं हुआ है।[11]

राजनीति के उदारवादी सिद्धांत

समाज और संस्कृति के प्रतिमान : मार्क्स के वर्गविभाजन और वर्गसंघर्ष के सिद्धांतों ने समाजविज्ञान में तहलका मचा दिया। मार्क्सवादी समाजविज्ञान के पठन-पाठन के लिए

विश्वविद्यालयों में अनुमति नही मिली। फिर भी लोग उनके विचारों में दिलचस्पी लेने लगे। इस प्रकार समाज और संस्कृति के नए प्रतिमानों (माडेल्स) की जरूरत पड़ी जिनके द्वारा समाजविज्ञान और राजनीति के विद्वान मार्क्सवादी प्रतिमान का मुकाबला कर सकें। मैक्स वेबर समाजविज्ञान मे नए प्रतिमान के पहले महत्वपूर्ण प्रतिपादक थे। उन्होने स्वीकार किया कि राजनीति मे आर्थिक कारक काफी महत्वपूर्ण हैं परंतु साथ ही उन्होंने कहा कि धार्मिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक श्रौर विचारधारात्मक कारकों का भी काफी महत्व है। इनमें कोई बुनियादी कारक नही है क्योंकि सभी कारक एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

मैक्स वेबर ने धर्मसुधार आंदोलन को यूरोप की पूजीवादी औद्योगिक क्रांति का कारक माना और भारत की जातिप्रथा को औद्योगिक क्रांति न होने के लिए जिम्मेदार ठहराया। उन्होंने कहा कि सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं या परिवर्तनों के लिए सिर्फ आर्थिक कारक उत्तरदायी नही होते। यह तो बहुत ही जटिल प्रक्रिया है जिसमें तथ्यों के संकलन और अनुभवात्मक विश्लेषण की जरूरत है। विभिन्न प्रकार के कारकों का सही योगदान विशेष परिस्थिति की जटिलता को समझे बिना असंभव है। हमें सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं और अंतःप्रक्रियाओं की जानकारी के आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिए। अतः आर्थिक निर्धारण का सिद्धांत हठधर्मी पर आधारित है। राजनीति अत्यधिक जटिल सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके बारे में मार्क्स की तरह प्रगति की दिशा का निर्धारण करना संभव नही है। मैक्स वेबर कार्यात्मक प्रतिमान (फंडामेटल माडेल) के संस्थापक माने जाते है। टैल्काट पार्संस और आमंड तथा पावेल इस प्रतिमान के समकालीन समर्थक हैं।

विशिष्ट वर्ग का सिद्धांत : इस सिद्धात के पहले प्रतिपादक अनुदार विचारो के रूढ़िवादी चिंतक रहे हैं। इनमे ऐडमंड बर्क, कार्लायल और नीत्शे के नाम लिए जा सकते है। ये अभिजात और कुलीन वर्ग को विशिष्ट वर्ग मानते हैं और उन्ही के हाथ मे शासन की बागडोर देना चाहते हैं। मास्का का विचार है कि लोकतंत्र मे आर्थिक विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के संपर्क से एक शासक वर्ग का निर्माण होता है जो जन्म पर आधारित कुलीनतंत्र के शासक वर्ग से श्रेष्ठ है। संक्षेप में मास्का सामंती विशिष्ट वर्ग की तुलना मे बुर्जुआ विशिष्ट वर्ग को शासक वर्ग के रूप मे अधिक पसंद करते हैं।

पैरेटो भी मास्का की तरह लोकशासन को असंभव मानते है। सरकार चाहे कुलीनतंत्रात्मक हो या प्रजातंत्रात्मक, सत्ता हमेशा किसी विशिष्ट वर्ग के हाथ मे रहती है। पैरेटो के अनुसार यह आवश्यक नही कि आर्थिक विशिष्ट वर्ग ही राज्य का शासक वर्ग बन जाए। उनके अनुसार राजनीति के क्षेत्र मे राजनीतिज्ञों का एक अलग मे राजनीतिक विशिष्ट वर्ग बनता है जो वस्तुतः आर्थिक विशिष्ट वर्ग को अपने नियंत्रण मे रख सकता है। पैरेटो अपने जीवन के अंतिम दिनों में फासिस्ट विशिष्ट वर्ग के समर्थक बन गए थे।

राबर्ट मिचेल्स ने राजनीतिक दलों के विश्लेषण से साबित किया है कि उनमें नेतृत्व का विकास कुलीनतंत्र के कठोर नियम के आधार पर होता है। प्रत्येक राजनीतिक दल में एक छोटा विशिष्ट वर्ग बन जाता है जो दल की नीतियों और कोष पर नियंत्रण

रखता है। यह विशिष्ट वर्ग चुनाव जीतकर सरकार पर अपना प्रभाव स्थापित कर लेता है। जब लोकतंत्रीय दलों का संगठन सत्ताधारी विशिष्ट वर्ग को जन्म दे सकता है, तो अधिनायकतंत्र के सत्तारूढ दल से शासक विशिष्ट वर्ग की उत्पत्ति तो स्वाभाविक मानी जा सकती है।

सी राइट मिल्स और रैल्फ मिलीबेंड यह मानते हैं कि आजकल अमरीका और पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी देशों में एकाधिकारी पूंजीपतियों, सैनिक अफसरों और सत्तारूढ राजनीतिज्ञों के विशिष्ट वर्गों को मिलाकर एक नए सत्ताधारी विशिष्ट वर्ग का निर्माण हुआ है जिसका इन देशों की राजनीति, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर एकछत्र नियत्रण कायम हो गया है। निर्वाचन या सरकार में दलों के हेरफेर से इस शक्तिशाली विशिष्ट वर्ग पर कोई असर नहीं पड़ता।

संचार का सिद्धांत : जान डेवी (1859-1962 ई०) इस सिद्धात के प्रतिपादक माने जा सकते हैं। इनका कथन है कि राजनीति का उद्देश्य मनुष्यों की समस्याओं का हल निकालना है। लोग प्रत्येक विचार और धारणा का व्यावहारिक परिणाम जानना चाहते हैं। सच्चा सिद्धांत वह है, जो उन्हें लाभ पहुंचाए। इसलिए राजनीतिज्ञों को चाहिए कि वे अपने लक्ष्यों, आवश्यकताओं, नीतियों और उनके परिणामों के विषय में जनता को पूरी जानकारी दें। नेताओं और नागरिकों में संचार (कम्युनिकेशन) ही उनमें आपसी सद्भाव पैदा कर सकता है। जो राजनीतिक दल नागरिकों की समस्याओं का सही हल निकाल सकेंगे और उस हल की पूरी जानकारी भी मतदाताओं को दे सकेंगे, जनता के विश्वास-पात्र बनकर सत्ता अपने हाथ में रख सकेंगे। यह अमरीकी लोकतंत्र की क्रियावादी राजनीति है।

प्रयोगात्मक जांच-पड़ताल : राजनीति के अध्ययन में हमें वास्तविकता पर विशेष ध्यान देना चाहिए और तथ्यों की जाच-पड़ताल करते समय हमें अपने नैतिक मूल्यों को बीच में नहीं लाना चाहिए। वास्तविकता बहुत जटिल चीज है। उदाहरणार्थ राजनीतिक दल का वर्णन लाखों शब्दों में भी पूरा नहीं हो सकता और यह वर्णन अनेक दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। हमें जटिल समस्या को छोटी छोटी इकाइयों में विभक्त कर उसके कार्यात्मक रूप का विश्लेषण करना चाहिए। हमें विषय के अनुसार सरल और स्पष्ट शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए। अस्पष्ट और दोहरे अर्थ के शब्दों से बचना चाहिए। सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया एक बड़े पैमाने पर मानवीय प्रयोग है। हमें अपने विवरण और वास्तविकता की तुलना करते हुए उसकी सचाई की परख करनी चाहिए। जान डेवी ने राजनीति का उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। अब कुछ व्यवहारवादी लेखक भी इस पद्धति के अनुसार राजनीति का अध्ययन करते हैं। मनुष्य निरंतर प्रयोगों के द्वारा विचारों की सचाई को परखता है। राजनीति भूतकालीन या वर्तमान तथ्यों का विवरण मात्र नहीं है, वह भविष्य में किए जाने वाले प्रयोगों और कार्यों की प्रस्तावित रूपरेखा भी है। राजनीति का विकास प्रयोगात्मक जाच-पड़ताल द्वारा होता है।

राजनीतिक व्यवहार के अवचेतन स्रोत : अब यह सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि मनुष्य के व्यवहार पर उसकी अवचेतन मनोवृत्तियों का भी काफी प्रभाव पड़ता

है। इस सिद्धांत का सबसे पहले प्रतिपादन सिगमंड फ्रायड ने किया था। राजनीतिविज्ञान में इस संकल्पना को स्थापित करने का श्रेय हेरोल्ड लासवेल को जाता है। 'अवचेतन' की अवधारणा ने राजनीतिक मनोविज्ञान के लिए एक नया क्षेत्र तैयार किया है। लोकमत, नेतृत्व, नीतियों के निर्णय, मनोवृत्तियों, विचारधाराओं और संस्थाओं के आचरण की लैसवेल ने मनोविश्लेषण पद्धति के द्वारा व्याख्या की है। राजनीतिविज्ञान और व्यावहारिक राजनीति का शायद ही कोई पहलू इस धारणा से अछूता रहा हो कि 'राजनीतिक मनुष्य' को सही ढंग से समझने के लिए हमें उन गुप्त प्रेरणाओं, भावनाओं और प्रवृत्तियों को भी समझ लेना चाहिए जो उसके प्रकट और वास्तविक आचरण को प्रभावित करती हैं।

लैसवेल के विचारों पर राजनीतिक समाजविज्ञान के यूरोपीय प्रतिपादकों, अमरीकी क्रियावादियों और सिगमंड फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत का समान रूप से प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपने दिमाग में इन तीनों धाराओं का अच्छी तरह समन्वय करके एक अपनी मौलिक राजनीतिक ईजाद कर ली है। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के लिए उनके दो ग्रंथ 'पावर ऐंड सोसायटी' और 'साइको पैथोलाजी ऐंड पालिटिक्स' अत्यधिक मूल्यवान हैं। लैसवेल मुख्य रूप से व्यवहारवादी और अनुभवात्मक लेखक है और उनकी संकल्पनाएं भी तथ्यमूलक हैं। परंतु जब हम उनके विस्तृत लेखन का पर्यवेक्षण कर लेते हैं तो महसूस होता है कि वे एक छिपे हुए नैतिक आलोचक भी हैं। वे नैतिकता के कोई नए प्रतिमान तो प्रस्तुत नहीं करते किंतु वे यह जरूर बताना चाहते हैं कि राजनीति और समाजविज्ञान तर्क और अनुभव के आधार पर मनुष्य के गौरव और कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने में किस तरह मदद दे सकते है।[12]

राजनीति : एक सामाजिक विज्ञान

राजनीति एक प्राचीन कला है, शायद उतनी ही प्राचीन जितना कि स्वयं राज्य है, परंतु सामाजिक विज्ञान के रूप में इसका विकास अपेक्षाकृत अत्यंत आधुनिक है। फिर भी अभी तक विज्ञान के रूप में राजनीति के वास्तविक रूप का सर्वसम्मति से निर्धारण नहीं हो सका है। मार्क्स के अनुसार राजनीति अर्थनीति का निचोड़ मात्र है। इसलिए राजनीतिविज्ञान आर्थिक या भौतिक आधारों पर निर्मित विचारधारात्मक इमारत है। किंतु उदारवादी इस विचार को स्वीकार नहीं करते। वे या तो अर्थनीति की तुलना में राजनीति की प्राथमिकता पर जोर देते है या दोनों विज्ञानों की आपसी निर्भरता की चर्चा करते हैं। फिर भी सेबाइन का मत है कि उन्नीसवीं सदी में आर्थिक निर्धारण का विचार शायद सामाजिक विद्याओं के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी सिद्धांत सिद्ध हुआ।

कहा जा सकता है कि राजनीति के सिद्धांत किसी बाहरी वास्तविकता के विषय में नहीं बनाए जाते। अपितु उसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में उत्पन्न होते है, जिसका एक अभिन्न अंग राजनीति भी है। राजनीतिक व्यवहार के उद्देश्यों पर विचार करना और उनकी प्राप्ति के साधनों का विश्लेषण करना संपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया का ही एक आवश्यक अंग है। विशेष राजनीतिक प्रणालियों के उत्थान और पतन के साथ

साथ राजनीतिक सिद्धात विकसित होते है। ये राजनीतिक सिद्धात भी बाद मे चलकर कुछ सीमा तक राजनीतिक प्रणालियो के विकास और ह्रास का नियंत्रण करते हैं। एक प्रकार से राजनीतिक विचार तत्कालीन दर्शन और विज्ञान के ही अंश है। उनका उद्देश्य उस युग मे विकसित बौद्धिक और आलोचनात्मक उपलब्धियो को राजनीति मे लागू करना है। इसके अतिरिक्त किसी निर्दिष्ट युग मे मनुष्यों द्वारा स्थापित किसी समाज की नैतिक मान्यताओं, वैधानिक नियमो, धार्मिक शिक्षाओ, आर्थिक सस्थाओं और शासन-प्रणालियो पर विचार करना भी राजनीतिविज्ञान के अंतर्गत आता है।

राजनीतिक विश्लेषण का क्षेत्र

राज्य के सिद्धात मे समाज का सिद्धात भी सन्निहित है और इसी में उस समाज के अतर्गत प्रचलित शक्ति के वितरण का अध्ययन भी शामिल है। आज राजनीतिविज्ञान को अपने विश्लेषण का प्रारंभ तीन प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओ—सामंतवादी, पूंजीवादी और समाजवादी—की स्वीकृति से करना चाहिए। ये राजनीतिक प्रणालिया मानवजाति के इतिहास मे मध्यकालीन, आधुनिक तथा अत्यंत आधुनिक प्रवृत्तियों की सूचक हैं।

किसी भी राजनीतिक प्रणाली को समझने के लिए उस समाज की मुख्य आर्थिक और सामाजिक विशेषताओं को जान लेना जरूरी है। तभी हम उस समाज में प्रचलित आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक शक्ति के वितरण को सही ढंग से पहचान सकेंगे। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर ही हम उस राजनीतिक प्रणाली के शासक वर्ग का सामाजिक आधार निर्धारित कर सकेंगे।

तदुपरात हम उस समाज के शासक वर्ग की मान्यताप्राप्त विचारधारा, जो सामंतवाद, पूंजीवाद या समाजवाद मे से कोई भी एक हो सकती है, के संदर्भ में शासन के लक्ष्यों और कार्यों को विवेचना और समीक्षा कर सकते हैं। इसके आधार पर कार्यपालिका, नौकरशाही, सैनिक विशिष्ट वर्ग, विधानसभाओं और अदालतों की भूमिका को समझा जा सकता है और यह निश्चित किया जा सकता है कि वे किस वर्ग के पक्ष में कार्य करती है और किस वर्ग की शक्ति को मजबूत करने मे लगी हुई है।

जिस प्रकार मध्ययुग की राजनीति को समझने के लिए सामंत वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के संघर्ष को समझ लेना जरूरी है, उसी प्रकार आधुनिक युग की राजनीति को समझने के लिए पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा मजदूर वर्ग के संघर्षो का अध्ययन आवश्यक है। उदारवादी व्यवहारवादी लेखक शोषक और शोषित वर्गों के संघर्ष पर समुचित ध्यान नही देते। राबर्ट डाल और सार्तोरी का विचार है कि लोकतांत्रिक राज्य मे विभिन्न हितसमूह और उनमें से निकले हुए विशिष्ट वर्ग एक संतुलन स्थापित कर लेते है और इस प्रकार राज्य सामूहिक हित को ध्यान मे रखकर कार्य करता है। जिस प्रकार सर्कस का कलाकार दो नवयुवतियो को अपने कंधों पर बैठाकर एक पहिए की साइकिल चलाते हुए अपना संतुलन कायम रखता है या जिस प्रकार हवाई द्वीप के नवयुवक अपनी प्रेयसियों को कंधे पर बैठाकर पतले तख्ते पर खड़े होकर समुद्र की लहरों मे जलक्रीड़ा

करते हुए अपना संतुलन रखते है, उसी प्रकार लोकतंत्र के कुशल राजनीतिज्ञ विभिन्न हितसमूहों के दबाव के बावजूद सरकार की नीति मे संतुलन स्थापित कर लेते है।

इसके विपरीत मार्क्सवादी लेखक सतुलन के उदारवादी सिद्धात को अस्वीकार करते हैं। रॅल्फ मिलीबैंड और अल्यूजर का विचार है कि पूजीवादी लोकतत्रों मे आज भी आर्थिक, राजनीतिक और विचारात्मक शक्ति पूजीपति वर्ग के हाथ मे है। राजनीतिक दल, संचार के साधन और शिक्षासंस्थान लोकतत्र मे पूजीपतियों के वर्गशासन को औचित्य, वैधता और नैतिक बल प्रदान करते हैं। अधिकाश अल्पविकसित देशो में भी जमीदार और पूजीपति वर्ग गरीब किसानों, खेतिहर मजदूरों और कारखानों के मजदूरों की पीठ पर सवार होकर उनका शोषण कर रहे है। केवल समाजवादी देशों मे जनता पूजी के जुए को अपने कंधे से उतारने में सफल हो सकी है।

अंत मे, राजनीतिविज्ञान का उद्देश्य वर्तमान राजनीतिक प्रणालियों के विकास की दिशा की ओर संकेत करना भी है। आज कुछ राजनीतिक प्रणालिया समुन्नत पूजीवादी हैं, कुछ सुनियोजित समाजवादी है तो कुछ ने अभी औद्योगिक युग मे प्रवेश भी नही किया है। हमारा इन सभी प्रणालियों से सरोकार है। राजनीतिविज्ञान मे आंग्ल-सेक्सन या यूरोपीय दृष्टिकोणों की संकीर्णता और पक्षपात को अब त्याग देना जरूरी है और विश्व के स्तर पर होने वाले राजनीतिक परिवर्तनो को ध्यान मे रखते हुए हमें राजनीतिविज्ञान के दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाना चाहिए। हमे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अविकसित देशो की राजनीति एवं तेजी से आर्थिक विकास में लगे हुए समाजवादी राष्ट्रों की राजनीति के आधार पर ही नए राजनीतिविज्ञान की परिधि निश्चित करनी चाहिए।

राजनीति और राजनीतिक जीवन

यदि हम मानवसभ्यता के इतिहास को पढ़ें तो यह भलीभाति विदित हो जाएगा कि मानवजीवन मे, उसके विचारों और मान्यताओं मे, उसके रहन-सहन मे एवं उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सगठन मे क्रांतिकारी परिवर्तन होते रहे हैं। प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएं रही है। लिखित इतिहास के आरभ से पूर्व मनुष्य मे किसी प्रकार का राजनीतिक संगठन नही था। इस प्रागैतिहासिक काल के मानवजीवन से राजनीति का विशेष संबंध नही है। राजनीति का जीवन उस मानवजीवन से है, जो समूहों, संघों, समुदायो और राज्यो मे संगठित हो चुका है या जिसे संक्षेप मे सामाजिक और राजनीतिक जीवन कहते हैं।

राजनीतिक जीवन के विकास को मार्क्स तथा एंगेल्स ने दासता के युग, सामंतशाही के युग, पूजीवादी युग और समाजवादी युग मे विभाजित किया है। राजनीतिक जीवन और राजनीति का स्वरूप भी इन भिन्न भिन्न युगों मे बदलता रहा है। दासता के युग मे नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का उपभोग केवल मालिक वर्ग कर सकता था। गुलामो तथा स्त्रियों को दासता के युग मे कोई अधिकार प्राप्त नही थे। गुलामों को पशुओं की तरह खरीदा और बेचा जाता था। उन्हें मालिक की निजी संपत्ति समझा

जाता था। सामंतवादी युग में इन गुलामों का क्रय-विक्रय तो बंद हो गया परंतु जागीरदारों और जमींदारों ने कृषकों को अपना अर्धदास (सर्फ) बनाकर उनका शोषण किया। कृषकदासों को भी कोई राजनीतिक अधिकार नहीं थे।

औद्योगिक क्रांति के बाद एक नई सामाजिक व्यवस्था का जन्म हुआ जिसे पूंजीवादी व्यवस्था कहते हैं। 1789 में फ्रांस की क्रांति ने राजनीतिक जीवन और राजनीति के नए आदर्शों को जन्म दिया। स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के नारों से धीरे धीरे संसार गूंज उठा। जनतंत्र के विकास के साथ साथ राजनीति और राजनीतिक जीवन की परिधि का भी विस्तार हुआ। सोवियत रूस और जनवादी चीन की क्रांतियों ने संसार को एक नई और प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था प्रदान की जिसका आधार समाजवाद है। समाजवादी व्यवस्था के द्वारा नागरिक जीवन को विकसित, सुखी, समुन्नत और समृद्ध बनाने के लिए जनता को नए मौके मिले हैं। इसका कारण यह है कि समाजवाद ने शोषक वर्ग द्वारा शोषित वर्गों के शोषण को खत्म कर दिया है और समानता, बंधुत्व और आजादी के सिद्धांतों को कार्यान्वित करके दिखा दिया है।

इसलिए राजनीति में हमें राजनीतिक जीवन के क्रमिक विकास का अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। सभी सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का आधार इतिहास है। राजनीतिविज्ञान का अध्ययन भी उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बिना नहीं हो सकता। मानवजीवन के किसी भी वर्तमान पहलू को हम क्यों न लें, उसमें अतीत की छाया अवश्य मिलेगी। अतीत के बिना हम वर्तमान की व्याख्या नहीं कर सकते। इतिहास के अध्ययन से एक और बात का हमें पता चलता है। हम देखते हैं कि प्रत्येक युग में होने वाले सामाजिक, वैधानिक, राजनीतिक, बौद्धिक, नैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के मूलभूत कारण उस देश और काल की अर्थव्यवस्था में सन्निहित हैं। समाज तत्कालीन और तद्देशीय अर्थव्यवस्था का दर्पण है। इसलिए राजनीति में राजनीतिक जीवन का अध्ययन करते समय उसकी आर्थिक नींव को नहीं भूलना चाहिए।

राजनीति मनुष्य के राजनीतिक जीवन से संबंध रखने वाली प्रत्येक भूतकालिक, वर्तमान और भविष्यकालीन और स्थानीय, राष्ट्रीय और मानवजातीय क्रिया और गतिविधि का अध्ययन करती है। राजनीति को विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। किसी भी विषय के क्रमबद्ध और विवेकसम्मत ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है। विज्ञानों को विषय-भेद के आधार पर दो श्रेणियों में बांट दिया गया है। जिन विज्ञानों में प्रकृति का अध्ययन होता है, उन्हें प्राकृतिक विज्ञान कहते हैं। रसायन या भौतिकी प्राकृतिक विज्ञान कहलाते हैं। जिन विज्ञानों का प्रतिपाद्य विषय मनुष्य एवं समाज है, उन्हें सामाजिक विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। राजनीति भी विज्ञान है क्योंकि हम इसमें राजनीतिक जीवन और प्रक्रिया का विवेकपूर्ण और व्यापक विश्लेषण करते हैं। राजनीति की गणना सामाजिक विज्ञानों में होती है क्योंकि उसका प्रतिपाद्य विषय मनुष्य और समाज है।

यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक जीवन का सामान्य ज्ञान आजकल के युग में लगभग प्रत्येक नागरिक को होता है, चाहे उसने राजनीति का विशिष्ट अध्ययन किया हो या न किया हो। परंतु ऐसे सामान्य ज्ञान की तुलना हम राजनीति के विशेष ज्ञान से

नहीं कर सकते। जिस प्रकार बाग के माली और वनस्पतिशास्त्री के पेड़-पौधे संबंधी ज्ञान मे मौलिक अंतर है, उसी प्रकार का अंतर हमें राजनीति के विशेष ज्ञान और राजनीतिक जीवन के साधारण ज्ञान में समझना चाहिए।

राजनीति को जब विज्ञान की संज्ञा दी जाती है, तो उसका अभिप्राय यही होता है कि हम राजनीतिक जीवन और प्रक्रिया के अध्ययन में विज्ञान की विवेकपूर्ण पद्धति को लागू करें। भावना और कल्पना का सहारा छोड़कर हम तथ्यों को अपनी शोध का आधार बनाएं, तभी राजनीतिक जीवन और प्रक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन संभव है। यदि हमें ऐसे तथ्यों का पता चले जो हमारे पुराने विश्वासों और मान्यताओं का खंडन करें, तो हमें उन गलत विचारों को छोड़ देना चाहिए। आज हम डार्विन के जैविक विकासवाद, मार्क्स के श्रेणीसमाजविज्ञान और फ्रायड के मनोविश्लेषण के महत्व को स्वीकार इसीलिए करते हैं क्योंकि ये निष्कर्ष तथ्यों की खोज पर आधारित हैं। कौन नहीं जानता कि इन सिद्धांतों के अपनाने से हमारी पुरानी मान्यताओं की कितनी बड़ी विरासत लुप्त हो गई।

लिप्सेट के अनुसार राजनीति का प्रतिपाद्य विषय राजनीतिक मनुष्य है।[13] राजनीतिक मनुष्य राजनीतिक प्रक्रियाओं मे भाग लेने वाला राजनीतिक प्राणी है। दासता के युग मे प्राचीन यूनान के नगरराज्य मे या रोमन साम्राज्य मे सिर्फ मालिक वर्ग के सदस्यों को 'राजनीतिक मनुष्य' (पालिटिकल मैन) माना जा सकता है। स्त्रियों और गुलामों को राजनीतिक मनुष्य नहीं माना जाता था। हां, जब स्पार्टकस के नेतृत्व में गुलामो ने विद्रोह किया तो यह उनका राजनीतिक कार्य था। यदि यह सफल हो जाता तो दास भी राजनीतिक मनुष्य बन जाते परंतु मालिक वर्ग ने गुलामो के सभी विप्लवों को बड़ी क्रूरता से दबा दिया। इसी प्रकार सामंतशाही के युग में भी स्त्रियों और कृषकदासों को राजनीतिक मनुष्य बनने का मौका न मिला। किसानक्रांतियों के जरिए कृषकदासों ने सामंतशाही के उत्पीडन को खत्म करने की कोशिशें की किंतु इन्हें सामंत वर्ग ने बलपूर्वक दबा दिया।

पूंजीवादी क्रांतियों के परिणामस्वरूप प्रतिनिधि शासन की स्थापना हुई। निजी संपत्ति के स्वामियों को राजनीतिक प्रक्रिया मे भाग लेने का मौका मिला। बुर्जुआ वर्ग को इस नए मध्यवर्गीय लोकतंत्र में 'राजनीतिक मनुष्यता' प्राप्त हो गई। मजदूर वर्ग और स्त्रियों को शासन में भाग लेने का अधिकार न मिला और वे राजनीतिक मनुष्य नहीं बन सके। मजदूरों को राजनीतिक अधिकारों के लिए एक लंबी अवधि तक संघर्ष करना पड़ा। स्त्रियों को भी समान अधिकारों के लिए निरंतर आंदोलन करना पड़ा। इंग्लैंड के बुर्जुआ वर्ग ने अपने कारखाने मे काम करने वाले मजदूरों को मताधिकार तो दे दिया किंतु फिर भी अपनी पत्नियों को वह मताधिकार के लिए अयोग्य समझता रहा। लिप्सेट के अनुसार आज पश्चिमी लोकतंत्रों में सभी नागरिक—स्त्री या पुरुष, मजदूर या पूंजीपति—पूरी तौर से राजनीतिक मनुष्य बन गए है। वे अनेक हितसमूहों, समुदायों और राजनीतिक दलों के माध्यम से राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

राजनीति : सामाजिक प्रक्रिया और कला के रूप में

राजनीति विज्ञान तो है ही, साथ ही साथ वह प्रक्रिया और कला भी है। विज्ञान सत्य की खोज करता है, तो कला सौंदर्य का बोध कराती है। सामाजिक प्रक्रिया का उद्देश्य राजनीतिक जीवन मे संगठित समूहो और वर्गों द्वारा अपना कल्याण प्राप्त करना है। किसी प्रक्रिया के व्यावहारिक ज्ञान को कला कहते है। कला की मानवजीवन के लिए विशेष उपादेयता होती है। किसी विषय का सैद्धांतिक ज्ञान मनुष्य के लिए तब तक उपयोगी सिद्ध नही होता जब तक वह उस ज्ञान से व्यावहारिक जीवन में लाभ न उठा सके। मनुष्य की सागोपाग उन्नति के लिए जितनी आवश्यकता विविध विषयों के वैज्ञानिक अध्ययन की है, उससे किसी प्रकार कम आवश्यकता ललित कलाग्रों की नही मानी जा सकती। यदि विज्ञान मस्तिष्क की वस्तु है, तो कला का पक्ष हृदय है। अतएव राजनीति का कलापक्ष उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि उसका विज्ञानपक्ष।

यदि राजनीति का विज्ञानपक्ष हमे राजनीतिक जीवन और प्रणाली का सैद्धांतिक अनुशीलन कराता है तो उसका कलापक्ष राजनीतिक जीवन के आदर्शों का व्यावहारिक उपयोग सिखाता है। राजनीतिविज्ञान मे हम राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीतिक संस्थाओ और सगठन, वर्गों और समुदायो के राजनीतिक कार्यों या नागरिकों के ग्रधिकारों और कर्तव्यो की नियमित और विवेकपूर्ण व्याख्या करते है। परंतु राजनीति के कलापक्ष का कार्य यही पूरा नही होता। कला के रूप में राजनीति हमें सुदर ग्रौर सुशील जीवन जीने के लिए प्रेरित करती है। गाधी और लेनिन राजनीति के क्षेत्र मे वैज्ञानिक कम और कलाकार ज्यादा थे। कला के रूप मे राजनीति बतलाती है कि हम दैनिक जीवन में अधिकारों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन किस प्रकार करे। स्वतंत्रता एक सिद्धात ही नही, वह स्वस्थ नागरिक जीवन की कला भी है।

जैसे कोई युवक सिर्फ पुस्तक मे वायुयान के बारे मे सारे नियम पढ़कर वायुयान-चालक नही बन सकता या जैसे कोई युवती घोड़ो के विषय मे सैद्धातिक जानकारी करके बिना अभ्यास किए सफलतापूर्वक घुड़सवारी नही कर सकती, उसी प्रकार राजनीति की कला को सीखे बिना कोई सफल राजनीतिज्ञ नही बन सकता। यदि हम मंत्री या संसद सदस्य हैं, तो हम अपने पद का उपयोग किस प्रकार करें? राज्य द्वारा लगाए हुए कर न्यायोचित हैं या नही? किन परिस्थितियों मे सरकार का विरोध करना उचित है? अपने नगर, जिले, प्रदेश, देश या मानवजाति की उन्नति मे हम क्या भूमिका निभा सकते है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर हमे राजनीति के कलापक्ष से प्राप्त होता है। राजनीति ही हमे उत्तम तथा उत्तरदायी नागरिक बनने की कला सिखाती है। राजनीति ही हमें शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित करती है। राजनीति के द्वारा सामाजिक परंपराएं और व्यवस्थाएं बदल जाती हैं। राजनीति आज के परिवर्तनशील युग मे जनक्राति का साधन है।

हमे यह न समझना चाहिए कि राजनीति के वैज्ञानिक और कलात्मक पक्षो को अलग किया जा सकता है। वास्तव में देखा जाए तो प्रत्येक प्रश्न का सैद्धातिक और

व्यावहारिक पक्ष एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। जातिप्रथा का उदाहरण लीजिए। सैद्धांतिक विश्लेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि आधुनिक भारत के लिए जातिप्रथा अभिशाप है और आर्थिक शोषण का छद्म रूप है। इस सैद्धांतिक विश्लेषण का कोई मूल्य नहीं जब तक राजनीतिज्ञ व्यवहार में जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए आर्थिक व्यवस्था मे मूलभूत परिवर्तन करने के लिए तैयार न हों। सिद्धात रूप मे रिश्वत और कुनबापरस्ती की निंदा की जाती है, व्यवहार मे ये दोनो बुराइया सभी अल्पविकसित देशों के सरकारी पदाधिकारियों में पाई जाती हैं। सिद्धाततः यह स्वीकार किया जाता है कि उदारवादी जनतंत्र में नागरिक स्वतंत्रताओं का होना बहुत जरूरी है किंतु व्यवहार में देखा गया है कि तथाकथित प्रजातांत्रिक राज्यो मे भी सरकार इन पर व्यापक प्रतिबंध लगाया करती है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए राजनीतिक प्रक्रिया के कलापक्ष को सवारने की बड़ी जरूरत है।

राजनीति का विस्तार

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि राजनीति का क्षेत्र आज उतना ही व्यापक है जितना मानव का सामाजिक जीवन। मनुष्य के सामाजिक जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं जो राजनीति की परिधि के बाहर हो। नागरिकों के धार्मिक, बौद्धिक और सास्कृति सगठन भी आज राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करते है। इसलिए उनके राजनीतिक प्रभाव का अध्ययन करना राजनीति के विद्यार्थी के लिए आवश्यक हो जाता है। आमड और पावेल का कथन है कि राज्य अनेक प्रकार के संगठनों और संरचनाओं (स्ट्रकचर्स) को मिलाकर बनता है चर्च एक धार्मिक संगठन है किंतु जब उसके पदाधिकारी इटली में नागरिकों से यह अपील करते है कि चुनाव मे कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों को वोट न दो या उनसे लोकमतसंग्रह के समय आग्रह करते हैं कि तलाक कानून को अस्वीकार कर दो, ये दोनों कार्य चर्च के राजनीतिक कार्य माने जाएंगे और इसका अध्ययन राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत ही माना जाएगा।[14]

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि राजनीतिविज्ञान न केवल वर्तमान सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है, वह उन प्रक्रियाओं के ऐतिहासिक स्रोतों और भविष्य मे होने वाले विकास की ओर भी समान रूप से ध्यान देता है। इसके अलावा राजनीतिविज्ञान सामाजिक प्रक्रियाओं के क्षेत्रीय, एकदेशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय रूपो की समान रूप से विवेचना और चर्चा करता है। मनुष्य राजनीतिक प्राणी के रूप में क्या करता है? व्यक्ति की समाज में क्या भूमिका हो सकती है? मनुष्य संघों के सदस्य के रूप में किन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उत्सुक है? कुटुंब, जाति, विविध समुदाय और आर्थिक श्रेणियां मनुष्यों की किन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं? समाज मे धन और वस्तुओ का उत्पादन किस प्रकार होता है? उत्पादन के तरीके समाज मे वर्गव्यवस्था को किस तरह निर्धारित करते है? वर्ग राजनीति में किस प्रकार सक्रिय हो जाते हैं? मनुष्य ने कला और विज्ञान के क्षेत्रों में जो उन्नति की है, उससे किस वर्ग को कितना लाभ पहुंचा है? आर्थिक वर्ग और राजनीतिक दल में क्या संबंध है? शक्तिशाली आर्थिक

सरकार को किस तरह अपने नियंत्रण में कर लेता है ? पूंजीवादी व्यवस्था किस प्रकार कार्य करती है ? जनतंत्र और अधिनायकतंत्र की कार्यशैलियों में क्या अंतर है ? साम्यवादी दल सत्ता का प्रयोग किस वर्ग के हित में करता है ? विचारधाराओं की सक्रिय और व्यावहारिक राजनीति में क्या भूमिका है ? इन सभी प्रश्नों का समाधान राजनीतिविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है।

अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में राजनीति का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। अर्थशास्त्र का संबंध मनुष्य के आर्थिक जीवन से है; समाजशास्त्र उसके सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है; नीतिशास्त्र उसे नैतिकता के मूल्यों से अवगत कराता है; धर्मशास्त्र का संबंध उसके धार्मिक विश्वासों से है; विधानशास्त्र कानूनों का ज्ञान कराता है; परंतु राजनीतिविज्ञान ही एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है, जो मानवजीवन के इन भिन्न भिन्न पक्षों का एक साथ अध्ययन करता है। व्यापकता की दृष्टि से समाजशास्त्र ही राजनीतिविज्ञान की बराबरी कर सकता है। देश में बेकारी की समस्या, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, नागरिकों के अधिकार, व्यवस्थापिका सभाओं का संगठन, हिंदू विवाह कानून, संपत्ति का उत्तराधिकार, शिक्षा प्रणाली के गुण-दोष इत्यादि विविध प्रकार के विषय राजनीति के क्षेत्र के अंतर्गत आ जाते हैं। नगरपालिकाओं से आरंभ कर हम न केवल प्रांतीय और राष्ट्रीय शासनपद्धतियों का विश्लेषण राजनीति में अपेक्षित समझते हैं बल्कि संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में और राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के बारे में चर्चा और विवेचना करना भी राजनीतिविज्ञान के लिए आवश्यक है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जहां भी आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक शक्ति का उपयोग व्यक्ति, वर्ग या समुदाय के द्वारा अपने हितों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है, वहीं राजनीति उत्पन्न हो जाती है। एक राजनीतिक लेखक के अनुसार जब दो शिशु एक ही खिलौने के लिए झगड़ते हैं, तो यह भी एक राजनीतिक स्थिति ही है। जब ताकतवर बच्चा खिलौने को कमजोर बच्चे से छीन लेता है तो यह राजनीतिक बल प्रयोग है। जब मां आकर कमजोर बच्चे को दूसरा खिलौना देकर चुप करती है तो यह राजनीतिक मध्यस्थता है।[15] राज्य दो हितसमूहों के विवादों की मध्यस्थता इसी प्रकार करता है।

एक दूसरा उदाहरण इस प्रकार है। एक लड़का जबरदस्ती अपने साथ खेलने वाली लड़की को घोड़ी बनाकर उसकी पीठ पर सवारी करता है और लड़की की चोटियों को लगाम बनाकर खींचता है। यह बलप्रयोग की राजनीति है। दूसरी बार लड़की उस लड़के को आइसक्रीम खिलाकर फुसला लेती है और उसे घोड़ा बनाकर उसकी पीठ पर सवारी का मजा लेती है। यह आर्थिक शक्ति की राजनीति है। तीसरी बार वह लड़की लड़के से कहती है : आओ, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का खेल खेलें। वह धनुष-बाण हाथ में लेकर फिर लड़के को अपना घोड़ा बना लेती है और झांसी की रानी बनकर मजे में उसकी पीठ पर सवारी करती है। यह विचारधारा की राजनीति है।

पूंजीपति वर्ग पहले मजदूरों को मताधिकार नहीं देता और बलपूर्वक सरकार पर अपना कब्जा रखता है। यह राजनीतिक शक्ति पर सीधा नियंत्रण है और बलप्रयोग

की राजनीति है। मजदूर आंदोलन के प्रभाव के कारण वह उन्हे मताधिकार तो दे देता है परंतु राजनीतिक दलो को धन देकर उन्हें अपना गुलाम बना लेता है और वे पूंजीपतियो के प्रतिनिधि के रूप में उनकी इच्छानुसार शासन चलाते है। यह आर्थिक शक्ति की राजनीति है। जब वे संचार के साधनों पर नियंत्रण के द्वारा और शिक्षणसंस्थाओं के संचालन के जरिए पूंजीवादी विचारधारा को मजदूरों के गले में उतार देते है और मजदूर समझने लगते है कि समाजवाद या साम्यवाद मजदूरों का दुश्मन है तो इसे विचारधारा की राजनीति कहा जाता है।

इस प्रकार राजनीति का क्षेत्र उतना ही व्यापक है, जितना शक्ति, सत्ता और प्रभाव का क्षेत्र। अल्फ्रेड डी ग्राजिया का कथन है : 'राजनीति को सभी विज्ञानों की रानी कहा गया है। यह नाम उसके ऊंचे उद्देश्यों और लक्ष्यों की दृष्टि से शायद उपयुक्त ही है। लेकिन उसकी प्रजा विप्लवी है और उसकी रियासत की सीमाएं अनिर्दिष्ट है।[16]

राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित विभागों में बाट दिया जाता है : 1. शासन; 2. लोकविधि; 3. राजनीतिक दल; 4. अंतर्राष्ट्रीय संबंध; 5. राजनीतिक दर्शन; 6. लोक प्रशासन; तथा 7. तुलनात्मक राजनीति। इसके अतिरिक्त राजनीतिविज्ञान पर अन्य सामाजिक विज्ञानों के प्रभाव से नए विषयों का अध्ययन भी शुरू किया गया है। इन्हें राजनीतिक सामाजिक विज्ञान, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक भूगोल और राजनीतिक इतिहास के नाम से पुकारा जाता है। राजनीतिक अर्थनीति (पालिटिकल इकानामी) तो उन्नीसवी सदी से अध्ययन का स्वीकृत विषय थी। अब दोबारा उसके अध्ययन मे दिलचस्पी बढ़ रही है।

अर्थशास्त्र की तरह राजनीति को भी कुछ लेखक अब नीतिविज्ञानों (पालिसी साइंसिज) की श्रेणी मे रखने लगे हैं। इस प्रकार 'राजनीतिक नीति' के नाम से राजनीति के अंतर्गत एक नए विषयक्षेत्र की शुरुआत हुई है। लैसवेल ने राजनीति को नीतिविज्ञान के रूप में विकसित करने मे विशेष योगदान दिया है।[17] पिछले कुछ वर्षों से राजनीतिविज्ञान के स्वरूप और उसके अध्ययन की पद्धतियों के विषय मे काफी वाद-विवाद चल रहा है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी। राजनीतिविज्ञान का औपचारिक और वैधानिक रूप बदल रहा है और उसे यथार्थवादी, व्यावहारिक और आलोचनात्मक रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

संदर्भ

1. रैल्फ मिलीबैंड : 'दि स्टेट इन केपिटलिस्ट सोसायटी', पृ० 1.
2 मैक्स वेबर : 'दि थ्योरी आफ सोशल ऐंड इकानामिक आर्गनाइजेशस', पृ० 154.
3 हेरोल्ड डी लासवेल और अब्राहम कापलान : 'पावर ऐंड सोसायटी', पृ० 240
4. राबर्ट डाल : 'माडर्न पोलिटिकल ऐनेलिसिस', पृ० 5-6.
5. वही, पृ० 6-7.

2

राजनीति की पद्धतियां और दृष्टिकोण

राजनीति का समाजशास्त्रीय आधार

राजनीति सामाजिक प्रक्रिया का एक आयाम है। सामाजिक प्रक्रिया एक जटिल वस्तु है जिसका हम वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करते हुए अनेक दृष्टिकोणों को अपना सकते है—वैधानिक, समाजशास्त्रीय, आर्थिक या राजनीतिक। हमे किसी एक दृष्टिकोण से प्राप्त सामाजिक वास्तविकता के रूप को ही पूर्ण सचाई नही समझ लेना चाहिए और न उसे अलग कमरे में बंद रखने का प्रयास करना चाहिए। हमें सामाजिक वास्तविकता के किसी एक अंग को जैसे राजनीतिक अंग को, स्वयं मे पूर्ण नहीं समझ लेना चाहिए। राजनीतिक विकास को पूरी तौर से स्वतंत्र प्रक्रिया समझकर उसका अध्ययन करना अनुचित है।

फिर भी कुछ राजनीतिक विचारक राजनीतिविज्ञान के अध्ययन में राजनीति की प्रक्रिया को आत्मनिर्भर और स्वतंत्र विषय के रूप में देखते हुए उसे सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों से काट देते हैं। वे वैधानिक और उद्देश्यवादी पद्धतियों पर निर्भर रहते हैं। वे इन पद्धतियों की मदद से राज्य की संस्थाओं की कार्यशैली के संबंध मे विवरण देते हैं। वे संविधान की धाराओं और नियमों का औपचारिक विश्लेपण करते है और भविष्य मे प्राप्य आदर्शों की रूपरेखा पर नैतिक दृष्टि से टिप्पणी देते है।

राजनीति के अध्ययन की सही पद्धति राजनीतिक तथ्यों को दूसरे सामाजिक तथ्यो के संदर्भ में देखना है। राजनीति एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो राज्य, कानून प्रशासन, क्रांति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति इत्यादि का अध्ययन सामान्य सामाजिक विकास के संदर्भ में करता है। यहा सामाजिक विकास की परिभाषा लास्की के सुझाव के अनुसार उन श्रेणीसंबंधों पर आधारित है जिन्हे किसी निर्दिष्ट समाज मे उत्पादन के तरीकों के द्वारा निर्धारित किया जाता है।

जब हम राजनीति के 'समाजशास्त्रीय' विश्लेपण की जरूरत पर जोर देते हैं, तो हम पैरेटो, दुर्खाहम और स्टैमलर जैसे समाजशास्त्रियो की गलत समाजशास्त्रीयता की ओर इशारा नहीं कर रहे हैं। पैरेटो, दुर्खाहम और स्टैमलर सामाजिक-आर्थिक आधार

के सवाल को भूलकर राजनीति के विश्लेषण मे किसी मनोवैज्ञानिक या नैतिक उद्देश्य को बुनियादी या केंद्रीय सिद्धात मान लेते है।[1] राजनीतिक समाजशास्त्री, जो सामाजिक प्रणाली के भौतिक आधार को अस्वीकार कर देते है, एक समाजवादी प्रणाली को केवल वर्गतन्त्रात्मक और एक पूजीवादी प्रणाली को पूरी तौर से लोकतंत्रीय मान लेते है क्योंकि वे राजनीतिक प्रणाली का केवल एकपक्षीय और सतही विश्लेषण करते है।

यद्यपि राजनीति के आर्थिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषण का महत्व स्पष्ट है, फिर भी राजनीतिक सस्थाएं विचारधारा का मूर्तरूप होने के कारण, कुछ परिस्थितियो मे कुछ सीमा तक अपना स्वतंत्र विकास भी कर सकती है। राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र मे व्यवहारवादी लेखको ने राजनीतिक व्यवहार और राजनीतिक प्रणालियों के अंतर्गत राजनीतिक प्रक्रियाओं के अनुभवात्मक विश्लेषण पर विशेष बल दिया है।

निरीक्षणात्मक पद्धति : राजनीति के अध्ययन मे यह पद्धति अत्यंत महत्वपूर्ण है। सभी सामाजिक विज्ञानो मे इस पद्धति का ही प्रधान रूप से उपयोग किया जाता है। राजनीतिक जीवन और प्रक्रिया का ज्ञान हम तथ्यों के निरीक्षण द्वारा ही प्राप्त करते हैं। नगरपालिकाएं किस प्रकार कार्य करती है ? व्यवस्थापिका सभाएं किस प्रकार के कानून बनाती है ? न्यायपालिकाएं किस तरह के निर्णय देती हैं ? संयुक्त राष्ट्र संघ शांति की रक्षा के लिए क्या कर रहा है ? शिक्षा प्रणाली का क्या रूप है ? सहकारी खेती के क्या लाभ और हानिया हैं ? दक्षिण अफ्रीका मे रंगभेद की नीति के क्या कारण हैं ? इस तरह के अनेक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें निरीक्षण द्वारा तथ्यों के संकलन की जरूरत पड़ती है।

निरीक्षणात्मक पद्धति के उपयोग में हमे बडी सावधानी रखने की आवश्यकता है। प्रायः ऐसा होता है कि सर्वेक्षण करते समय निरीक्षक निष्पक्षता से कार्य नही करता। वह ऐसे तथ्यो की ओर ध्यान नही देता जो उसके दृष्टिकोण या विचारधारा से विपरीत होते हैं। उदाहरणार्थ जब समाजवादी या अल्पविकसित एशियाई-अफ्रीकी देशों की राजनीतिक प्रणाली का अध्ययन पूजीवादी देशो के लेखक करते है तो वे तथ्यों का सही ढंग से सर्वेक्षण नही करते और फलतः उनकी राजनीतिक प्रक्रियाओं का न्यायोचित ढंग से मूल्यांकन नही कर पाते। इसी प्रकार जब भारत पहले इंग्लैंड की औपनिवेशिक अधीनता मे था तो ब्रिटिश सरकार के भेजे हुए शिष्टमंडल हमारे देश की राजनीतिक परिस्थितियों का अवलोकन निष्पक्ष रूप मे करने में असमर्थ रहते थे। अतएव निरीक्षणात्मक पद्धति के उपयोग में निष्पक्षता की बड़ी आवश्यकता है।

ऐतिहासिक पद्धति : प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के अध्ययन मे ऐतिहासिक पद्धति का उपयोग आवश्यक है। टॉयनबी इस पद्धति पर विशेष जोर देते हैं किंतु डेविड ईस्टन इस पद्धति को भ्रांतिमूलक मानते हैं। कार्ल पापर भी इस पद्धति की निंदा करते हुए इसे 'इतिहासवाद' के नाम से पुकारते हैं।

कार्ल मार्क्स ने राजनीति को भी अन्य सामाजिक विज्ञानो की तरह ऐतिहासिक विज्ञान माना था। आधुनिक युग के सामाजिक संगठन को मध्ययुग और प्राचीन काल के सामाजिक संगठनों की तुलना मे ही स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है। यही बात

राजराजनीतिक संस्थाओं और आर्थिक व्यवस्था के संबंध में भी लागू होती है। इतिहास यह बताता है कि मानवजीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे समयानुसार परिवर्तन होते रहे हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार वैधानिक, राजनीतिक और सास्कृतिक परिवर्तनों का कारण उत्पादन की परिस्थितियों और वितरण के सिद्धातों मे परिवर्तन होना है। राजनीतिक जीवन पर भी अर्थव्यवस्था संबंधी परिवर्तनों का निरंतर प्रभाव पडता रहा है। कार्ल मार्क्स की इतिहास संबधी भौतिक व्याख्या के परिणामस्वरूप सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति का महत्व बहुत अधिक बढ गया है। राजनीति उपर्युक्त नियम का अपवाद नही है। प्राचीन यूनान के नगरराज्यों का उत्थान और पतन, मध्ययुग की सामंतशाही का उदय और अंत, पश्चिमी यूरोप की औद्योगिक क्राति और साम्राज्यवाद, एशिया-अफ्रीका का राष्ट्रीय पुनर्जागरण, फ्रास, रूस और चीन की क्रांतियां, विज्ञान के नए आविष्कार इत्यादि केवल इतिहास की असंबद्ध घटनाए नही है, बल्कि इनका सैद्धांतिक और व्यावहारिक राजनीति से गहरा संबंध है। इन घटनाओं का विभिन्न देशों के राजनीतिक जीवन और प्रक्रियाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा है।

ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग मे भी बड़ी सावधानी और निष्पक्षता की आवश्यकता है। हमे अपना अध्ययन तथ्यमूलक रखना चाहिए और इतिहास के सर्वमान्य और सिद्ध तथ्यों के आधार पर ही अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करने चाहिए। ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण मे हमे अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के पक्षपातपूर्ण और अवाछनीय प्रभाव से बचने का प्रयास करना चाहिए। कार्ल पापर के अनुसार ऐतिहासिक पद्धति का मुख्य दोष सामाजिक विकास तथा प्रक्रिया पर किसी लक्ष्य या आदर्श का आरोपण है।

तुलनात्मक पद्धति : यह पद्धति निरीक्षणात्मक और ऐतिहासिक पद्धतियो के आधार पर ही बनी है। इसके अनुसार विभिन्न देशों और कालों के राजनीतिक जीवन, प्रक्रियाओं और प्रणालियों की तुलना से निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यदि हमे लोकतंत्रीय प्रणाली, प्रक्रियाओ और जीवन के गुण-दोषो को मालूम करना है तो हमें प्राचीन यूनान के प्रजातांत्रिक नगरराज्यों, मध्यकालीन यूरोप के नगरगणतंत्रों और आधुनिक युग के यूरोपीय और गैर-यूरोपीय लोकतंत्रीय राज्यों की राजनीतिक प्रणालियों, प्रक्रियाओं और जीवन का तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक सर्वेक्षण करना चाहिए। तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू ने तत्कालीन यूनानी और गैर-यूनानी शासनप्रणालियों के अध्ययन में किया था। मैकियावेली, मान्तेस्क्यू और ब्राइस ने इसे विकसित किया। निर्माणपरक कार्यवादी लेखक आमंड, पावेल, डेविड आप्टर, लूसियन पाई इत्यादि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका की राजनीतिक प्रणालियों के विश्लेषण मे नए सिद्धातों और प्रतिमानों के आधार पर तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग कर रहे हैं।

इस पद्धति का एक दोष यह है कि तुलना करते समय कुछ लेखक भूल जाते हैं कि राजनीतिक परिस्थितियां और प्रक्रियाएं लगभग एक जैसी होने पर भी उनमे देश और काल के परिवेश के अनुसार वास्तव मे बहुत बड़ा मौलिक अंतर हो सकता है। अतएव तुलनात्मक पद्धति का उपयोग करते समय समानताओं और विषमताओ का संतुलन सही रखने की बड़ी जरूरत है, अन्यथा सतही समानताओ या भेदो के आधार पर लेखक जो

निष्कर्ष निकालेगा, वे भ्रांतिमूलक हो सकते हैं। ऐसे निष्कर्षों का कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं होगा।

कल्पित रूपकों और उपमाओं के आधार पर हमें निष्कर्ष निकालने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। यदि हम विभिन्न देशों के राजनीतिक दलों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह मालूम होगा कि उनके नामों, संगठनों, कार्यशैलियों, और कार्यक्रमों में बाहरी समानता होने के साथ उनकी भूमिकाओं में तद्देशीय संस्कृति और अर्थव्यवस्था के परिवेश के कारण मौलिक अंतर पड़ जाता है। यदि भारत के कांग्रेस दल की तुलना राष्ट्रीय चीनी गणतंत्र के क्वोमिन्तांग दल या ब्रिटेन के अनुदार या मजदूर दल से की जाए, तो उनमें जहां सतही तौर से कुछ समताएं और भिन्नताएं नजर आएंगी, वहां उनके अलग अलग सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश के कारण अन्य अधिक महत्वपूर्ण भेदों का पता चलेगा।

प्रयोगात्मक पद्धति : इस पद्धति का प्रयोग विशेष रूप से प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन में किया जाता है। प्राकृतिक विज्ञानों में जिन चीजों का अध्ययन किया जाता है उनको प्रयोगशाला के सीमित वातावरण में नियंत्रित किया जा सकता है। सामाजिक विज्ञानों का प्रतिपाद्य विषय मानवसमाज है जिसे प्रयोगशालाओं की संकुचित सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। इसलिए जिस अर्थ में प्रयोगात्मक पद्धति का इस्तेमाल रसायनशास्त्री कर सकता है, उसी अर्थ में उसका उपयोग राजनीतिविज्ञान में असंभव है। जिस सरलता से किसी रासायनिक द्रव्य की नाप-तोल की जा सकती है, उस प्रकार मानवीय इच्छाओं और चेष्टाओं को नापने के लिए किसी भौतिक उपकरण की सहायता नहीं ली जा सकती।

परंतु यदि हम किसी नगर, देश या मानवसमाज को ही राजनीति की वेधशाला मान लें तो प्रत्येक नई योजना, प्रत्येक नई नीति और प्रत्येक नया प्रयत्न हमारे लिए एक मूल्यवान प्रयोग माना जा सकता है। सोवियत रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना को समाजवादी अर्थनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रयोग समझा जाता है। इंग्लैंड को संवैधानिक शासन की प्रयोगशाला कहा जाता है। जब संसद कोई नया कानून बनाए तो उसे किसी निर्दिष्ट क्षेत्र में लागू कर उसके गुण-दोषों को परखकर उसमें संशोधन कर सकती है। भारत में भिन्न भिन्न प्रदेशों में भूमिसुधार कानून बनाए गए हैं। जब उन्हें क्रियान्वित किया गया, तो उनकी कमियां भी नजर आ गईं। सरकार चाहे तो इस प्रयोग के आधार पर दूसरे अधिक प्रभावशाली भूमिसुधार कानून बना सकती है।

सहकारी आंदोलन पहले नगरपालिकाओं द्वारा संचालित उद्योगों से शुरू हुआ लेकिन जब सीमित क्षेत्र में सहकारिता की उपयोगिता सिद्ध हो गई तो इसे विभिन्न देशों में वहां की केंद्रीय सरकारों ने राष्ट्रीय नीति के अंग के रूप में स्वीकार कर लिया। इंग्लैंड की संसदीय शासनप्रणाली के प्रयोग की सफलता देखकर दुनिया के दूसरे देशों ने उसका अनुकरण किया। सोवियत रूस ने समाजवादी अर्थनीति का सफल प्रयोग दिखलाकर पूंजीवादी संसार के श्रमिकों में समाजवाद की लालसा जाग्रत कर दी।

दार्शनिक पद्धति : उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक राजनीतिविज्ञान के अध्ययन पर मुख्य रूप से दर्शन, इतिहास तथा कानून का ही प्रभाव था। आज भी राजनीतिविज्ञान के

विद्यार्थी को प्लेटो, रूसो, हीगल या टी० एच० ग्रीन की दार्शनिक वृत्तियों को पढना आवश्यक माना जाता है। दार्शनिक पद्धति सामान्य दार्शनिक उद्देश्यों के संदर्भ मे विशेष राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण और समाधान करती है। वह राजनीति के क्षेत्र में अपरिवर्तनीय शाश्वत मूल्यों की स्थापना करती है।

इतिहास मे चिर प्रतिष्ठित राजनीतिक दार्शनिकों ने जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया, उनका आज भी महत्व कम नही हुआ है। उनके विषय मे ज्ञान न होने से राजनीति का विद्यार्थी कई ऐसी बातो से अनजान रह जाएगा जिनका ज्ञान उसे होना चाहिए। सर्वप्रथम हमें तुलनात्मक राजनीति के बारे में ज्ञान प्लेटो की 'रिपब्लिक' से प्राप्त होता है। इंग्लैंड मे संवैधानिक शासन के उद्देश्यों को जान लाक के विचारों और फ्रास की क्रांति को रूसो के 'सोशल कंट्रेक्ट' के दर्शन के संदर्भ में अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसी प्रकार अमरीकी प्रजातात्रिक क्राति के लिए हैमिल्टन, मैडीसन और जैफर्सन के विचारों ने पृष्ठभूमि तैयार की थी। सोवियत रूस की क्राति को समझने के लिए मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के दर्शन को समझना जरूरी हो जाता है। भारतीय राष्ट्रवाद के सिद्धांत गांधी और नेहरू के जीवन-दर्शन पर आधारित है। इसी प्रकार लेनिन और माओ त्से तुग का दर्शन जनवादी चीन की राजनीतिक प्रणाली का आधार है।

वर्तमान पीढी के व्यवहारवादी लेखक। जिनमे डेविड ईस्टन, राबर्ट डाल, आमंड, पावेल इत्यादि शामिल हैं, दार्शनिक पद्धति को कल्पनाजनित और भ्रांतिमूलक मानते हैं। इस पद्धति की टी डी वेल्डन ने अपनी पुस्तक 'दि वाकेबुलरी आफ पालीटिक्स' में कठोर आलोचना की है। वेल्डन ने स्वाधीनता, न्याय, आज्ञाकारिता, स्वतंत्रता और प्राकृतिक अधिकारों जैसी पारंपरिक संकल्पनाओ को भाषा पर आधारित भ्रातिया या अर्थहीन शब्दजाल माना है।

दार्शनिक पद्धति का दोष यह है कि विचारक प्राय: कल्पना या आदर्शों के हवाई घोडे पर सवार होकर जीवन की वास्तविकताओ से बहुत दूर चला जाता है। प्लेटो की 'रिपब्लिक' और मोर का 'यूटोपिया' इसके उदाहरण है। इन दोनो दार्शनिकों ने राजनीतिक जीवन के सुधार के लिए ऐसे सुझाव पेश किए जिन्हें कार्यान्वित करना बिलकुल असभव था। प्लेटो स्त्रियों को शासक बनने के लिए योग्य समझते थे—यह तो उनका प्रगतिशील और व्यावहारिक विचार माना जा सकता है किंतु राजनीति से भ्रष्टाचार को हटाने के लिए वे उनके जीवन से परिवार और विवाह की प्रथाओं को भी समाप्त करना चाहते थे। शासको के लिए विवाह और पारिवारिक जीवन का निषेध अव्यावहारिक था। इसी प्रकार मोर के 'यूटोपिया' मे दैनिक उपयोग की वस्तुओं को भी समाज के अधिकार में दे दिया गया था।

अन्य सामाजिक विज्ञानों का राजनीति पर प्रभाव

मनुष्य का ज्ञान उसके जीवन की तरह संपूर्ण और सुव्यवस्थित इकाई है। उसे सुविधा के लिए हम स्वतंत्र और अलग क्षेत्रों मे भले ही बाट लें, लेकिन उसकी एकता का अनुभव हमे विभिन्न विषयों का स्वतंत्र अध्ययन करते समय भी होता है। राजनीति का

अध्ययन करते समय भी हम यह नही भूल सकते कि यह दूसरे विज्ञानों और विषयों पर कितना अवलंबित है। प्रकट रूप से राजनीति का प्राकृतिक विज्ञानों से कोई संबंध नही मालूम होता परंतु वास्तव में ऐसी बात नही है। विज्ञान की उन्नति ही औद्योगिक क्रांति के लिए तथा तीव्र यातायात के साधनों के विकास और प्रभावशाली संचार के उपकरणों के लिए उत्तरदायी है। वैज्ञानिक आविष्कारों का लोगों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन तथा राजनीतिक प्रक्रियाओ पर काफी असर पड़ता है। रेडियो, टेलिविजन या नए विनाशकारी परमाणु शस्त्रास्त्र राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, यह सर्वविदित है।

विज्ञान के अतिरिक्त साहित्य और ललित कलाएं भी राजनीति की विचारधारा के विकास मे योगदान देती हैं। साहित्य और ललितकलाओं को किसी भी समाज या वर्ग के सास्कृतिक स्तर का मापदंड माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त लोगो के धार्मिक विश्वास, उनकी नैतिक धारणाएं एवं दार्शनिक मान्यताएं भी उस समाज के राजनीतिक जीवन को प्रभावित करती हैं। इसलिए राजनीति का धर्म, नीतिशास्त्र और दर्शन से से भी संबंध है। मनुष्य की सहज वृत्तिया, कामनाएं, अवचेतन प्रेरणाएं एवं अन्य मानसिक क्रियाए भी नागरिकों के राजनीतिक जीवन पर प्रभाव डालती हैं। अतएव राजनीति के विद्यार्थी को मनोविज्ञान की जानकारी भी अपेक्षित है। परंतु राजनीति का विशेष संबंध अपने सहोदर सामाजिक विज्ञानों से है, जिनमे समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, विधानशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान मुख्य हैं।

समाजशास्त्र और राजनीति : समाजशास्त्र मे समाज के प्रत्येक पहलू का अध्ययन किया जाता है। वह असंगठित जनसमूहों से समाज के निर्माण, समाज के क्रमिक विकास, जातियों और वर्गों के निर्माण, समुदायों की उत्पत्ति और विकास, धर्म और संस्कृति के उदय, उत्पादन के तरीकों मे परिवर्तन, राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण, समाज में शक्ति और सत्ता के प्रयोग इत्यादि अनेक विषयों का अध्ययन करता है। राजनीतिविज्ञान ने उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में समाजशास्त्रीय शोधों से लाभ उठाया है। दोनों के विषयक्षेत्रों मे समानता होने पर भी दोनों की शैलियो मे अंतर है। समाजशास्त्र मे समाज और समुदायों की उत्पत्ति और विकास की विशेष चर्चा होती है। राजनीतिविज्ञान मनुष्य की सामाजिकता को स्वयंसिद्ध सत्य मानकर आगे चलता है।

जहां तक समाजशास्त्र का संबंध है, वह सामाजिक प्रक्रियाओं के यथार्थवादी विश्लेषण मे ही रुचि रखता है। इसके विपरीत राजनीति वास्तविकता के अध्ययन के अतिरिक्त लक्ष्यों और उद्देश्यो मे भी दिलचस्पी रखती है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए समाज एक अविभाज्य इकाई है, जिसका एक अंग राजनीति भी है। राजनीति समाज की एकता को स्वीकार करते हुए भी उसकी अविभाज्यता को नही मानती। राजनीति के विद्यार्थी के लिए समाज की संकल्पना सूक्ष्म और अमूर्त है, इसलिए उसमें वह कम दिलचस्पी लेता है। उसके लिए राजनीतिक मनुष्य एक मूर्त और साकार प्राणी है, जो समाज का अंग होते हुए भी अपनी स्वतंत्र सत्ता की अनुभूति रखता है। इसलिए यह मूर्त राजनीतिक मनुष्य और उसकी गतिविधिया ही राजनीतिविज्ञान के आकर्षण का मुख्य केंद्र हैं।

राजनीति की तुलना में समाजशास्त्र का क्षेत्र भी अधिक विस्तृत है। समाजशास्त्र

में मनुष्य की संगठित और असंगठित दोनों अवस्थाओं की विवेचना की जाती है। इसके विपरीत राजनीति में हम केवल समाज में संगठित और वर्गों में विभक्त राजनीतिक मानव की ही चर्चा करते हैं। समाजशास्त्र समाज के विकास पर विशेष ध्यान देता है किंतु राजनीविज्ञान मुख्य रूप से राजनीतिक जीवन और प्रणालियों के वर्तमान चरित्र का विश्लेषण करता है। राजनीति और समाजशास्त्र के सीमावर्ती क्षेत्र को लेकर एक नए विषय 'राजनीतिक समाजविज्ञान' का विकास हो रहा है।

राजनीतिक समाजविज्ञान मे हम शक्ति, सत्ता और प्रभाव का विशेष रूप से अध्ययन करते हैं। मैक्स वेबर, मास्का, पैरेटो आदि को राजनीतिक समाजविज्ञान का संस्थापक माना जा सकता है। उसके बाद कार्ल मैनहाइम, टैल्काट पार्सस, सेमूर लिप्सेट, बाटोमोर और सी राइट मिल्स ने राजनीतिक समाजविज्ञान के विकास में योगदान दिया है। इन्होंने नौकरशाही, राजनीतिक दल, विशिष्ट वर्ग, शक्तिशाली विशिष्ट वर्ग, शासक वर्ग, नेतृत्व, हितसमूह, प्रभावशाली गुट इत्यादि संकल्पनाओ का समाज वैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

राजनीति और इतिहास : पहले लोगों की यह आम धारणा थी कि राजवंशों के उत्थान-पतन, राजा-रानियों के जीवनचरित्र या सैनिक विजेताओं की विजययात्राओ का वर्णन ही इतिहास है। इस प्रकार के इतिहास से चारणवादी साहित्य का भले ही कुछ संबंध हो लेकिन राजनीतिविज्ञान से आज उसका कोई संबध नही है। राजनीति का संबंध उस इतिहास से है, जिसमें जनसाधारण के सामाजिक संगठन, उनकी आर्थिक क्रियाओं और वर्गभेद, उनके नैतिक और धार्मिक विचारों, उनके सास्कृतिक प्रयत्नों और उनकी वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं के क्रमिक विकास का वर्णन हो।

कार्ल मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के द्वारा उसे सामाजिक विज्ञानों के लिए और भी अधिक उपयोगी बना दिया। हम देखते है कि उत्पादन के साधनों और तरीकों का असर समाज मे वर्गों के विभाजन पर पड़ता है और इन दोनों का असर राजनीति, संस्कृति और विचारधारा पर पड़ता है। इसीलिए भिन्न भिन्न युग मे राजनीतिक जीवन के रूप और आदर्शो मे परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन यूनान के नगरराज्यों मे दासप्रथा तत्कालीन यूनान की आर्थिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग थी। इसीलिए प्लेटो और अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य की संकल्पना में गुलामी की प्रथा को न्यायोचित और विवेकसम्मत ठहराया था। इसी प्रकार अमरीकी पूजीवादी राज्य ने लाखों की संख्या मे अफ्रीका से पकड़े हुए नीग्रो गुलामों का उपयोग अमरीकी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए किया था। जैफर्सन जैसे लोकतंत्रवादियों ने दासप्रथा और प्रजातात्रिक शासन की विचारधारा में कोई असंगति नही देखी थी। किंतु जब अमरीकी पूंजीपतियो को यह अनुभव हुआ कि गुलाम की तुलना मे स्वेच्छा से अपनी श्रमशक्ति बेचने वाला मजदूर औद्योगिक विकास के लिए ज्यादा लाभदायक है तो वे दासप्रथा का अंत करने के लिए राजी हो गए।

यद्यपि राजनीतिविज्ञान ऐतिहासिक शोधों से बहुत कुछ लाभ उठा सकता है, लेकिन दोनों की शैलियों में मौलिक अंतर है। इतिहास की शैली मुख्यरूप से वर्णनात्मक और

गौण रूप से आलोचनात्मक है। राजनीतिविज्ञान की शैली मुख्य रूप से आलोचनात्मक और गौण रूप से वर्णनात्मक है। इतिहास हमारे सामने केवल तथ्य रखना जानता है। राजनीतिविज्ञान उन तथ्यों के आधार पर लक्ष्यो और आदर्शों की रचना भी करता है। यदि इतिहास हमे बतलाता है कि समाज मे सदा से शोषक और शोषित वर्गों के बीच *अनिवार्य संघर्ष चलता रहा है, तो राजनीति हमारे सम्मुख श्रेणीविहीन समाज का लक्ष्य* रखकर ऐसे आदर्श को प्राप्त करने की शिक्षा देती है।

अर्थशास्त्र और राजनीति : अर्थशास्त्र मे हम धन के उत्पादन, विनिमय, और उपभोग के विषय मे पढते हैं। यदि मानवजीवन का निकट से अध्ययन किया जाए तो यह प्रतीत होता है कि मनुष्य की क्रियाओ का अधिकांश भाग आर्थिक है। समाज एक प्रकार से आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिंब मात्र है। कार्ल मार्क्स का कथन है कि समाजरूपी शरीर के अंगविश्लेषण की खोज हमे राजनीतिक अर्थनीति मे करनी चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि सभी सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धांतो की जानकारी बहुत जरूरी है। *अर्थशास्त्र को आजकल इसीलिए सभी सामाजिक विज्ञानो में प्रमुख* स्थान दिया जाता है। राजनीति के अध्ययन मे भी अर्थशास्त्र के सिद्धांतो के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

यदि हम अपने देश के राजनीतिक जीवन की समस्याओं का अध्ययन करें तो हमें *यह मालूम होगा कि उन समस्याओं मे से अधिकाश का आर्थिक ही है। ग्रामवासियो के* जीवन को लीजिए। आजकल भारत के गांव निरक्षता, जातीय कलह, रूढ़िवादिता और नैतिक पतन के शिकार हैं। ग्रामवासी स्वस्थ और सुसंस्कृत समाजिक जीवन की कला से बिलकुल अनजान है। ऐसा क्यों है ? क्या इसका कारण उनकी निर्धनता तथा आर्थिक शोषण नही है ? ग्रामवासी दरिद्र क्यों है ? नही, गांवों मे भी सभी वर्ग निर्धन नही हैं। जमीदार, महाजन, व्यापारी और धनी किसान गांवो के संपन्न वर्ग माने जा सकते हैं। इनकी सपन्नता का क्या आधार है ?

इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए हमें भारत की आर्थिक व्यवस्था को अच्छी तरह समझना पड़ेगा। हमे भारत के गांवों की गरीबी के कारण ढूढने पड़ेंगे। सदियो से चले आए सामंतवादी शोषण की प्रक्रिया समझनी होगी। इस शोषण को समाप्त करने के उपाय निकालने पडेंगे। किसानों और खेतिहर मजदूरों को भूमि का मालिक बनाना पड़ेगा। उन्हें खेती के सहकारी और सामूहिक तरीकों को सीखना पड़ेगा। ये सभी बातें आर्थिक व्यवस्था से संबध रखती हैं किंतु इन समस्याओं का भारतीय राजनीति से भी गहरा संबध है। ग्रामो की आर्थिक व्यवस्था का नगरों की पूजीवादी व्यवस्था से भी संबध है। ग्रामों की आर्थिक या राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए संभवत. राष्ट्रीय स्तर पर तेजी से औद्योगिक विकास की जरूरत है।

एक सफल राजनीतिक क्राति के लिए समाज की आर्थिक व्यवस्था का सही विश्लेषण करना जरूरी है। 1949 की जनवादी क्राति के पूर्व माओ त्से तुग ने चीनी जनता की गरीबी और शोषण का विश्लेषण करते हुए कहा था कि चीन के किसानों और मजदूरो के कंधो पर तीन शोषक वर्ग—विदेशी साम्राज्यवादी, चीन के जमीदार और चीन के

पूंजीपति—सवार है किंतु चीन की औरतो के कंधे पर एक चौथा शोषण वर्ग, चीन के मर्द, सवार हैं। यह बात बहुत साधारण सी है किंतु औपनिवेशिक तथा अर्ध औपनिवेशिक देशों की राजनीति और अर्थव्यवस्था का एक कटु और गंभीर सत्य है।

वास्तव में आर्थिक व्यवस्था का राजनीतिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रभाव को समझने के लिए राजनीति के विद्यार्थी के लिए अर्थशास्त्र के नियमों और सिद्धांतों का ज्ञान अपेक्षित है। स्वस्थ और सुसंस्कृत राजनीतिक जीवन के निर्माण के लिए हमे उचित और न्यायसंगत अर्थव्यस्था की स्थापना भी करनी पड़ेगी। आजकल समाजवाद का प्रचार क्यों बढ़ रहा है? इसका करण यही है कि पूंजीवादी समाज की आर्थिक विषमताओं और अन्याय ने हमारे राजनीतिक जीवन को कलुषित कर रखा है।

यदि विस्तार से राजनीति और अर्थशास्त्र की तुलना की जाए तो हम देखेंगे कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र सीमित है क्योकि वह समाज के केवल आर्थिक अंग का ही अध्ययन करता है। इसके विपरीत राजनीति मे हम समाज के आर्थिक अग के साथ साथ दूसरे अंगों की भी विवेचना करते हैं और इसीलिए राजनीति का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। परंतु जहां राजनीति आर्थिक जीवन और प्रक्रियाओं की चर्चा केवल प्रसंग और आवश्यकता के अनुसार करती है, वहां अर्थशास्त्र संपूर्ण अर्थव्यवस्था की विशद, विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक व्याख्या करता है। राजनीतिक अर्थनीति राजनीति और अर्थशास्त्र का संधिस्थल है।

राजनीति और नीतिशास्त्र : नीतिशास्त्र में मनुष्य के आचरण का अध्ययन किया जाता है। सदाचार किसे कहते हैं? दुराचार क्या है? अच्छाई और बुराई का मापदंड क्या है? मानवजीवन का क्या उद्देश्य है। मनुष्य को किन आदर्शों का पालन करना चाहिए? किन परिस्थितियों मे हमारे क्या कर्तव्य है? क्या नैतिकता की संकल्पनाएं देश और काल के साथ बदलती हैं? इन सभी प्रश्नों के समाधान की कोशिश नीतिशास्त्र में की जाती है। संक्षेप में वह हमें श्रेष्ठ और सदाचारी मनुष्य बनने की शिक्षा देता है।

राजनीतिविज्ञान भी हमें कर्तव्यपरायण एवं उत्तम नागरिक बनने की प्रेरणा देता है। राजनीतिक जीवन के आदर्शों को स्थिर करते समय हमे नीतिशास्त्र से काफी सहायता मिल सकती है। परंतु नीतिशास्त्र और राजनीति की शैलियों में भेद है। नीतिशास्त्र में मनुष्य के व्यक्तिगत व्यापार पर विशेष ध्यान दिया जाता है किंतु राजनीति में उसके सामाजिक और राजनीतिक जीवन को अध्ययन का केंद्र बनाया जाता है। यदि कोई मनुष्य शराब पीता या कोई अन्य दुर्गुण से ग्रस्त है किंतु वह अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन या राजनीतिक दायित्वों का निर्वाह ठीक तरह से करता है तो हम उसे बुरा नागरिक नही कह सकते चाहे नैतिक दृष्टि से कुछ लोग उसे बुरा मनुष्य भले ही कहें। जान स्टुअर्ट मिल मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण मे भेद करते हैं और केवल उसके समाजिक आचरण को राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण समझते हैं।

आज अधिकाश राजनीतिक विचारक राजनीति को नैतिक मूल्यों और आदर्शों निरपेक्ष मानते हैं। डेविड ईस्टन भी प्रारंभ में उद्देश्यवादी राजनीति को राजनी

विज्ञान के क्षेत्र से बाहर रखते थे। अब उन्होंने भी स्वीकार कर लिया है कि राजनीति-विज्ञान उद्देश्यमूलक और आदर्शपरक होना चाहिए।[2] मार्क्स के अनुसार नैतिकता के कोई अपरिवर्तनीय या शाश्वत सिद्धांत नहीं है। ब्याज लेकर ऋण देना सामंतशाही के युग में अनैतिक समझा जाता था और कैथोलिक चर्च मध्ययुग में सूदखोरी की निंदा करता था। बुर्जुआ समाज मे महाजनो से ऋण लेकर उद्योग और व्यापार की उन्नति की जाती है। अतः ब्याज को मुनाफे का नैतिक और वैध भाग मान लिया गया। प्रोटेस्टेंट संप्रदाय सूदखोरी को उचित समझते हैं क्योकि वह पूंजीवादी समाज का आधार है। जहा पूंजीवदी समाज में निजी संपत्ति और मुनाफे को नैतिक और वैध माना जाता है, समाजवादी समाज मे उसे अनैतिक और अवैध समझा जाता है। इसलिए राजनीतिक विचारधारा तथा प्रणाली के बदलने पर नैतिक मानदंड भी बदल जाते हैं।

राजनीतिक और विधानशास्त्र : इसमें संदेह नही राजनीतिविज्ञान और कानून के अध्ययन मे गहरा सबंध रहा है। संवैधानिक कानून राजनीति के अध्ययन का मुख्य अंग रहा है। विधानशास्त्र में हम समाज के कानूनी संगठन और व्यवस्था का अध्ययन करते हैं। राजनीतिक जीवन और प्रक्रियाओं पर कानूनी व्यवस्था का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। कानूनों के स्वरूप और चरित्र से उस समाज के सांस्कृतिक स्तर का पता चलता है। समाज मे प्रचलित परंपराएं राज्य की स्वीकृति से कानून बन जाती हैं।

किसी भी देश की वैधानिक व्यवस्था तत्कालीन आर्थिक संगठन और प्रणाली पर अवलबित होती है। राजनीति और कानून अर्थव्यवस्था की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति हैं: सामंतशाही के लिए जो कानून उचित माने गए थे, उन्हें बेंथम ने पूंजीवाद के लिए उपयोगी नही माना। बेंथम की कानून सहिता को समाजवादी समाज के लिए मार्क्स और लेनिन ने अस्वीकार कर दिया। यदि हम आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों मे कोई व्यापक परिवर्तन करना चाहेगे तो साथ में हमें समाज के वैधानिक ढांचे मे भी आमूल परिवर्तन करने पड़ेंगे। इसीलिए राजनीति के विद्यार्थी को विधानशास्त्र का परिचय होना अत्यंत आवश्यक है।

किसी समाज के राजनीतिक जीवन का व्यवस्थित रूप हम उसके वैधानिक ढाचे में देख सकते है। किस देश मे नागरिको को कितने मूल अधिकार प्राप्त हैं? संपत्ति के अधिकार तथा उत्तराधिकार संबंधी नियम क्या हैं? नागरिकों को शासन मे भाग लेने का कितना मौका दिया जाता है? अपराधों के संबंध में किस प्रकार की दंडनीति अपनाई गई है? इन सभी प्रश्नो का उत्तर हमे विधानशास्त्र से प्राप्त होता है और इन सवालो का राजनीतिक जीवन और प्रक्रिया से अटूट संबंध है।

राजनीति और मनोविज्ञान : मनोविज्ञान मे मनुष्य की मानसिक क्रियाओं और व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार उसके सामान्य व्यवहार का अंग है। अत. मानव के स्वभाव और चरित्र का ज्ञान हमे उसके राजनीतिक व्यवहार को समझने में सहायक हो सकता है। ग्राहम वालस ने कहा 'ह्यूमन नेचर इन पालिटिक्स' में सर्वप्रथम राजनीति के लिए मनोविज्ञान की उपादेयता बताई थी। उन्होंने कहा था कि मनुष्य अपने राजनीतिक व्यवहार मे केवल विवेक के द्वारा प्रेरित नही होता।

वह भावनाओं और आवेगों द्वारा भी प्रभावित होता है। कुछ स्त्रियां चुनाव में सुंदर और आकर्षक व्यक्तित्व के आधार पर वोट दे सकती हैं और उनके कार्यक्रम या विचारों को पूरी तरह से नजर अंदाज कर सकती हैं। अनेक मजदूर उच्च और कुलीन वर्ग के सदस्यों के प्रति आदर की भावना रखने के कारण मजदूर दल के उम्मीदवार को वोट देने के बजाय अनुदार दल या उदार दल के उम्मीदवार को वोट देना चाहते है।

फ्रायड और दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानव व्यवहार का आधार उसके मन की अवचेतन प्रवृत्तिया हैं। इन प्रवृत्तियों का उद्गम उसकी दबी हुई इच्छाएं है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य साधारणतः विवेक या बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कार्य नहीं करता। बुद्धि अवचेतन आवेगों की दासी है। यदि यह सच है तो राजनीति के विद्यार्थी को भी इन अवचेतन प्रेरणाओं और मनोवृत्तियों को समझना आवश्यक हो जाएगा। इन्हें बिना समझे वह राजनीतिक जीवन का न तो यथार्थवादी विश्लेषण कर सकता है और न उसके आदर्शों के संबंध में कोई निष्कर्ष निकाल सकता है।

मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण विभाग सामाजिक मनोविज्ञान है। इसके अंतर्गत हम मनुष्य के सामाजिक और सामूहिक व्यवहार का अध्ययन करते हैं। क्या कारण है कि मनुष्य समूह में जाकर ऐसा व्यवहार कर सकता है, जिसकी व्यक्तिगत जीवन में उससे अपेक्षा नहीं की जा सकती? भीड़ में जाकर मनुष्य का व्यक्तिगत अस्तित्व लुप्त हो जाता है और वह समझने लगता है कि सामूहिक रूप से किए हुए कार्य का कोई व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नहीं है। व्यवस्थापिका सभाओं में, राजनीतिक सभाओं और सम्मेलनों मे, चुनाव संबंधी प्रदर्शनों मे, धार्मिक जुलूसों में, सांप्रदायिक दंगों में तथा इसी प्रकार की अन्य सामूहिक परिस्थितियों में शिक्षित और समझदार नागरिक भी ऐसे कार्य कर बैठते हैं जो सामान्यतः बुद्धिसंगत या विवेकपूर्ण नहीं कहे जा सकते। जापान, इटली, फ्रांस इत्यादि अनेक देशों की संसदों मे सदस्यगण एक दूसरे पर कुर्सियां फेंककर लड़ने लगते हैं। इस प्रकार के असामान्य व्यवहार की व्याख्या सामाजिक मनोविज्ञान ही कर सकता है। अतएव सामाजिक मनोविज्ञान और फ्रायड के मनोविश्लेषण की जानकारी राजनीति के अध्ययन के लिए अत्यंत उपयोगी है।

राजनीति के विषय में उदारवादी दृष्टिकोण

उदारवादी विचारक राजनीति को ऐसी सामाजिक [illegible] के रूप में देखते हैं [illegible]
द्वारा राज्य और समुदाय समाज मे सामूहिक [illegible] के लिए [illegible]
हैं। विचारधारा के रूप में उदारवाद के [illegible] और [illegible] सिद्धांत [illegible]
यह एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति है, जिसमें [illegible] विचार [illegible]
ये विचार भिन्न भिन्न देशों में समय [illegible] के अनुसार [illegible]
हैं। इस व्यापक अर्थ मे उदारवादी [illegible]
कार्यक्रम या विचारों से नहीं है। [illegible]
यह आवश्यक नहीं कि राजनीति [illegible] दृष्टिकोण [illegible]

विज्ञान के क्षेत्र से बाहर रखते थे। अब उन्होंने भी स्वीकार कर लिया है कि राजनीति-विज्ञान उद्देश्यमूलक और आदर्शपरक होना चाहिए।[2] मार्क्स के अनुसार नैतिकता के कोई अपरिवर्तनीय या शाश्वत सिद्धांत नहीं है। ब्याज लेकर ऋण देना सामंतशाही के युग में अनैतिक समझा जाता था और कैथोलिक चर्च मध्ययुग में सूदखोरी की निंदा करता था। बुर्जुआ समाज में महाजनों से ऋण लेकर उद्योग और व्यापार की उन्नति की जाती है। अतः ब्याज को मुनाफे का नैतिक और वैध भाग मान लिया गया। प्रोटेस्टेंट संप्रदाय सूदखोरी को उचित समझते हैं क्योंकि वह पूंजीवादी समाज का आधार है। जहां पूंजीवदी समाज में निजी संपत्ति और मुनाफे को नैतिक और वैध माना जाता है, समाजवादी समाज मे उसे अनैतिक और अवैध समझा जाता है। इसलिए राजनीतिक विचारधारा तथा प्रणाली के बदलने पर नैतिक मानदंड भी बदल जाते हैं।

राजनीतिक और विधानशास्त्र : इसमें संदेह नही राजनीतिविज्ञान और कानून के अध्ययन मे गहरा संबंध रहा है। संवैधानिक कानून राजनीति के अध्ययन का मुख्य अंग रहा है। विधानशास्त्र में हम समाज के कानूनी संगठन और व्यवस्था का अध्ययन करते है। राजनीतिक जीवन और प्रक्रियाओं पर कानूनी व्यवस्था का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। कानूनों के स्वरूप और चरित्र से उस समाज के सांस्कृतिक स्तर का पता चलता है। समाज में प्रचलित परपराएं राज्य की स्वीकृति से कानून बन जाती हैं।

किसी भी देश की वैधानिक व्यवस्था तत्कालीन आर्थिक संगठन और प्रणाली पर अवलंबित होती है। राजनीति और कानून अर्थव्यवस्था की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति हैं: सामंतशाही के लिए जो कानून उचित माने गए थे, उन्हें बेंथम ने पूंजीवाद के लिए उपयोगी नही माना। बेंथम की कानून संहिता को समाजवादी समाज के लिए मार्क्स और लेनिन ने अस्वीकार कर दिया। यदि हम आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों में कोई व्यापक परिवर्तन करना चाहेंगे तो साथ में हमे समाज के वैधानिक ढाचे में भी आमूल परिवर्तन करने पड़ेंगे। इसीलिए राजनीति के विद्यार्थी को विधानशास्त्र का परिचय होना अत्यंत आवश्यक है।

किसी समाज के राजनीतिक जीवन का व्यवस्थित रूप हम उसके वैधानिक ढाचे मे देख सकते हैं। किस देश में नागरिको को कितने मूल अधिकार प्राप्त हैं? संपत्ति के अधिकार तथा उत्तराधिकार संबंधी नियम क्या हैं? नागरिकों को शासन में भाग लेने का कितना मौका दिया जाता है? अपराधों के संबंध में किस प्रकार की दंडनीति अपनाई गई है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर हमें विधानशास्त्र से प्राप्त होता है और इन सवालों का राजनीतिक जीवन और प्रक्रिया से अटूट संबंध है।

राजनीति और मनोविज्ञान : मनोविज्ञान मे मनुष्य की मानसिक क्रियाओं और व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार उसके सामान्य व्यवहार का अंग है। अतः मानव के स्वभाव और चरित्र का ज्ञान हमें उसके राजनीतिक व्यवहार को समझने मे सहायक हो सकता है। ग्राहम वालस ने कहा 'ह्यूमन नेचर इन पालिटिक्स' में सर्वप्रथम राजनीति के लिए मनोविज्ञान की उपादेयता बताई थी। उन्होंने कहा था कि मनुष्य अपने राजनीतिक व्यवहार में केवल विवेक के द्वारा प्रेरित नहीं होता।

वह भावनाओं और आवेगों द्वारा भी प्रभावित होता है। कुछ स्त्रियां चुनाव में सुदर और आकर्षक व्यक्तित्व के आधार पर वोट दे सकती हैं और उनके कार्यक्रम या विचारों को पूरी तरह से नजर अदाज कर सकती हैं। अनेक मजदूर उच्च और कुलीन वर्ग के सदस्यों के प्रति आदर की भावना रखने के कारण मजदूर दल के उम्मीदवार को वोट देने के बजाय अनुदार दल या उदार दल के उम्मीदवार को वोट देना चाहते हैं।

फ्रायड और दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानव व्यवहार का आधार उसके मन की अवचेतन प्रवृत्तिया हैं। इन प्रवृत्तियों का उद्गम उसकी दबी हुई इच्छाएं हैं। फ्रायड के अनुसार मनुष्य साधारणत: विवेक या बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कार्य नही करता। बुद्धि अवचेतन आवेगों की दासी है। यदि यह सच है तो राजनीति के विद्यार्थी को भी इन अवचेतन प्रेरणाओं और मनोवृत्तियों को समझना आवश्यक हो जाएगा। इन्हें बिना समझे वह राजनीतिक जीवन का न तो यथार्थ-वादी विश्लेषण कर सकता है और न उसके आदर्शों के संबंध मे कोई निष्कर्ष निकाल सकता है।

मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण विभाग सामाजिक मनोविज्ञान है। इसके अंतर्गत हम मनुष्य के सामाजिक और सामूहिक व्यवहार का अध्ययन करते है। क्या कारण है कि मनुष्य समूह मे जाकर ऐसा व्यवहार कर सकता है, जिसकी व्यक्तिगत जीवन मे उससे अपेक्षा नही की जा सकती? भीड़ में जाकर मनुष्य का व्यक्तिगत अस्तित्व लुप्त हो जाता है और वह समझने लगता है कि सामूहिक रूप से किए हुए कार्य का कोई व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नही हैं। व्यवस्थापिका सभाओ में, राजनीतिक सभाओं और सम्मेलनों मे, चुनाव संबंधी प्रदर्शनों मे, धार्मिक जुलूसों में, सांप्रदायिक दंगो में तथा इसी प्रकार की अन्य सामूहिक परिस्थितियों मे शिक्षित और समझदार नागरिक भी ऐसे कार्य कर बैठते है जो सामान्यतः बुद्धिसंगत या विवेकपूर्ण नही कहे जा सकते। जापान, इटली, फ्रांस इत्यादि अनेक देशों की संसदो मे सदस्यगण एक दूसरे पर कुर्सियां फेंककर लड़ने लगते हैं। इस प्रकार के असामान्य व्यवहार की व्याख्या सामाजिक मनोविज्ञान ही कर सकता है। अतएव सामाजिक मनोविज्ञान और फ्रायड के मनोविश्लेषण की जानकारी राजनीति के अध्ययन के लिए अत्यंत उपयोगी है।

राजनीति के विषय में उदारवादी दृष्टिकोण

उदारवादी विचारक राजनीति को ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जिसके द्वारा राज्य और समुदाय समाज में सामूहिक हित की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं। विचारधारा के रूप में उदारवाद के सर्वमान्य और सुनिश्चित सिद्धांत नही हैं। यह एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति है, जिसमें परस्पर विरोधी विचार भी व्यक्त किए गए हैं। ये विचार भिन्न भिन्न देशो मे समय और स्थान के भेद के अनुसार प्रस्तुत किए गए हैं। इस व्यापक अर्थ मे उदारवादी दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य किसी खास दल के कार्यक्रम या विचारों से नही है। कई राजनीतिक दल नाम से 'लिबरल' हो सकते है, पर यह आवश्यक नही कि राजनीति के संबंध में उनका दृष्टिकोण भी उदारवादी हो।

लास्की का विचार है कि उदारवाद का संबंध किसी संप्रदाय से कम और मानव स्वभाव से अधिक है। यह स्वतंत्रता के लिए तीव्र इच्छा को प्रकट करता है। यह चाहता है कि राज्य व्यक्तियों और समुदायों को आत्मोन्नति करने के लिए पूरा अवसर दे। राज्य नागरिकों के विचारों और कार्यों के प्रति सहनशीलता की नीति अपनाए। राज्य व्यक्तियों और हितसमूहों के सहयोग से समाज के सामूहिक कल्याण के लिए कार्य करे।

मध्यवर्ग की विचारधारा : उदारवाद मुख्य रूप से यूरोप के उदीयमान मध्यमवर्ग का राजनीति के प्रति दृष्टिकोण है। लास्की ने 'यूरोपीय उदारवाद का उदय' नामक पुस्तक मे बताया है कि आधुनिक युग की शुरुआत से ही राजनीति के उदारवादी दृष्टिकोण का आरंभ होता है। यह सामंतवादी वर्गों की राजनीति के पतन के बाद नए विकासोन्मुख बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक विचारधारा है। सैबाइन का मत है कि 'लिबरल' विचारधारा में लाक से शुरु होकर जान स्टुअर्ट मिल तक अनेक तार्किक असंगतियां हैं। वास्तव मे उदारवाद तर्क पर आधारित न होकर उस श्रेणी के वर्ग स्वार्थों पर आधारित है, जिसने इसे जन्म दिया था।

इसलिए उदारवादी दृष्टिकोण के समर्थकों में परस्पर विरोधी मान्यताओं के लोग पाए जाते हैं। ये लोग विवेकवादी नास्तिक भी हैं और धर्म में डूबे हुए ईसाई भी; इनमे आदर्शवादी भी हैं और उपयोगितावादी भी; इनमें कुछ लोग कुलीनतंत्र की हिमायत करते हैं, तो कुछ लोकतंत्र की; और आज अनुदार, उदार और दक्षिणपंथी समाजवादी दलो के सदस्य समान रूप से राजनीति में उदारवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। लिबरल दृष्टिकोण के विरोधियों में या तो प्रतिक्रियावादी फासिस्ट और अर्धफासिस्ट आदोलन और दल हैं, या सर्वहारा मजदूर वर्ग के आंदोलन का नेतृत्व करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियां हैं।

परस्पर विरोधी तत्वों की मौजूदगी के बावजूद राजनीति के उदारवादी दृष्टिकोण में एक आंतरिक एकता है। यह आतरिक एकता इस तथ्य पर आधारित है कि यह सामाजिक प्रक्रिया में पूंजीपति वर्ग का वैचारिक उपकरण है। शुरू में पूंजीपतियों ने इस उपकरण का इस्तेमाल जमीदारो और जागीरदारों के खिलाफ अपने संघर्ष मे किया। कुछ समय बाद जमीदारो और पूंजीपतियों के वर्गयुद्ध में शिथिलता आ गई। इसका कारण पूंजीपतियो और मजदूरों के बीच मे एक नए श्रेणी संघर्ष की शुरुआत थी। इसलिए राजनीति के लिबरल दृष्टिकोण में परिवर्तन किए गए जिससे उसे मजदूर आंदोलन के उद्देश्यो और आदर्शों के खिलाफ प्रयोग किया जा सके।

राजनीति मे उदारवाद अब प्रगति और सामाजिक परिवर्तन की विचारधारा नही रही है। सी राइट मिल्स के शब्दों में आज उदारवादी शब्दजाल का प्रयोग अकसर रूढ़िवादी और अनुदार विचार के लोग करते है। आज उदारवादी सिद्धांतों की संगति हमे पूंजीपति वर्ग के सामाजिक उद्देश्यों [illegible] न दार्शनिक मान्यताओं मे जिन्हें उदारवादी चिंतको [illegible] अर्ट मिल—आदि ने प्रस्तुत किया था, और बाद मे [illegible] ने संवारा था। किसी समय राजनीति का [illegible] आ

मध्यमवर्ग के लोकतंत्रीय प्रतिरोध और परिवर्तन का दृष्टिकोण था। आज यह सत्ताधारी पूंजीपति वर्ग के शासन और शोषण की रक्षा के लिए क्रांतिकारी मजदूर आंदोलन से बचाव की यथास्थितिवादी विचारधारा बन गई है।

उदारवादी दृष्टिकोण का विकास: उदारवादी दृष्टिकोण राजनीति को धर्म और नैतिकता से अलग करना चाहता है। मैक्यावेली धर्मनिरपेक्ष राजनीति के पहले समर्थक हैं। मध्ययुग मे चूंकि राजनीति में चर्च और सामंतशाही का गठबंधन था, बुर्जुआ उदारवादी इस गठबंधन को तोड़कर ऐसे लौकिक राज्य की स्थापना करना चाहते थे जिस पर वे अपने वर्ग का नियंत्रण रख सकें। बाद में बोदा, हाब्स और बेंथम ने संप्रभु राज्य की संकल्पना पेश की जिससे बुर्जुआ राज्य चर्च और दूसरे समुदायों को अपने अधिकार मे रख सके। संप्रभु राज्य ही समाज में व्यवस्था और शांति रख सकता है, जिसकी बुर्जुआ वर्ग की दृष्टि मे व्यापार और उद्योगों की उन्नति के लिए सख्त जरूरत है।

यूरोप के पुनर्जागरण और धर्म सुधार के आंदोलनों से उदारवादी मान्यताओं के विकास मे सहायता मिली। पुनर्जागरण आंदोलन ने विवेक को धर्म से ऊपर माना और धर्मसुधार आंदोलन ने धार्मिक रूढ़ियों और परंपरागत चर्च के संगठन की युक्तिसंगत आलोचना की। इस प्रकार विवेकवाद पर आधारित उदारवादी राजनीति की नींव पड़ी। जैसा कि मैक्स वेबर ने कहा है कि उदारवादी राज्य विवेक और कानून पर आधारित राज्य है जिसमे सरकार एक विवेकपूर्ण नौकरशाही की मदद से शासन करती है। सामंतशाही के राज्य मे सत्ता का आधार परंपरा है। उदारवादी पूंजीवादी राज्य में सत्ता का आधार विवेकसम्मत कानून है।

इंग्लैंड मे 1649 की हिंसात्मक क्रांति और 1688 की सांविधानिक क्रांति से उदारवादी राज्य की स्थापना की गई। हाब्स, जो निरंकुश शासन के समर्थन के लिए बदनाम है, वास्तव में पहले व्यक्तिवादी और उपयोगितावादी थे जिन्होंने उदारवादी राजनीति के मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। मैकफर्सन के अनुसार हाब्स के चिंतन का आधार पूंजीवादी व्यक्तिवादी और वाणिज्यवाद ही है। वाणिज्यवाद निरंकुश राज्य को व्यापार और कृषि की उन्नति के लिए आवश्यक मानता था।

लाक अंगरेजी और यूरोपीय उदारवाद के पिता माने जाते हैं। वे संपन्न वर्ग पर आधारित सांविधानिक सरकार की प्रणाली के पहले स्पष्ट समर्थक थे। उनके द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन और इन अधिकारों मे निजी संपत्ति के प्राकृतिक अधिकार पर विशेष जोर यूरोपीय उदारवादियों के चिंतन और आंदोलन के अंग मान लिए गए। इसी प्रकार उनका यह विश्वास कि सामूहिक हित की साधना और व्यक्ति के निजी अधिकारों की रक्षा में कोई विरोध नहीं है, हमेशा के लिए उदारवादी नीतियों और दृष्टिकोण का आधार मान लिया गया। उनका सुझाव कि सत्ता का आधार संपन्न वर्ग के नागरिकों की सहमति होना चाहिए, उदारवादी विचारधारा मे शामिल कर लिया गया।

अठारहवीं सदी मे वाल्टेयर और रूसो उदारवादी चिंतकों के सिरमौर माने गए। वाल्टेयर पहले बुर्जुआ लेखक थे जिन्होंने उदारवादी मध्यवर्गीय राज्य के लिए नागरिक

स्वतंत्रताओं की संकल्पना पेश की। रूसो फ्रांसीसी मध्यम वर्ग के उस अंश के प्रतिनिधि थे, जिसने फ्रांस की क्रांति में सबसे ज्यादा उग्रवादी भूमिका निभाई। वे पहले उदारवादी थे, जिन्होंने अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवाद की तुलना में समष्टिवाद और सामूहिक हित को अधिक महत्व दिया। उन्होंने तत्कालीन जनवादी आंदोलनों को वैचारिक प्रेरणा दी। उनके विचारों मे विवेक के स्थान में भावना और आवेगों को प्राथमिकता दी गई। उनके विचारों में सर्वहारा वर्ग के लिए संवेदना भी पाई जाती है। उन्होंने लोगों को अपने प्रति होने वाले अन्यायों के खिलाफ लड़ने के लिए ललकारा। फिर भी यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि कुल मिलाकर उनका प्रभाव परिवर्तनवादी रहा या यथास्थितिवादी। फ्रांस मे उनके शिष्यों मे मारात और रोबसपियर थे, जो उग्र जनतंत्रवादी थे। बाद में हीगल और सेविग्नी ने जर्मनी मे रूसो के सिद्धांतो से प्रतिक्रियावादी निष्कर्ष निकाले।

उन्नीसवी सदी राजनीति में उदारवादी दृष्टिकोण के प्रसार की सदी है। इंग्लैंड में उपयोगितावादी विचारकों ने, जिनमें बेंथम और जान स्टुअर्ट मिल प्रमुख हैं, व्यक्तिवादी उदारवादी राजनीति के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। ह्यूम का अनुसरण करते हुए उपयोगितावादियों ने लाक के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया। उन्होने स्वतंत्रता और निजी संपत्ति के अधिकारो के उपयोगितावादी आधारों की खोज की और उन्हें कानूनी अधिकारों की शक्ल दी। ऐडम स्मिथ ने उदारवादी विचारधारा के आर्थिक पक्ष की व्याख्या की। उन्नीसवी सदी के अंत तक राजनीति का उदारवादी दृष्टिकोण सभी प्रगतिशील औद्योगिक राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया।

ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके ने उदारवादी दृष्टिकोण को समष्टिवादी रूप देने की कोशिश की और आदर्शवादी राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू, कांट और हीगेल की दार्शनिक मान्यताओ को अपनी 'लिबरल' राजनीति का आधार बनाया। उन्होंने कहा कि राज्य श्रेणियों से ऊपर रहकर समाज के सामूहिक कल्याण का साधन है। ताकवील और हाबहाउस ने आदर्शवाद को बिना स्वीकार किए ही राजनीति के उदारवादी दृष्टिकोण मे समष्टिवादी परिवर्तन किए।

बीसवीं सदी में मैकीवर और लास्की ने बहुलवादी दृष्टिकोण से राज्य की नैतिक सर्वोच्चता और कानूनी संप्रभुता के सिद्धांतों की आलोचना की। उन्होंने कहा कि राज्य दूसरे समुदायों की तरह एक समुदाय है, जिसे सर्वोपरि मानने से दूसरे समुदायों की स्वतंत्रता और उन्नति को खतरा पैदा हो जाता है। मैकीवर और लास्की राज्य की तुलना में समुदायों (ग्रुप्स) को अधिक महत्व देते हैं। परंपरागत लिबरल दृष्टिकोण में व्यक्ति को साध्य और राज्य तथा समुदायों को साधन माना गया था। आदर्शवादी लिबरल व्यक्ति की तुलना में समुदाय को और समुदायों की तुलना मे राज्य को अधिक महत्व देते हैं किंतु ग्रीन जैसे आदर्शवादी व्यक्ति की भी अवहेलना नही करते। बहुलवादी मैकीवर और लास्की राज्य से कही अधिक समुदायों और उससे कुछ ही कम व्यक्ति को महत्व देते हैं।

संक्षेप में उदारवादी विचारक, आंतरिक मतभेदों के बावजूद, राजनीति को राज्य और समुदायों की गतिविधियों के रूप में देखते हैं। राज्य के अंतर्गत व्यक्तियों और

समुदायों के हितों में टकराव संभव है किंतु इस संघर्ष को सरकार अपनी समन्वयकारी नीतियों के द्वारा कम या दूर कर सकती है। सभी उदारवादी आर्थिक वर्गो की राजनीति को प्राथमिकता देने से इनकार करते है। उनके अनुसार व्यक्ति के आर्थिक हितों के कारण राज्य द्वारा सामूहिक हित की साधना में कोई स्थाई बाधा नही है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत वर्गसंघर्ष की राजनीति दूषित और संकटग्रस्त समाजों की राजनीति है। उसे स्थाई और स्वस्थ राजनीतिक प्रणाली की राजनीति नही माना जा सकता।

उदारवादी राजनीति का आर्थिक आधार आर्थिक क्षेत्र मे उदारवाद के प्रारंभिक रूप वाणिज्यवाद और प्रकृतिवाद थे। वाणिज्यवाद का उद्देश्य सोलहवीं और सत्रहवी सदी मे व्यापारियों और उद्योगपतियों के हितों के अनुकूल एक राज्यप्रणाली का निर्माण करना था। वाणिज्यवादी सुदृढ शासनप्रणाली चाहते थे। इनका विचार था कि परिश्रमी और उद्यमी व्यक्ति ही धन कमा सकते है और निर्धन और बेकार मनुष्य आलसी और कामचोर होने की वजह से समाज के प्रति अपराधी है। राज्य को धनी, उद्यमी और व्यापारी वर्ग को उन्नति के लिए सुविधाएं देनी चाहिए।

प्रकृतिवादियों ने राज्य द्वारा हस्तक्षेप के वाणिज्यवादी सिद्धांत को नही माना। उनकी माग थी कि राज्य व्यापार और उद्योगो के क्षेत्र मे कोई दखल न दे। प्रकृतिवादियों ने विवेकपूर्ण स्वार्थ को सामूहिक हित का आधार माना और फ्रांस के उपयोगितावादी हेल्वेशियस के सिद्धातों को आर्थिक क्षेत्र मे लागू करने का सुझाव दिया। उनकी राय थी कि राज्य को आर्थिक व्यवस्था के आधारभूत प्राकृतिक नियमों में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। सामाजिक सुख और समृद्धि लाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेकपूर्ण स्वार्थ की बुनियाद पर संपत्ति अर्जित करने की पूर्ण सुविधा मिलनी चाहिए। अगर निरंकुश शासन लोगों के आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप न करे, तो प्रकृतिवादियों को उससे कोई शिकायत नही थी। वे समझते थे कि जिन आर्थिक नियमों का वे समर्थन कर रहे थे, उन्हें प्रकृति ने बनाया है। प्रकृतिवादी जमीदारों के भूमि के स्वामित्व के अधिकार का भी समर्थन करते थे।

ऐडम स्मिथ आर्थिक उदारवाद के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि है। उदारवादी अर्थनीति के प्रतिपादन में रिकार्डो और माल्थस ने उनका साथ दिया। इन्होंने राजनीति और अर्थनीति को अलग करने की राय पेश की। यह अलगाव वास्तविक जीवन में नामुमकिन था। ऐडम स्मिथ, रिकार्डो और माल्थस का आर्थिक उदारवाद अंगरेज बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा थी। ब्रिटिश राज्य पर जमीदार वर्ग का नियंत्रण होने के कारण अंगरेज व्यापारी और उद्योगपति राज्य के प्रति अविश्वास और संदेह की भावना से भरे हुए थे। इसलिए वे अभिजातवर्गीय राज्य द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप के कटु आलोचक थे क्योंकि इस प्रकार से हस्तक्षेप से उद्योगों के विकास में बाधा पड़ती थी।

राजनीतिक अर्थनीति की क्लासीकल विचारधारा दो मुख्य धारणाओं पर आधारित थी। पहली धारणा तो यह थी कि समाज एक खुला बाजार है जहा वस्तुओं का स्वतंत्र रूप से क्रय-विक्रय और विनिमय होता है। यह प्रक्रिया उत्पादक और उपभोक्ता के हितों में पूरी तौर से सामंजस्य कर देती है क्योंकि सभी व्यक्ति अपने लाभ

को ध्यान में रखकर चीजो को खरीदते और बेचते हैं। दूसरी धारणा यह थी कि सामाजिक धन का प्राकृतिक आर्थिक नियमो के अनुसार लगान, मुनाफे और मजदूरी के रूप में जमीदारों, पूंजीपतियों और मजदूरों में बंटवारा कर दिया जाता है। वितरण के इस नियम से समाज मे वर्गसंघर्ष की स्थितियां पैदा होती हैं।

रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत मूल्य के श्रमसिद्धांत से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है। उनका मत था कि खुले बाजार में प्रतियोगिता पर आधारित अर्थव्यवस्था मे वस्तुओ के विनिमय के मूल्य बुनियादी तौर पर उत्पादन में निहित श्रम के द्वारा निर्धारित होते हैं। विनिमय के समय किसी वस्तु की कीमत माग और पूर्ति के अस्थाई उतार-चढ़ाव की वजह से कुछ कम-ज्यादा भी हो सकती है। स्वतंत्र बाजार की अर्थनीति में उत्पादकों को अपनी चीजों की सही कीमतें मिलेंगी और उपभोक्ताओं को संतोष रहेगा कि उन्हे कम दाम मे अच्छी से अच्छी वस्तु मिल गई है।

माल्थस और रिकार्डो के अनुसार जमींदार और समाज के बाकी वर्गो मे विरोध की स्थिति है। जमीदार का लगान उसके श्रम का प्रतिफल नहीं है। उद्योगीकरण, शहरीकरण या अन्य कारणों से जमीन के किराए और लगान में वृद्धि हो सकती है। जमीदार बिना कोई श्रम किए ही जमीन के मूल्य की वृद्धि का नफा उठाता है। जबकि व्यापारी, उद्योगपति, मजदूर और किसान अपने श्रम के जरिए समाज के धन की वृद्धि करते हैं। जमीदार एक सामाजिक बोझ के रूप मे दूसरों के श्रम पर जीवित रहते हैं और ऐश करते हैं। माल्थस के अनुसार भी जमीदार का किराया, लगान या मुनाफा हमेशा पूंजीपति के मुनाफे से कटौती करने पर प्राप्त होता है, क्योकि उनके सिद्धात के अनुसार मजदूर की मजदूरी उसके जीवननिर्वाह की कीमत के इर्दगिर्द स्थिर रहती है। इस प्रकार इन उदारवादी अर्थशास्त्रियों का उद्देश्य जमीदार वर्ग के हितों पर चोट पहुंचाना और बुर्जुआ औद्योगिक वर्ग के हितो की रक्षा करना था।

इसके साथ साथ क्लासीकल अर्थनीति का उद्देश्य पूजीपतियों के हितो की श्रमजीवियों के प्रसार से रक्षा करना भी था। उनका ख्याल था कि मजदूरी प्राकृतिक नियम के अनुसार मनुष्य के श्रम की उचित कीमत है। यह कीमत मजदूर के जिंदा रहने और संतान पैदा करने की बुनियादी जरूरतों के आधार पर निश्चित होती है। वे मजदूर यूनियनों की स्थापना के खिलाफ थे और हड़ताल द्वारा मजदूरी बढ़ाने के तरीकों को *आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकारक समझते थे। उनका सामान्य राजनीतिक दृष्टिकोण* उपयोगितावादी था लेकिन वे अर्थनीति में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत से चिपके हुए थे।

लास्की का कथन है : 'आर्थिक उदारवाद ऐसा सिद्धांत था जो समाज के एक संकीर्ण वर्ग की सेवा करना चाहता था। उसके परिचालन की कीमत कारखाने के श्रमिक और खेतिहर मजदूर को भुगतनी पड़ी जिसे यूनियन बनाने की इजाजत न थी, जिसे अधिकतर अभी वोट का हक नही मिला था, जो ऐसी अदालतों के शिकंजे में था जो बुर्जुआ वर्ग की जायदाद की रक्षा करना अपनी जिंदगी का खास मकसद मानती हैं।'[3]

इसी प्रकार आर्थिक उदारवाद के बारे में सेबाइन ने कहा है : 'प्रतियोगिता पर

आधारित श्रमबाजार के स्वाभाविक न्याय के समर्थन मे मूल्य के श्रम सिद्धांत का उपयोग करना सर्वथा अनुचित था। कहा गया कि वस्तुओं का विनिमय उनमें निहित श्रम के परिमाण के आधार पर होता है। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन की व्यवस्था मे श्रम में मशीनों इत्यादि मे लगी हुई पूजी को भी शामिल कर लिया गया। इसे 'सचित श्रम' के नाम से पुकारा गया, पर जाहिर है कि इसमें पूजीपति का अपना श्रम संचित नही था। इसलिए जबकि मजदूर को अपने श्रम का इनाम मिलता था तो पूजीपति को दूसरे मनुष्यों के संचित श्रम का इनाम मिल जाता था। मजदूरी और संपत्ति अधिकार दोनों को प्राकृतिक मानकर उनका समर्थन किया गया और इस बात का कोई ख्याल नही किया गया कि कम से कम संपत्ति का अधिकार तो ऐतिहासिक और संस्थागत घटनाओं का नतीजा था। इसी पक्षपात और ऐतिहासिक भावना के अभाव की वजह से क्लासीकल अर्थशास्त्र मार्क्स की आलोचना का शिकार बना।'[4]

सामूहिक हित की राजनीति : उदारवादियों का विचार है कि समाज में जितने हितसमूह होते हैं, वे संगठन के द्वारा राजनीतिक प्रणाली के संचालन पर प्रभाव डालते हैं। उनके प्रतिनिधि राजनीतिक दलों में भी शामिल हो जाते हैं और अपने स्वतत्र संगठनों द्वारा राजनीतिक दलों की नीति पर प्रभाव डालते है। संसद मे जब कानून बनते है, तो यह देखा जाता है कि अधिकतर संगठित हितसमूह उसे स्वीकार कर लेंगे। अगर यह कृषि-सुधार का कानून है तो इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि खेती में लगे हुए सभी वर्गों के हितों मे सामंजस्य कर लिया जाए। जमींदारी उन्मूलन कानून के द्वारा जमीदारों को काफी मुआवजा देकर संतुष्ट रखा जाएगा; किसान अपनी जमीन के मालिक बनकर खुश होंगे और खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी जाएगी। इस प्रकार उस कानून से सभी वर्गों को कुछ न कुछ फायदा होगा। इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में व्यापारियों, उद्योगपतियो, मजदूरो और उपभोक्ताओ के हितों में सामंजस्य रखते हुए कानून बनाए जाएंगे।

उदारवादी राजनीति के तीन रूप हो सकते है। राजनीति का उपयोग सर्वप्रथम यथास्थिति को कायम रखने के लिए किया जा सकता है। ऐसे हितसमूह, जिन्हें यथा-स्थिति से लाभ है, अपनी ओर से कोशिश करते हैं कि कोई परिवर्तन न हो। ये तत्व किसी रूढ़िवादी या अनुदार दल में शामिल हो जाते है। दूसरी ओर कुछ ऐसे हितसमूह है, जो यथास्थिति मे परिवर्तन की माग करते हैं। ये किसी परिवर्तनवादी या उग्रदल में शामिल हो जाते है। इन दोनों दलों के बीच मे कुछ ऐसे हितसमूह होते है जो उग्र परिवर्तन के विरोधी है किंतु यथास्थिति से भी संतुष्ट नही हैं। सरकार के रूप में शासन की बागडोर चाहे यथास्थितिवादियो के हाथ में हो और चाहे उग्रवादियों के, उन्हे सामूहिक हित को ध्यान में रखते हुए ही अपनी नीतियों का निर्धारण करना पड़ेगा और क्रमिक सुधार का कार्यक्रम अपनाना पड़ेगा।

उदारवादी राजनीति में मतभेदो का होना संभव है परंतु ये मतभेद समाज के मूलभूत ढाचे के बारे में नही होने चाहिए। इंग्लैंड मे हित समूह तीन राजनीतिक दलों में बंटे हुए है : कंजरवेटिव, लिबरल और लेबर। इनमें कोई दल ब्रिटिश समाज के पूज

नए समर्थन की प्रक्रिया शुरू होती है। सभी मागों को स्वीकार नही किया जाता। अस्वीकृत मांगें निर्गम की स्थिति तक नही पहुंचतीं। यदि ये मांगें उग्र हों तो तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। उदाहरणार्थ दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के आधार पर भेदभाव हटाने की माग वहां की राजनीतिक प्रणाली मे तनाव पैदा करती है।

व्यवस्था पर दबाव को न्यूनतम रखने के लिए मागों और समर्थन मे समानता होना आवश्यक है। मांगों पर नियंत्रण रखने के कई तरीके हैं। पहला तरीका संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) है। समाज के मुख्य राजनीतिक संगठन, जैसे प्रभावक गुट और राजनीतिक दल मांगों को नरम और सामान्य करने मे सहायता पहुंचाते हैं। सांस्कृतिक समुदाय और संगठन मांगों के औचित्य पर विचार कर अनुचित मांगों का विरोध कर सकते हैं। संचार के माध्यम से मांगों पर अंकुश लगाया जा सकता है। संसद, कार्यपालिका या नौकर शाही परिवर्तन प्रक्रिया से ही मागों का नियंत्रण और उनमे आवश्यक संशोधन कर सकती है।

अगर सरकार के अधिकारपूर्ण निर्णयों से राजनीतिक व्यवस्था के अधिकांश लोग असंतुष्ट होंगे तो उस व्यवस्था में असंतुलन पैदा होगा। असंतुलन को रोकने के लिए *निवेशों और निर्गमो यानी मांगों, समर्थन, निर्णयों और नीतियों—मे तालमेल बैठाने* की जरूरत है। इस प्रक्रिया का एक उदाहरण प्रस्तुत है। हिंदू समाज मे स्त्रियों को अपने पिता की संपत्ति मे हिस्सा नही दिया जाता था। संसद में महिला सदस्यों ने मांग की कि स्त्रियो को पुरुषो के बराबर पिता की संपत्ति मे हिस्सा मिले। भारत के महिला संगठनों ने इस मांग को काफी दिनों से उठा रखा था। कांग्रेस ने एक राजनीतिक दल के रूप में इस पर विचार किया और उसे आशिक रूप से मान लिया। सोशलिस्ट तथा कम्युनिस्ट पार्टियों ने महिला संगठनो की मांग का ज्यों का त्यों समर्थन किया। हिंदू महासभा, जन संघ तथा कुछ हिंदूवादी कांग्रेसियों ने इसका विरोध किया। प्रधानमंत्री नेहरू लड़कियों को लड़को के बराबर का हिस्सा देना चाहते थे। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद लड़कियों को हिस्सा देने के विरोधी थे। हिंदू कोड बिल, जिसके द्वारा यह अधिकार स्त्रियों को दिया जाने वाला था, पास न हो सका। नए चुनाव के बाद ससद ने कानून द्वारा पिता की संपत्ति मे लड़कियों को लड़को से आधा हिस्सा दे दिया। इस प्रकार विभिन्न हित समूहों और राजनीतिक दलों के दृष्टिकोण में तालमेल बैठाया गया। स्त्रियां आधा हिस्सा पाकर खुश हो गई और पुरुष इस बात से संतुष्ट रहे कि उनका हिस्सा स्त्रियों से दुगुना है।

व्यवस्था विश्लेपण सिद्धांत उपर्युक्त पद्धति से राजनीति में हितसमूहो के कार्यों का अध्ययन करने का समर्थक है। आमड ने इसी सिद्धात के आधार पर अपने 'निर्माण-परक कार्यवाद' (स्ट्रक्चरल फंकशनलिज्म) के सिद्धांत की व्याख्या की। आमंड इस पद्धति के द्वारा इस बात की व्याख्या करते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था में कौन से राजनीतिक संगठन क्या बुनियादी कार्य करते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल एक महत्वपूर्ण संगठन है, जो कई बुनियादी कार्य करता है। वह मतदाताओं की मागो को सरकार तक पहुंचाता है, वह महत्वपूर्ण सवालों पर राजनीतिक जागृति पैदा करता है;

और वह अधिक से अधिक लोगों को राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सा लेने को प्रेरित करता है और उसके लिए अनुकूल वातावरण बनाता है। इन कार्यों के द्वारा राजनीतिक दल व्यवस्था का सतुलन कायम रखता है।

प्रभावक गुट, हितसमूह, विशिष्ट वर्ग तथा सरकारी संस्थाएं भी इन कार्यों को कर सकती हैं। अराजनीतिक सस्थाएं भी राजनीतिक कार्य कर सकती हैं। उदाहरणार्थ चर्च या ट्रेड यूनियन राजनीतिक संस्था नही हैं। फिर भी वह राजनीतिक प्रक्रिया पर प्रभाव डाल सकती है। जिन राज्यों मे राजनीतिक दल नही होते वहां प्रभावक गुट, विशिष्ट वर्ग और सरकारी संस्थाएं ही उनके कार्यों को कर लेती हैं।

आमड की निर्माणपरक कार्यवाद पद्धति का उपयोग अमरीका के राजनीतिक लेखक तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के लिए करते हैं। यह उदारवादी राजनीति को संगठनो स्ट्रक्चर्स और समूहो (ग्रुप्स) की क्रियाग्रो, प्रक्रियाओं और अंतःक्रियाओ के रूप में पेश करती है। एलेन बाल का कथन है: 'निर्माणपरक कार्यवाद प्रणाली को तुलनात्मक सरकार के अध्ययन के लिए व्यापक रूप से अपनाया गया है क्योकि यह प्रणाली एक दूसरे से मेल न खाने वाली विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओ के लिए प्रतिमान प्रस्तुत करती है। इस प्रणाली की आलोचना एक हद तक इस कारण हुई है कि यह राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने से संबंध रखती है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसलिए यह प्रणाली यथास्थिति को तर्कसगत बताने लगती है।'[6]

राजनीति के विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्सवादियों के अनुसार राजनीति एक ऐतिहासिक विज्ञान है। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' मे मार्क्स ने बताया था कि मनुष्य का इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास है। प्रारंभ मे मनुष्य आदिम साम्यवाद की स्थिति मे था। आदिम साम्यवादी समाज मे वर्गभेद, निजी संपत्ति और राजनीतिक सगठन के लिए कोई स्थान नही था। समाज मे निजी संपत्ति, राजनीतिक व्यवस्था और वर्गभेद की शुरुआत एक साथ हुई। आदिम साम्यवाद के बाद दासता पर आधारित समाज की स्थापना हुई। उसके बाद सामंतशाही का युग आया। सोलहवीं सदी से पूजीवादी युग शुरू हुआ। ये तीनो वर्गभेद पर आधारित समाजों के उदाहरण हैं। समाज मुख्य रूप मे शोषक और शोषित वर्गों मे विभाजित रहा है। राज्य शोषक वर्ग के हाथ में एक उपकरण है, जिसके द्वारा वह शोषित वर्गों के शोषण को कायम रखता है। अतः राजनीति भी वर्गों मे विभक्त समाजों मे सदा वर्गसंघर्ष की राजनीति होती है।

समाज के राजनीतिक जीवन में अत्यधिक विविधता और जटिलता है। राजनीतिक इतिहास मे विभिन्न समुदायों, वर्गों और जातियो में अनेक संघर्ष और युद्ध हुए हैं और विविध प्रकार के अंतर्विरोधी पैदा हुए हैं। समाज मे आंतरिक संघर्षों के अलावा राष्ट्रों और राज्यो के बीच भी राज्यविस्तार के लिए लडाइयां हुई हैं। क्रांति के बाद प्रतिक्रिया, प्रगति के बाद गतिहीनता और शांति के बाद युद्ध इतिहास की विशेषता रही है। सबसे पहले मार्क्सवाद ने ही इन घटनाओं और परिवर्तनों की व्याख्या के लिए एक सिद्धांत प्रस्तुत किया था। इसी को वर्गसंघर्ष के सिद्धांत के नाम से पुकारते हैं। आधुनिक युग में

इस सिद्धांत का उपयोग मजदूर वर्ग पूंजीवादी समाज की शोषण प्रक्रिया के विश्लेषण के लिए करता है।

वर्गभेद और वर्गसंबंधों का आधार : विभिन्न सामाजिक स्तर के लोगों में संघर्षों और अंतर्विरोधों का ज्ञान कुछ विचारकों को मार्क्स से पहले भी था। परंतु उनके दिमाग में सामाजिक वर्गों की सही तस्वीर नहीं थी। उन्होंने इन संघर्षों के बहुत से कारण गिनाए परंतु मुख्य और महत्वपूर्ण कारण की ओर संकेत न कर सके। वर्गविभाजन के जिन सिद्धांतों की उन्होंने चर्चा की, उनमें सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत को उन्होंने नजर अंदाज कर दिया। यही विशेषता मार्क्स के बाद भी बुर्जुआ समाजविज्ञान की रही है। बुर्जुआ समाजशास्त्री मानते हैं कि समाज में बहुत से वर्ग और समूह (ग्रुप्स) है। परंतु इस स्तरीकरण (स्ट्रेटीफिकेशन) का क्या आधार है ? उनके विचार में सामाजिक प्रतिष्ठा, नैतिक चरित्र, एक जैसी मनोवृत्तियां, धर्म, नस्ल, जाति इत्यादि के कारण समाज में स्तरीकरण के भेद पैदा होते हैं।

सेमूर लिप्सेट आर्थिक रहन-सहन और आमदनी के आधार पर सामाजिक वर्गों की परिभाषा करते हैं। मास्का राजनीतिक सत्ता के आधार पर समाज को शासक वर्ग और शासित वर्गों में बांटता है।[7] लिप्सेट के अनुसार आमदनी के हिसाब से उच्च, मध्यम और निम्न वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में फिर उच्च, मध्यम और निम्न श्रेणियां हैं। इस प्रकार समाज में आय के स्तर के अनुसार नौ श्रेणियां हैं। मास्का के अनुसार शासक वर्ग में वे लोग हैं जो राजनीति और प्रशासन में उच्च पदों पर बैठे हुए हैं। डाहरन डोर्फ भी मास्का की परिभाषा को सत्ता की व्याख्या के दृष्टिकोण से सही मानते हैं।

मार्क्सवादी सामाजिक वर्ग की मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा सत्तावादी परिभाषाओं को अपूर्ण और भ्रांतिमूलक मानते हैं। उनके अनुसार वर्ग की स्थिति उत्पादन प्रक्रिया में उसके स्थान से निर्धारित होती है। समाज में एक वर्ग उत्पादन के साधनों का मालिक होता है और दूसरा वर्ग परिश्रम से अपनी जीविका कमाता है और शोषित वर्ग कहलाता है। यह स्थिति उस वर्ग की समाज, राजनीतिक जीवन और संस्कृति के क्षेत्र में उसकी भूमिका निर्धारित करती है। लेनिन ने सामाजिक वर्गों की परिभाषा इस प्रकार की है : 'वर्ग लोगों के ऐसे बड़े समूह है, जिनमे इतिहास द्वारा निर्धारित सामाजिक उत्पादन प्रणाली में उनकी स्थिति के कारण, उत्पादन के साधनों से उनके संबंध के कारण (ये संबंध अकसर कानून निश्चित कर देता है), श्रम के सामाजिक प्रबंध में उनकी भूमिका के कारण और फलतः सामाजिक धन में अपना हिस्सा बंटाने के और-तरीकों के कारण अंतर पैदा हो जाता है।[8]

अतः वर्ग लोगों के वे समूह है जिनमें एक वर्ग दूसरे वर्ग के श्रम का शोषण और अपहरण कर सकता है क्योंकि अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिकाएं भिन्न भिन्न हैं। शोषण पर आधारित समाज में आर्थिक वर्गों का विभाजन ही सामाजिक अन्याय की जड़ है। जैसाकि माओ-त्से-तुग ने कहा है कि समाज में शोषण के प्रचलन की वजह न तो ईश्वर की इच्छा है और न व्यक्तियों का चारित्रिक अंतर। ये बुर्जुआ विचारकों की कल्पनाएं हैं। इसका कारण यह है कि कुछ लोग दमन करनेवाले और विशेषाधिकारों से युक्त वर्ग के

हैं और कुछ उस वर्ग के सदस्य हैं जिसे दमन, दरिद्रता और अधिकारहीनता का जानबूझकर शिकार बना लिया गया है।

राष्ट्र तथा वर्गविभाजन : मार्क्सवाद के अनुसार राष्ट्र ऐतिहासिक कारणों से संगठित लोगों का स्थाई समुदाय है, जो सामान्य भाषा, भूखंड, आर्थिक जीवन और समान संस्कृति की अभिव्यक्ति के रूप में मानसिक चरित्र पर आधारित होता है। राष्ट्रीयता राष्ट्र के अंदर वर्गभेदों को मिटा नहीं सकती। वस्तुत: वर्गभेद के कारण राष्ट्र दो लड़ाई करनेवाले खेमों में बंट जाता है। राष्ट्रीय एकता न केवल वर्गभेद को समाप्त करने में असमर्थ है बल्कि जब तक हम इस वर्गविभाजन पर पूरी तौर से ध्यान न दें, राष्ट्रीय आंदोलन और राजनीति की सही व्याख्या करना असंभव हो जाएगा।

वास्तव में वर्गगत निष्ठा राष्ट्रीय सीमाओं से बंधकर नहीं रहती। अमरीका, जर्मनी और फ्रांस के पूंजीपति भिन्न भिन्न भाषाओं के बोलनेवाले पृथक राष्ट्र हैं। परंतु वे समाजवाद, मजदूर आंदोलन और औपनिवेशिक देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का विरोध करने के लिए एक हो जाते हैं। दक्षिण अफ्रीका के गोरे पूंजीवादी शासकों की रंगभेद की नीतियों का वे एक स्वर से समर्थन करते हैं।

इसी प्रकार दुनिया के मजदूर भिन्न भिन्न राष्ट्रों और जातियों के सदस्य हैं किंतु भावना से वे अपने को एक अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग का सदस्य मानते हैं। उनके अंतर्राष्ट्रीय हित, उद्देश्य और विचार उन्हें एक सुसंगठित समुदाय बना देते है। उदाहरण के लिए अमरीकी पूंजीपतियों के वियतनाम पर आक्रमणकारी युद्ध के विरोध मे रूस, चीन, भारत, यूरोप और यहा तक कि अमरीका का सर्वहारा वर्ग भी वियतनाम के सर्वहारा वर्ग का समर्थन करता था। यही कारण था कि अंत में वियतनाम के संघर्ष में अमरीकी साम्राज्यवाद की हार हुई।

मार्क्स के अनुसार राष्ट्रीयता का विकास एक ऐतिहासिक घटना है, जो समाज के पूंजीवादी चरण से जुड़ी हुई है। बुर्जुआ वर्ग राष्ट्र को स्थाई संस्था मानता है और वर्ग सहयोग को राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का आधार मानता है। इसके विपरीत मार्क्स का विचार है कि मजदूरों की कोई मातृभूमि नही है। फिर भी इतिहास के बुर्जुआ चरण में राजनीति राष्ट्रीय सीमाओं से बंधी हुई है। इसलिए वर्गसंघर्ष की राजनीति का रूप राष्ट्रीय विशेषताओं के आधार पर निर्धारित होता है। विभिन्न राष्ट्रों के वर्गों मे वर्गचेतना का स्तर भिन्न भिन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ अमरीका के मजदूर अपने रहन-सहन की उन्नति के कारण उस वर्गचेतना से रहित हैं जो फ्रांस या इटली के मजदूर वर्ग में पाई जाती है।

बुर्जुआ समाज का श्रेणीविभाजन : बुर्जुआ समाज की दो बुनियादी श्रेणियां पूंजीपति और श्रमजीवी है। पूंजीपति वर्ग उत्पादन के बुनियादी साधनों का मालिक है, जो मजदूरों के खरीदे हुए श्रम के शोषण पर जीवित रहता है। किसी जमाने मे बुर्जुआ वर्ग ने पतनोन्मुख सामंती प्रणाली से लड़कर समाज के विकास मे प्रगतिशील भूमिका निभाई थी। मुकाबले की भावना और मुनाफे की इच्छा से प्रेरित होकर, इस वर्ग ने महत्वपूर्ण उत्पादक शक्तियों का विकास किया। इस प्रकार वह समाज का शासक वर्ग बन गया।

पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोधों के बढ़ने से यही बुर्जुआ पूजीपति वर्ग बाद में प्रतिक्रियावादी वर्ग बन गया और समाज के आगे विकास में रोड़े अटकाने लगा। पूजीवादी समाज में अतुल धन का असली उत्पादक श्रमजीवी वर्ग है। उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के अभाव में इस वर्ग को अपनी श्रमशक्ति पूजीपति वर्ग को बेचनी पड़ती है। पूंजीपति मजदूर के श्रम को खरीदकर उससे दुगुना-चौगुना मुनाफा कमा लेते हैं।

जैसे जैसे पूंजीवाद विकसित होता है, बड़े पूजीपतियों की पूंजी बढ़ती जाती है और मजदूर वर्ग के शोषक और क्रोध में भी वृद्धि होती जाती है। मजदूर वर्ग अनुशासित और संगठित होकर पूजीपतियों से संघर्ष शुरू कर देता है। पूजीवाद के विकास के साथ साथ उसकी कब्र खोदनेवाले मजदूर वर्ग का विकास होता है, जो आगे चलकर उत्पादन की समाजवादी प्रणाली की स्थापना करता है।

पूजीवादी समाज में इन बुनियादी वर्गो के अलावा दूसरे वर्ग भी होते हैं। पूजी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की हर शाखा मे प्रवेश करती है और उसे बदल देती है किंतु वह पुरानी आर्थिक पद्धति को कही भी समूल नष्ट करने मे असफल रहती है। इसलिए अनेक पूंजीवादी देशों में आज भी बड़े जमीदारों का वर्ग बचा हुआ है। ये जमीदार अपनी रियासत की अर्थनीति को पूजीवादी पद्धति पर चलाते हैं, मौका मिलने पर कारखाने भी खोल लेते हैं और कंपनियों के शेयर खरीदकर पूजीपति वर्ग में मिल जाते हैं। जमींदार-वर्ग के अनेक सदस्य सेना और सरकार के बड़े पदाधिकारी बन जाते है। अपने हितों, विचारों और राजनीतिक मान्यताओं की वजह से बडे जमीदार बुर्जुआ वर्ग के सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी अश हैं और कुछ परिस्थितियों में ये फासिस्ट तानाशाही के सबसे बड़े हिमायती बन जाते हैं। जर्मनी के युकर जमीदारों ने हिटलर की नाजी तानाशाही का उत्साह से समर्थन किया था।

किसान वर्ग भी पूजीवादी समाज को सामंतशाही से विरासत मे मिला है। धनी किसानों के कुलक वर्ग को छोडकर, अधिकतर किसान एक शोषित वर्ग के सदस्य हैं। किसानो के शोषण के बहुत से तरीके हैं : सरकार की मालगुजारी, जमीदार का लगान, कर्ज की गुलामी, जमीदार और कुलक के खेतों में बंधक मजदूरी इत्यादि। इसके अतिरिक्त किसानों का शोषण पूंजीपति उन्हे ऊंची कीमतों पर उपभोक्ता वस्तुओ को बेचकर करते हैं।

अपने खेतों पर काम करने वाले किसानों, दस्तकारो छोटे दूकानदारों, और कारीगरों का एक बड़ा समूह निम्न बुर्जुआ वर्ग का सदस्य माना जाता है। इनके पास थोड़ी पूंजी है पर ये दूसरे वर्गों के श्रम का शोषण नही करते। पूजीवादी समाज मे इनकी स्थिति बीच की है। श्रेणीसंघर्ष में इनकी दोहरी भूमिका रहती है। निजी संपत्ति होने की वजह से ये बुर्जुआ वर्ग के साथ रहते हैं किंतु स्वयं अपने श्रम पर निर्भर होने तथा पूजीपति वर्ग द्वारा शोषित होने के कारण इनकी सहानुभूति श्रमजीवियों के साथ भी हो जाती है।

उद्योग, तकनीकों, शिक्षा, संस्कृति और प्रशासन के विकास के कारण समाज में बुद्धिजीवियों का एक व्यापक समूह बन जाता है। इस वर्ग में इंजीनियर, शिक्षक, डाक्टर वकील, दफ्तरों के कर्मचारी, लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक आदि शामिल हैं। यह

वर्ग नही है क्योंकि इसके सदस्य समाज की भिन्न भिन्न श्रेणियों से भरती किए जाते हैं। किंतु बहुसंख्यक बुद्धिजीवी संपन्न वर्गों के सदस्य होते हैं। थोड़े से बुद्धिजीवी श्रमिक वर्ग से आते हैं। उच्च श्रेणी के बुद्धिजीवी जैसे उच्च पदाधिकारी, बड़े वकील, सफल डाक्टर आदि पूंजीपतियों के निकट होते हैं। नीचे स्तर के बुद्धिजीवी श्रमजीवियों से सहानुभूति रखते है। सभी स्तरों के बुद्धिजीवी विश्वास के कारण या श्रमिक आंदोलन की तीव्रगति से प्रभावित होकर व्यक्तिगत रूप से मार्क्सवादी बन सकते हैं और श्रमजीवियों के साथी हो जाते हैं।

समाज में एक भ्रष्ट सर्वहारा वर्ग होता है, जिसमे गुंडों, अपराधियो, चोरों, भिखारियो, वेश्याओं आदि को शामिल किया जा सकता है। कुछ अराजकतावादी लेखकों माओ-त्से-तुग और फ्राज फैनन का विचार है कि उपयुक्त नेतृत्व मिलने पर इन्हें क्रांति का वाहक बनाया जा सकता है। किंतु इटली और जर्मनी मे इनका उपयोग प्रतिक्रियावादी फासिस्टो ने किया था। अमरीका मे संपन्न वर्ग इनका उपयोग नीग्रो या मजदूर वर्गों के सदस्यो को धमकाने और पीटने के लिए करते हैं।

आधुनिक पूंजीवाद मे पूंजीपतियो को भी दो उपवर्गों मे बांटा जा सकता है। एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग अन्य पूंजीपतियों की तुलना मे अधिक प्रतिक्रियावादी होता है। अल्पविकसित पूंजीवादी समाज मे एकाधिकारी और राष्ट्रीय पूंजीपतियों में अंतर किया जा सकता है।

पूंजीवादी समाज की राजनीति को समझने के लिए उपर्युक्त सभी श्रेणियो के आपसी अंतर्विरोधों का अध्ययन करना जरूरी है। मार्क्सवाद के अनुसार इस समाज का मुख्य अंतर्विरोध या शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध केवल पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग के बीच मे होता है।

राजनीति और श्रेणीसंघर्ष : मनुष्य के इतिहास मे राजनीति और श्रेणीसंघर्ष का उदय एक साथ हुआ है। निजी संपत्ति की स्थापना के बाद समाज दो शत्रु वर्गों मे बंट गया। आर्थिक विषमताओं और शोषण की प्रक्रिया को जारी रखने के लिए शोषक वर्ग ने सरकार का निर्माण किया। शोषक वर्ग अल्पसंख्यक था। उसने बहुसंख्यक शोषितों के दमन के लिए बलप्रयोग का सहारा लिया; फौज और पुलिस के दस्ते बनाए; जेल और अदालतें बनाईं; तथा कानून और सरकार के पूरे ढांचे का निर्माण किया। इस ढांचे की मदद से आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्ग ने शोषित और विरोधी वर्ग को अपने आधीन रखा और जबरदस्ती इस व्यवस्था को कायम रखा जो शोषक वर्ग के लिए फायदेमंद थी। दासता के युग में शोषक वर्ग की राजनीति का उद्देश्य मालिक वर्ग के शोषण की प्रक्रिया को मजबूत करना था। सामंतशाही के युग मे राजनीति का आधार सामंतो और कृषक दासों का श्रेणीसंघर्ष था।

बुर्जुआ लोकतंत्रीय राज्य में भी राजनीति की बुनियादी समस्याएं श्रेणीसंघर्ष से जुड़ी हुई हैं। यह श्रेणीसंघर्ष पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच होता है। पूंजीपतियों ने प्रतिनिधिशासन की स्थापना की किंतु जब तक मजदूर वर्ग ने अपने आंदोलन द्वारा उन पर दबाव नही डाला, उन्होंने मजदूरो को वोट का हक नही दिया। उन्होंने शुरू मे मजदूरों

की यूनियनों को गैरकानूनी संस्थाएं घोषित कर दिया। यूनियन बनाने के अधिकार के लिए भी मजदूर वर्ग को संघर्ष करना पड़ा।

जिस तरह पूंजीवाद की आर्थिक प्रणाली ने मजदूरों के शोषण को कायम रखा उसी तरह बुर्जुआ लोकतंत्र के संविधान और राजनीतिक प्रणाली के द्वारा इस शोषण को राजनीतिक वैधता प्रदान की गई। बुर्जुआ संविधान और अदालतें, बुर्जुआ सरकार और संसद, बुर्जुआ राजनीतिक दल और नौकरशाही असीमित पूंजी एकत्र करने और असीमित मुनाफे कमाने के पूंजीवादी अधिकारों का ऐलान करते हैं।

अगर उपर्युक्त पूंजीवादी अधिकारों के लिए मजदूरो के आंदोलन और श्रेणीसंघर्ष के कारण कोई खतरा उत्पन्न हुआ तो, जैसा इटली, जर्मनी और स्पेन के उदाहरणों से साफ जाहिर है, पूंजीपति वर्ग ने फासिस्ट तानाशाही की राजनीति को स्वीकार कर लिया। लास्की का कथन है कि बुर्जुआ वर्ग लोकतंत्रीय राजनीति के खेल को तभी तक खेलने के लिए राजी रहता है, जब तक निर्वाचनों में उसे विजय प्राप्त होती रहती है। श्रेणीसंघर्ष की तीव्रता बढ़ने पर उसे डर होता है कि मजदूर वर्ग निर्वाचन की राजनीति द्वारा सरकार पर कब्जा न कर ले। इसी डर के कारण जर्मनी के पूंजीपतियों ने हिटलर की राजनीति का समर्थन किया था।

प्रतिक्रियावादी लेखक श्रेणीसंघर्ष को प्रगति में बाधक और लोकतंत्र के लिए अस्वाभाविक मानते हैं। वस्तुतः वर्तमान युग मे श्रेणीसंघर्ष के द्वारा ही समाज ने प्रगति की है। अगर पूंजीपतियों का वश चलता तो वे सदा अपनी तानाशाही या कुलीनतंत्र को सुरक्षित रखते और तकनीकी उन्नति करने के बजाय मजदूरों को कम मजदूरी देकर और ज्यादा समय तक काम कराकर अपने मुनाफों की दर बढ़ा लेते। शोषित वर्गों के संघर्ष के कारण ही आज लोकतंत्रीय और समाजवादी राजनीतिक प्रणालियो का विकास संभव हो सका है।

सामाजिक क्रांति की राजनीति : श्रेणीसंघर्ष का महत्व उस समय साफ दिखाई पड़ता है जब पतनोन्मुख सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की जगह नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का जन्म होता है। इसे सामाजिक क्रांति का युग कहा जा सकता है। उत्पादन की शक्तियों और संबंधों में पहले धीरे धीरे परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के कारण पुराने समाज के श्रेणीसंबंधों और नए समाज के श्रेणीसंबंधों में अंतर्विरोध पैदा हो जाते हैं। लेकिन जब तक श्रेणीसंघर्ष द्वारा नए उदय होते हुए वर्ग पुराने उत्पादन संबंधों को बुनियादी तौर से तोड़कर न रख दें, केवल क्रमिक विकास के द्वारा नए आर्थिक समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। कोई भी शोषक वर्ग क्रांति या हिंसात्मक दबाव के बगैर अपनी संपत्ति और विशेषाधिकारों को नहीं छोड़ता।

पतनोन्मुख शासक वर्ग सिर्फ एक छोटा सा गुट नहीं है, जिसके हितों और समाज के हितों मे संघर्ष उत्पन्न हो गया है। वह काफी समय से समाज की संगठित शक्ति सेना, सरकार आदि का नियंत्रण करता रहा है। वह आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक सत्ता के प्रयोग का आदी बन चुका है। इसलिए प्रगतिशील वर्गों के लिए यह जरूरी है कि एक सामाजिक क्रांति के जारिए समाज की आर्थिक, राजनीतिक और

धारात्मक सत्ताओं को अपने अधिकार में कर ले। सभी राजनीतिक विप्लव सामाजिक क्रांति नहीं होते। सामाजिक क्रांति श्रेणीसंघर्ष के जरिए सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के बुनियादी आधारों को बदल देती है। यह क्रांतिकारी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की राजनीति है। 1649 की ब्रिटिश क्रांति और 1789 की फ्रांसीसी क्रांति बुर्जुआ सामाजिक क्रांतियों की मिसालें हैं। इसी प्रकार 1917 की रूसी क्रांति, 1949 की चीनी क्रांति और 1959 में क्यूबा की क्रांति समाजवादी सामाजिक क्रांतियों के उदाहरण हैं। इन क्रांतियों के द्वारा समाज में नए ढंग की राजनीति और नए ढंग की अर्थनीति की शुरुआत होती है।

आर्थिक संघर्ष की राजनीति : मजदूरों के जीवनस्तर और श्रम की स्थितियों में सुधार के लिए—अधिक वेतन या काम के घंटों में कमी आदि के लिए—आर्थिक संघर्ष जरूरी होता है। इन मांगों को पूरा कराने के लिए मजदूर वर्ग हड़ताल का सहारा लेता है। वह मजदूर संघ और पारस्परिक सहायता कोष के निर्माण द्वारा अपने वर्गहितों के लिए लड़ता है।

प्रत्येक मजदूर, चाहे वह राजनीतिक रूप से चेतन न हो, आर्थिक संघर्ष की जरूरत को महसूस करता है। इसलिए मजदूर आंदोलन आर्थिक संघर्ष से शुरू होता है किंतु जब तक किसी देश में समाजवाद की स्थापना न हो जाए, वहां आर्थिक संघर्ष की जरूरत बनी रहती है। आर्थिक संघर्ष से मजदूरों के जीवनस्तर में सुधार किया जा सकता है। अमरीका और यूरोप में आर्थिक संघर्ष के द्वारा मजदूरों ने अपने जीवनस्तर को काफी ऊंचा कर लिया है।

आर्थिक संघर्ष में भाग लेने से मजदूरों की वर्गचेतना बढ़ती है और उन्हें पूंजीवाद विरोधी राजनीतिक संघर्ष के लिए तैयार और प्रशिक्षित किया जा सकता है। परंतु आर्थिक संघर्ष की कुछ सीमाएं हैं। इससे मजदूरों में संकीर्ण अर्थवाद (इकानामिज्म) की भावना फैलती है। वे पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मामूली सुधारों से संतुष्ट हो जाते हैं और समाजवाद के लिए राजनीतिक संघर्ष को बेकार का झंझट समझने लगते हैं।

विचारधारा के संघर्ष की राजनीति : मजदूरों में वर्गचेतना की भावना का विस्तार करने के लिए यह आवश्यक है कि वे पूंजीवादी विचारधारा से संघर्ष करना सीखें। लेनिन का कथन है कि मजदूरों का मुक्तिआंदोलन तभी सफल हो सकता है जब वे पूंजीवादी शोषण के सैद्धांतिक आधार को अर्थात मार्क्सवादी विचारधारा को अच्छी तरह समझ लें। जब तक वे अपने संघर्ष को एक पूंजीपति के विरुद्ध सिर्फ एक कारखाने में काम करने वाले मजदूरों की आपसी तकरार समझते रहेंगे, वे पूंजीवादी व्यवस्था और समाजवादी आंदोलन के बुनियादी आधारों को समझ नहीं सकेंगे। उसे न केवल यह ज्ञान होना चाहिए कि कपड़ा मजदूर के रूप में उनके हित सभी कपड़ा मिलों के मजदूरों के हितों जैसे हैं, उसे यह भी महसूस होना चाहिए कि न केवल उसके देश के मजदूर बल्कि दुनिया भर के मेहनतकश इंसान पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध श्रेणीसंघर्ष में उसके साथी हैं।

परंपरागत और बुर्जुआ समाज के धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक विचार, जिनका प्रचार शासक वर्ग धर्म, स्कूलों, समाचारपत्रों और बुर्जुआ राजनीतिक दलों के द्वारा करता

है, मजदूरों की वर्गचेतना के विकास में बाधा डालते हैं। मार्क्स के अनुसार मजदूरों को जब तक धर्म, नैतिकता, शिक्षा और राजनीति के वर्गचरित्र का पता नहीं चलता, वे श्रेणीसंघर्ष में जूझने के लिए तैयार नहीं हो सकते। जैसा इटली के मार्क्सवादी विचारक ग्रामशी ने बताया है, पूंजीवादी समाज में पूंजीवादी विचारधारा का हर क्षेत्र में नेतृत्व स्थापित रहता है। जब तक मार्क्सवादी विचारधारा मजदूरों के सोचने के तरीकों को पूरी तौर से बदल नही देती अर्थात उन्हें एक सचेतन वर्ग नही बना देती, वे सर्वहारा वर्ग की क्रांति में हिस्सा नही ले सकते। अतः विचारधारा के क्षेत्र में श्रेणीसंघर्ष अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

राजनीतिक संघर्ष और सर्वहारा वर्ग की क्रांति : श्रेणीसंघर्ष का अंतिम व सबसे विकसित रूप राजनीतिक है। आर्थिक संघर्ष के अनुभव के आधार पर मजदूर वर्ग को राजनीतिक संघर्ष की जरूरत महसूस होती है। इस प्रकार मजदूर दल, समाजवादी दल या साम्यवादी दल का निर्माण होता है। इसके पूर्व राजनीति बुर्जुआ दलों की मैत्रीपूर्ण प्रतियोगिता मात्र रहती है। रैल्फ मिलीबैंड का कथन है कि बुर्जुआ लोकतंत्र में पूंजीपतियों का एक मुख्य दल होता है जैसे अमरीका में रिपब्लिकन पार्टी, इंग्लैंड मे कंजरवेटिव पार्टी, इटली और पश्चिम जर्मनी मे क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टियां हैं।[9] इसके अलावा वे अन्य दलों को भी अपने प्रभाव में रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनका उपयोग करते हैं। अकसर मजदूर दलों तथा समाजवादी दलो के दक्षिणपंथी नेताओं पर पूंजीपति वर्ग अपना प्रभाव स्थापित कर लेता है।

इसलिए मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन ने एक ऐसे क्रांतिकारी साम्यवादी दल की स्थापना पर विशेष जोर दिया है जो मजदूर वर्ग को न केवल बुर्जुआ लोकतंत्र के अंतर्गत बल्कि बुर्जुआ राज्य के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति में भी नेतृत्व प्रदान कर सके। इंग्लैंड की लेबरपार्टी और यूरोप की सोशल-डेमोक्रेटिक या सोशलिस्ट पार्टिया अब केवल पूंजीवादी राज्य और अर्थव्यवस्था के संचालन में बुर्जुआ पार्टियों की साझीदार और सहयोगी बन गई हैं। उन्होंने वर्गयुद्ध और सर्वहारा वर्ग की क्रांति की राजनीति को छोड़ दिया है। इसलिए आज केवल साम्यवादी दल ही मजदूर वर्ग को सही नेतृत्व प्रदान कर समाजवादी क्रांति ला सकता है।

रूस, पूर्वी यूरोप, चीन, वियतनाम, कंबोडिया, लाओस और क्यूबा मे सर्वहारा वर्ग ने समाजवादी तथा जनवादी क्रांतियों के द्वारा राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में ले ली है। सर्वहारा वर्ग की क्रांति मजदूर वर्ग के नेतृत्व में सभी शोषित वर्गों की क्रांति है। क्रांति के द्वारा बुर्जुआ राज्य के ढाचे का विनाश कर दिया जाता है और साम्यवादी दल के नेतृत्व मे नए समाजवादी राज्य के ढाचे का निर्माण किया जाता है। उत्पादन के साधन समाज के कब्जे मे ले लिए जाते हैं। पूंजीपतियों की निजी संपत्ति का राष्ट्रीयकरण करके सुनियोजित समाजवादी अर्थव्यवस्था के आधार पर तेजी से आर्थिक विकास किया जाता है। एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को समाप्त कर दिया जाता है। समाजवादी राज्य में सत्ता मजदूर वर्ग और उसके प्रतिनिधि साम्यवादी दल के हाथ मे रहती है। म।
अनुसार विश्व में समाजवादी व्यवस्था के परिपक्व हो जाने पर वर्गविहीन

व्यवस्था आएगी, जिसमें वर्गशोषण के अंत के कारण राज्य या राजनीति की आवश्यकता नही रहेगी।

राजनीतिक विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्धति : मार्क्सवादी राजनीति की व्याख्या सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ मे करते हैं। इस दृष्टि से यह पद्धति डेविड ईस्टन के व्यवस्था सिद्धात तथा आमंड और पावेल के निर्माणपरक कार्यवाद से बिलकुल उलटी है। वे समाज मे संतुलन के बुनियादी आधार खोजते है। मार्क्सवादी असंतुलन के बुनियादी कारणो का पता लगाना चाहते है। ईस्टन और आमंड का विश्लेषण राष्ट्रीय एकता, राजनीति की आत्मनिर्भरता और वर्गसहयोग पर आधारित है। मार्क्सवादी विश्लेषण राजनीति के सामाजिक-आर्थिक आधार, श्रेणीसंघर्ष की अनिवार्यता और अंतर्राष्ट्रीय संबद्धता के सिद्धातों पर टिका हुआ है।

राजनीति के विद्यार्थी को अपना अध्ययन निर्दिष्ट समाज के उत्पादन की प्रणाली से शुरू करना चाहिए। उसे सर्वप्रथम इन चार बातो पर ध्यान देना चाहिए: प्रत्यक्ष उत्पादक, उनके सामाजिक कार्यसंबंध और उनका तकनीकी ज्ञान जिसके सहारे वे श्रम-प्रक्रिया को चलाते है; उत्पादन के साधन और उपकरण; संपत्ति के संबंध जिनके द्वारा उत्पादन के साधनों और उत्पन्न वस्तुओं पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है; तथा इनके द्वारा उत्पादन प्रक्रिया की पद्धति और प्रकृति का निर्धारण।

मार्क्स इनमे से किसी एक बात को किसी समाज के लिए अनिवार्य रूप से निर्धारित नही मानते। प्रत्येक समाज उद्देश्यपूर्ण श्रम, उसके सामाजिक संगठन, उसके उत्पादन के साधनों और स्वाभाविक आधार का मौलिक रूप से एक खास तरह का संयोजन होता है। केवल अनुभवात्मक खोज के आधार पर उस समाज के महत्वपूर्ण निर्धारक का पता लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए आज के औद्योगिक समाज के अध्ययन के लिए पहले हम कई औद्योगिक समाजों के विश्लेषण से एक अस्थाई माडल बना लेते हैं जो उनकी सामान्य विशेषताओं पर आधारित होता है। उसके बाद हम किसी विशेष समाज के उन तत्वों की जनकारी करते हैं जो उस अस्थाई किंतु सामान्य प्रतिमान (माडेल) से मेल नही खाते। विशेष औद्योगिक समाजों की इन विभिन्नताओं के संदर्भ मे हम अस्थाई प्रतिमान मे फिर सशोधन करते हैं और एक अधिक व्यापक स्थाई प्रतिमान बना लेते हैं।[10]

मार्क्स की विश्लेषण पद्धति के निम्नलिखित नियम हैं :

1. पहले आर्थिक व्यवस्था और उसके अंतर्गत समाज के उत्पादन के क्षेत्र पर विचार करो। एक निश्चित समय को आधार मानकर समाज में होने वाले मुख्य परिवर्तनों पर ध्यान दो। उत्पादन के क्षेत्र में संगठनात्मक परिवर्तनों पर विशेष ध्यान दो। तकनीक उत्पादन की मात्रा में क्या परिवर्तन करती है ? बेरोजगारी बढ़ रही है या घट रही है ? किस हद तक परिवर्तन राष्ट्रीय या स्थानीय घटना है ?

2. आर्थिक ढाचे की बुनियादी श्रेणियो को पहचानो। उत्पादन, वितरण और विनिमय की प्रक्रियाओं में प्रत्येक वर्ग की भूमिका को निर्धारित करो। आर्थिक ढांचे की मुख्य उपश्रेणियों और स्तरीय समूहों (स्ट्राटा) का भी पता लगाओ।

3. विभिन्न वर्गों और स्तरीय समूहों के वास्तविक आर्थिक हितों का निर्धारण करो। क्या प्रत्यक्ष उत्पादक उत्पादन के साधनों के मालिक या नियंत्रक हैं? अगर नहीं, तो कौन उनका मालिक या नियंत्रक है? भौतिक वस्तुओं के आर्थिक 'सर्प्लस' को कौन प्राप्त करता है?

4. क्या वर्गों के सदस्य आर्थिक ढांचे में अपनी असली स्थिति और उसके द्वारा निर्धारित जिंदगी में उन्नति करने की सीमाओं के बारे में सचेत हैं? वर्गचेतना का एक मापदंड आर्थिक संघर्ष है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण सूचक वर्गचेतना की राजनीतिक अभिव्यक्ति है।

5. वर्गों के आपसी संघर्षों और उनके आतरिक संघर्षों का रूप क्या है?

6. भ्रष्ट सर्वहारा वर्ग की क्या भूमिका है? उसके अस्तित्व का दूसरे वर्गों पर क्या असर पड़ता है? कौन वर्ग अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए उनका उपयोग करते हैं?

7. जहां राजनीतिक दल है, वहां उनका विभिन्न वर्गों से संबंध निर्धारित करो और यह पता करो कि वे किस हद तक विभिन्न वर्गों के हितों की अभिव्यक्ति करते हैं?

8. सत्ता किन दलों के हाथ में है? उनका विभिन्न वर्गों से क्या नाता है? सेना, पुलिस और दूसरे दमन के उपकरण किसके नियंत्रण मे हैं?

9. वर्गों के अंदरूनी और आपसी मामलों के क्या सांचे, नमूने और रुख है? किन वर्गों की संख्या में वृद्धि हो रही है? कौन से वर्ग घट रहे हैं? अर्थव्यवस्था में किन कार्यों का महत्व बढ या घट रहा है?

10. समाज की मुख्य संस्थागत व्यवस्थाओं—आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक, कानूनी, धार्मिक आदि—के क्या संबंध है? समाज में महत्वपूर्ण निर्णय कौन करता है? शक्तिशाली आर्थिक वर्गों और शासक वर्ग मे क्या रिश्ते हैं?

11. समाज के बाहरी संबंध क्या है? अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और समस्याओं को ध्यान मे रखो। मार्क्स समाज को बंद प्रणाली नही मानते।

12. समाज के परिवर्तनवादी तत्वों को पहचानो अर्थात वे वर्ग जो क्रांतिकारी परिवर्तन की मांगें रखते है और परिवर्तन मे ही उनके असली हित निहित है, वे प्रत्यक्ष रूप से या अपने प्रतिनिधियों के द्वारा किन राजनीतिक उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते है? इसके विपरीत, यथास्थिति किन वर्गों के लिए वस्तुतः हितकर है?

13. अधीन वर्गों का सरकार में क्या प्रतिनिधित्व है? प्रत्येक दल का राजनीतिक कार्यक्रम क्या है? घोषित उद्देश्यों और उसके कार्यों तथा नीतियों के बीच में कितना अंतर है?

14. क्या वर्गों और दलों में किसी प्रकार के आर्थिक या राजनीतिक गठबंधन है? इन गठबंधनों का क्या रूप है? उनमें कौन रूढ़िवादी और कौन परिवर्तनवादी है?

15. समाज मे किसी महापुरुष या चमत्कारी नेता की क्या असली भूमिका है? मार्क्स ने फ्रांसीसी समाज के वर्गविश्लेषण के आधार पर बताया है कि औसत प्रतिभा होते हुए लुई बोनापार्ट चमत्कारी नेता किस प्रकार बन गया। इसे ध्यान में रखना चाहिए।

16. समाज के केंद्रीय विचारधारात्मक आदर्श क्या है ? ये विचारधाराएं किन किन वर्गहितों की सेवा करती हैं ?

17. समाज के ऐतिहासिक संदर्भ को याद रखो। उदाहरणार्थ अमरीकी राजनीति के विषय मे 1914-1946 के समय का विश्लेषण, जब दो विश्वयुद्ध हुए और भयंकर आर्थिक संकट आया, 1946-1976 के समय के लिए, जब ऐसी कोई घटना नहीं हुई, उपयुक्त नहीं है।

18. परंपराओं की भूमिका पर भी ध्यान दो। क्या समाज में क्रांतिकारी, सैन्यवादी या कोई अन्य महत्वपूर्ण परंपराएं रही हैं ? मार्क्स ने कहा है : 'मनुष्य अपना इतिहास खुद बनाते है, लेकिन इसे अपनी मरजी के अनुसार पूरी तौर से नही बनाते; वे उसे अपनी पसंद की परिस्थितियों के अंदर नहीं बनाते बल्कि उन परिस्थितियों में बनाते हैं जो निर्दिष्ट होती हैं, जिन्हें भूतकाल उनको विरासत में देता है और जिनका उन्हें सामना करना पड़ता है। जीवित पीढ़ी के दिमाग पर सभी मृत पीढ़ियों की परंपरा का एक डरावने सपने जैसा बोझ सवार रहता है।'

19. राज्य की नौकरशाही की भूमिका पर विचार करो। उसके कौन से प्रशासनिक कार्य संपूर्ण समाज के लिए उपयोगी हैं ? कौन से कार्य प्रत्यक्ष रूप से केवल विशेष वर्गों को फायदा पहुंचाते हैं ?

20. सरकार मे विधायिका की क्या भूमिका है ? यह प्रभावशाली संस्था है या 'संसदीय अपंगुता' की बीमारी का शिकार है ? क्या अधीन वर्गों की स्थिति में सुधार के लिए उसके द्वारा बनाए हुए कानून क्रियान्वित होते हैं ?[11]

संदर्भ

1. ऐडवर्ड मैकनाल ऐंड बर्न्स : 'आइडियाज इन कफ्लिक्ट', पृ० 77.
2. डेविड ईस्टन : 'पोलिटिकल सिस्टम', पृ० 330-31.
3. हेरोल्ड लास्की : 'दि राइज आफ यूरोपियन लिबरलिज्म', पृ० 195.
4. ज्यार्ज सैबाइन : 'ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियरी', पृ० 662
5. एलेन बाल : 'आधुनिक राजनीति और शासन', पृ० 14.
6. वही, पृ० 16.
7. विलियम जे चैंबलिस (संपादित) : 'सोशलाजिकल रीडिंग्स इन कनफ्लिक्ट पर्सपेक्टिव', पृ० 232
8. लेनिन : 'सलेक्टेड वर्क्स', खंड 2, पृ० 224.
9. रैल्फ मिलीबैंड : 'दि स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसायटी', पृ० 184-85
10. विलियम जे चैंबलिस (संपादित) : 'सोशलाजिकल रीडिंग्स इन कनफ्लिक्ट पर्सपेक्टिव', पृ० 78
11. वही, पृ० 79-81.

3

समाज, राज्य और नागरिकता

मनुष्य में सामाजिकता की भावना होना अब कोई विवाद का विषय नही है। सबसे पहले अरस्तू ने कहा था कि मनुष्य न केवल एक सामाजिक प्राणी है, वह साथ साथ एक राजनीतिक प्राणी भी है। तभी से इस बात को सभी सामाजिक विज्ञानों में स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।[1] परंतु सामाजिकता की भावना होना मनुष्य की कोई निजी विशेषता नही है। पशुजगत में भी ऐसे प्राणी हैं, जिनमें सामाजिकता की भावना पाई जाती है। लेकिन इनकी तुलना में मनुष्य ने अपनी सामाजिकता का विकास कही अधिक कर लिया है। मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसने समाज मे राजनीतिक संगठन, संस्कृति और अर्थव्यवस्था का विकास किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य को किन परिस्थितियों ने सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन बनाने के लिए बाध्य कर दिया।

प्रारंभ में जिस बात ने मनुष्य को सामाजिक संगठन बनाने के लिए विवश किया वह जीवनसुरक्षा का प्रश्न था। उसने देखा कि अकेले रहने से प्रतिक्षण उसका जीवन खतरे में है। समूह बनाकर रहने से उसका जीवन अधिक सुरक्षित हो गया। व्यक्तिगत सुरक्षा के साथ साथ कुल के विकास की भावना ने भी मनुष्य को सामूहिक जीवन की उपयोगिता के प्रति आकर्षित किया। पहले घूमने-फिरने वाले कबीले बने और बाद में कबीले ग्राम बनाकर रहने लगे और जीविका के लिए खेती करने लगे। जीवन मे स्थिरता आ जाने से कबीले के अनुशासन में कुछ ढीलापन आ गया, जिसके फलस्वरूप परिवार और परिवार की निजी संपत्ति के सिद्धांत प्रचलित हुए।

आर्थिक क्षेत्र में श्रमविभाजन का सिद्धांत अपना लिया गया। अब राजनीतिक संगठन की आवश्यकता इसलिए पडी कि परिवार की संपत्ति को सुरक्षित रखा जा सके और श्रमविभाजन के आधार पर मनुष्य की दैनिक आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति मे बाधा न हो। व्यक्तिगत सपत्ति के साथ ही गुलाम बनाने की प्रथा की शुरुआत हुई। लडाई में हारे हुए कबीले के सदस्यों को गुलाम बनाकर रखना और उनसे काम लेना इस युग की आर्थिक व्यवस्था की विशेषता थी। इतिहास में यह युग दासता की प्रणाली का युग है।

व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा के लिए और दासप्रथा पर आधारित अर्थतंत्र को

मजबूत बनाने के लिए राज्य की स्थापना की गई। राजनीतिक शक्ति का आरंभ में ही यह उपयोग रहा है कि उसके द्वारा शासक वर्ग दूसरे वर्गों का आर्थिक शोषण कर सके और उन पर अपना सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित कर सके। प्राचीन यूनान के नगरराज्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्राचीन भारत के आर्यों ने भी अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग इसी प्रकार किया और जातीय भेदभाव और शोषण की वह परंपरा स्थापित की जो आज भी हमारे देश के लिए अभिशाप बनी हुई है।[2]

राज्य तथा समाज के निर्माण से मनुष्य की बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का विकास भी संभव हो सका। विज्ञान, साहित्य और ललित-कलाओं की जो उन्नति आज हमें दिखाई पड़ती है, वह समाज तथा राज्य की स्थापना के कारण ही संभव हो सकी है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसने अपने भावों और विचारों को प्रकट करने के लिए भाषा का आविष्कार कर लिया। फिर लिपि का आविष्कार करके उन्हें लेखबद्ध करना सीखा। अब मुद्रणयंत्र के आविष्कार से विचारों के आदान-प्रदान में और भी अधिक सरलता हो गई है। समाज तथा राज्य के अभाव में ऐसी उन्नति कर सकना मनुष्य के लिए बिलकुल असंभव था। कवियों और नाटककारों के महाकाव्य और नाटक, कलाकारों की महान कृतियां, दार्शनिकों के महत्वपूर्ण जीवनदर्शन, सभ्यता और संस्कृति की अनगिनत उपलब्धियां और वैज्ञानिकों के विस्मयकारी आविष्कार राज्य द्वारा स्थापित सामाजिक सुरक्षा के अभाव में हमें प्राप्त नहीं हो सकते थे।

समाज और राज्य का क्रमिक विकास : आज जिस उन्नत और अपेक्षाकृत जटिल समाज को हम देखते हैं, वैसी अवस्था उसकी पहले नहीं थी। मनुष्य झुंड बनाकर जंगलों में घूमा करते थे और जानवरों का शिकार कर या सहज उपलब्ध कंद-मूल-फलों को खाकर अपना पेट पालते थे। उनका कोई घर न था। जहां रात हो जाती, वहीं पड़कर सो जाते। सुबह होते ही शिकार की खोज में निकल पड़ते। इस युग में समाज का संगठन बड़ा सरल था। लोगों के पास न व्यक्तिगत संपत्ति थी और न उनका कोई पारिवारिक जीवन ही था। विवाह की प्रथा अभी प्रचलित नहीं हुई थी। लोग मातृसत्ताक कबीलों में विभाजित थे। कानून और राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर मातृसत्ताक कबीले की परंपराओं को आचरण का आधार माना जाता था।

कुछ समय बाद लोग जानवरों को पालना सीख गए। मनुष्य के सामाजिक संगठन में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन तब हुआ जब उसने खेती करना सीख लिया। इसके साथ ही धीरे धीरे पितृसत्ताक कबीलों का निर्माण होना आरंभ हुआ। कुटुंब, विवाहप्रथा और स्त्रियों की अधीनता का भी धीरे धीरे प्रचलन शुरू हो गया। कबीलों के पास अपनी सामूहिक संपत्ति पशुधन या अनाज के भंडार के रूप में होती थी जिसकी रक्षा के लिए उन्हें दूसरे कबीलों से लड़ना पड़ता था। इसलिए इन कबीलों को नायक और योद्धा वर्ग की जरूरत पड़ी।[3]

यही नायक आगे चलकर राजा बना और योद्धा वर्ग इतिहास का पहला कुलीन और शासक वर्ग बना। पहले छोटे छोटे ग्राम बने। इन ग्रामों के बीच में योद्धा वर्ग ने एक नगर बसाया। कृषि की उन्नति के साथ साथ लोगों ने हस्तकलाओं को विकसित किया।

परिणामस्वरूप श्रमविभाजन की प्रथा चल निकली। विवाह की प्रथा अधिक दृढ़ हो चली और समाज मे कुटुंब और व्यक्तिगत संपत्ति को उचित स्थान मिल गया। अमीर और गरीब का अंतर बढ़ने लगा। समाज में मालिक और गुलाम के नाम से दो वर्ग बन गए। मालिकों और अमीरों ने गरीबों और गुलामों को वश मे रखने के लिए राजनीतिक संगठन बनाया। राज्य का उपयोग उन्होंने ऐसे कानूनों को बनाने के लिए किया, जिनके द्वारा वे अपने विशेषाधिकारों और शोषण की प्रणाली को सुरक्षित रख सकें। कला, साहित्य, धर्म और नीति के द्वारा भी इस आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की कोशिशें की गईं।[4]

इस युग के पश्चात सामंतशाही का युग आता है। नगरराज्यों और जनपदों की जगह पर बड़े बड़े आनुवंशिक राज्य बन गए परंतु वास्तविक शासनसत्ता राजा के हाथ में न होकर स्थानीय सामंतों के पास रहती थी। खेती का काम दासों की जगह पर अर्ध-स्वतंत्र किसानों से लिया जाने लगा। ये मालिकों के खेतों पर काम करते थे और पैदावार का अधिकांश भाग भी मालिकों को ही दे देते थे। सामंत ही उनका शासक, उनकी जमीनों का मालिक, उनका संरक्षक, उनके मुकदमों का फैसला करनेवाला न्यायाधीश और उनसे कर वसूल करनेवाला पदाधिकारी था।

सामंत युग मे व्यापारियों और शिल्पकारों ने धीरे धीरे स्वायत्तशासी नगरों की स्थापना की, जिससे वे सामंतों के अत्याचार और शोषण से अपनी रक्षा कर सकें। इसी औद्योगिक और व्यापारिक वर्ग ने सामंतशाही के खिलाफ जनता के संघर्ष का नेतृत्व किया और सामंतवादी व्यवस्था को समूल नष्ट कर डाला।[5]

सामाजिक संगठन के इतिहास मे औद्योगिक क्रांति का होना सबसे बड़ी क्रांतिकारी घटना थी। औद्योगिक क्रांति ने यूरोप में पूंजीवाद को जन्म दिया। विज्ञान के आविष्कारों के द्वारा उत्पादन के तरीकों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। मशीनों की सहायता से मनुष्य थोड़े समय में और थोड़े परिश्रम से अधिक उत्पादन की कला सीख गया। यातायात के साधनों का भी विज्ञान ने ऐसा विकास किया, जिससे वर्षों का रास्ता महीनों या सप्ताहों में तय किया जाने लगा। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की इससे बड़ी प्रगति हुई। यूरोप के पूंजीवादी देशों ने अपनी मनोवैज्ञानिक प्रतिभा और सैनिक शक्ति का उपयोग कर संसार भर मे अपने साम्राज्य स्थापित कर लिए। साम्राज्यवादी देशों ने अपने राजनीतिक प्रभुत्व का उपयोग उपनिवेशों के आर्थिक शोषण के लिए किया।

पूंजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में समाजवाद का जन्म हुआ। समाजवादियों ने दुनिया के मजदूरों को संगठित करने की योजना बनाई और सार्वभौम क्रांति का नारा बुलंद किया। रूस में पहली सफल समाजवादी क्रांति हुई। अब तो मध्यवर्ती यूरोप से दक्षिण-पूर्वी एशिया तक दुनिया की एकतिहाई जनसंख्या पर समाजवादियों ने अपना राजनीतिक नेतृत्व स्थापित कर रखा है। इस प्रकार संसार के एक बड़े हिस्से में समाजवादी अर्थव्यवस्था का प्रयोग किया जा रहा है। समाजवादी देशों में राजनीतिक जीवन के आदर्श बिलकुल भिन्न है। पूंजीवादी देशों में भूमि, खानें, कारखाने, यातायात के साधन आदि व्यक्तिगत संपत्ति माने जाते हैं। समाजवादी देशों में इन पर जनता का सामूहिक अधिकार होता है। पूंजीवादी देशों में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण किया जाता है

समाजवादी देशों मे इस प्रकार के शोषण का अंत कर दिया जाता है।

आधुनिक युग में राजनीतिक क्षेत्र में जो दो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, उन्हें हम जनतंत्र और राष्ट्रीयता की भावनाएं कह सकते है। राजतंत्र और कुलीनतंत्र के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना नागरिक जीवन की उन्नति मे बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। इसी प्रकार राष्ट्रीय इकाइयों का बनना जिनमें संस्कृति, भाषा व भावना की एकता हो, नागरिकता के विकास की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नही है। पारस्परिक समानता के आधार पर स्वतंत्र राष्ट्रों का आपस मे अंतर्राष्ट्रीय सहयोग भी धीरे धीरे बढ रहा है। राष्ट्रसंघ तथा वर्तमान संयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना बढती हुई अंतर्राष्ट्रीयता की भावना की द्योतक है।[6]

राजनीतिक जीवन का विकास : ऊपर हमने सामाजिक और राजनीतिक संगठन के विकास का वर्णन किया है। किसी भी देश या काल का राजनीतिक जीवन वहां के और उस समय के सामाजिक और राजनीतिक संगठन के विकास पर ही निर्भर है। शिकार और पशुपालन के युग मे किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकारों या कर्तव्यों की कल्पना नही की जा सकती। शारीरिक शक्ति को ही मनुष्य का एकमात्र अधिकार माना जा सकता था। किसी प्रकार के नियमों और कानूनों के अभाव में स्वेच्छा या किसी कबीले की सामूहिक इच्छा ही एकमात्र कानून थी। अपने को जीवित रखना और लड़ाई के समय अपने कबीले की रक्षा के लिए लड़ना ही एकमात्र कर्तव्य था। आदिम साम्यवाद के इस युग मे मानवजीवन अति सरल था। राजनीतिक संगठन के अभाव में इस युग में किसी प्रकार के राजनीतिक जीवन की कल्पना नही की जा सकती।

राजनीतिक संगठन का आरंभ कृषियुग से होता है और तभी से राजनीतिक जीवन की रूपरेखा भी निश्चित की जा सकती है। प्रारंभिक राजनीतिक संगठन बड़ा ही सरल था। इस युग मे छोटे छोटे राजनीतिक समाज बने हुए थे। राजनीतिक संगठन का उद्देश्य समाज के अंदर शांति रखना और न्याय की व्यवस्था करना था। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य बाहरी आक्रमणो से अपने समाज की रक्षा करना भी था। समाज मे दो वर्ग थे। राजनीतिक अधिकार केवल शासक वर्ग को प्राप्त थे। उन्हें व्यक्तिगत संपत्ति रखने का अधिकार भी दे दिया गया था।

विकसित राजनीतिक समाजों में नागरिकों को शासन के प्रबंध मे, कानूनों के निर्माण में और न्यायकार्य मे समुचित रूप से भाग लेने का अवसर दिया जाता था। ये अधिकार केवल पुरुषों को ही दिए गए थे। स्त्रियों को किसी प्रकार के नागरिक या राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही थे।

समाज मे स्वामियों और स्वतंत्र नागरिकों के अलावा दूसरा मुख्य वर्ग दासों का था। दासों को भी किसी प्रकार के नागरिक या राजनीतिक अधिकार नही थे। उन्हें मालिकों की व्यक्तिगत संपत्ति समझा जाता था। दासो ने अनेक बार अपनी आजादी के लिए संघर्ष भी किए, जिनको बड़ी निर्दयता से दबा दिया गया। संसार की सभी प्राचीन सभ्यताएं—मिस्र, बाबीलोन, यूनान, चीन और भारत—दास वर्ग के आर्थिक शोषण पर आधारित थी। राज्य, कानून, धर्म, नीति, साहित्य और कला का सामूहिक प्रयत्न इन

व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए होता था। समाज का नागरिक और राजनीतिक जीवन कुलीनतंत्रात्मक सिद्धांतों पर चलता था।[7]

इसके पश्चात सामंतवादी युग में नागरिक जीवन का स्वरूप बदल गया। गुलामों का खरीदना और बेचना लगभग बंद हो गया। किसानों को खेती करने के लिए भूमि बांट दी गई लेकिन वे उस भूमि के मालिक नहीं थे। तो भी उन्हें अपनी भूमि की कुछ पैदावार अपने पास रखने का अधिकार था। उनके पास थोड़ी-बहुत व्यक्तिगत संपत्ति भी हो सकती थी। उनका अपना पंचायती और सामाजिक जीवन भी होता था। किसान यदि अपने सामंत की भूमि छोड़कर किसी नगर में जाकर बस जाता था तो वह पूरी तौर से स्वतंत्र नागरिक बन जाता था।

स्वायत्तशासी नगरों की स्थापना से स्वतंत्र नागरिक जीवन के विकास में बड़ी सहायता मिली। इन नगरों ने सामंतवादी शासन से अपने को मुक्त करने के बाद अपने लिए प्रतिनिधि शासन स्थापित किया। नगर की प्रशासन संस्था में जनता का संपन्न वर्ग प्रतिनिधि चुनकर भेजा करता था। नागरिकों को व्यक्तिगत संपत्ति रखने का पूर्ण अधिकार था और वे स्वयं सरकार को दिए जाने वाले करों की मात्रा निश्चित करते थे। इन नगरों में धर्म और विचार की स्वतंत्रता भी सीमित रूप से स्वीकार कर ली गई थी।

फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि देश का अधिकांश क्षेत्र कठोर सामंतवादी शासन के अधीन था। ग्रामीण क्षेत्रों में अर्धस्वतंत्र किसानों को थोड़े से वैयक्तिक अधिकारों और पारिवारिक स्वतंत्रता के अलावा किसी प्रकार के नागरिक अधिकार नहीं थे। उनके राजनीतिक अधिकार न के बराबर थे। उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक स्वतंत्रता न थी। सामंतों के अन्याय और अत्याचार के विरोध में उन्हें कुछ करने की शक्ति नहीं थी। मध्यकालीन इतिहास सामंतों और किसानों के वर्गसंघर्ष की अत्यंत करुण कहानी है।[8]

इस सामंतवादी समाज और राज्य की जड़ें हिलाने में मध्यम वर्ग ने महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने सामंतों के विरोध में सशस्त्र विद्रोह कर दिया और उनकी शक्ति को क्षीण करके शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना में योग दिया। राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना से कई लाभ हुए। सामंतों के शासन से कृषकसमाज आजाद हो गया और उन्हें पहली बार कुछ नागरिक अधिकार दिए गए।

फ्रांस की राज्यक्रांति के परिणामस्वरूप सामंतों की जमीनों को किसानों में बांट दिया गया। अब किसान अपनी भूमि के स्वयं मालिक बन गए। देश की केंद्रीय और स्थानीय संस्थाओं में उन्हें प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्राप्त हुआ। औद्योगिक क्रांति के साथ साथ वैधानिक, उत्तरदायी प्रतिनिधि शासन का विकास हुआ। प्रारंभ में व्यापारियों और उद्योगपतियों ने किसानों के साथ मिलकर सामंतवादियों के खिलाफ संयुक्त [illegible] संघर्ष चलाया था।[9]

इसलिए सिद्धांत रूप में मध्यमवर्ग [illegible] राजनीतिक क्षेत्र में [illegible] के [illegible] का प्रचार कर रही थी। स्वतंत्रता और [illegible] नागरिकों के [illegible] जाने लगे। अब औद्योगिक और [illegible] मजदूरों को [illegible] राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो गए। [illegible] और [illegible]

की स्थापना की गई। केंद्रीय स्तर पर जनता के संपन्न वर्गों के निर्वाचित प्रतिनिधि कानून बनाने लगे और मंत्रिमंडल में उन्हें प्रतिनिधित्व भी दे दिया गया।

कानून की परिभाषा मे ऊंच-नीच और अमीर-गरीब का भेद मिटा दिया गया। राष्ट्रीय एकता को नागरिक जीवन का आदर्श मान लिया गया। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया। उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रीय आंदोलन उठ खड़े हुए। इन राष्ट्रीय आंदोलनों का उद्देश्य औपनिवेशिक जनता के लिए राष्ट्रीय स्वतंत्रता और राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना था।

धीरे धीरे पूंजीवाद की प्रतिक्रिया के स्वरूप समाजवाद और साम्यवाद का जन्म हुआ। पूंजीवादी व्यवस्था में औद्योगिक मजदूरों की अवस्था बड़ी दयनीय थी। उन्हें अपने श्रम का उचित मूल्य नही दिया जाता था। राज्य पूंजीपतियों के द्वारा होने वाले मजदूरों के शोषण को रोकने का कोई प्रयत्न नही करता था। पूंजीपति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य पर अपना नियंत्रण रखते थे। मजदूरो को निर्वाचनों मे मत देने या खड़े होने का अधिकार नही दिया गया था। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उन्हें निरंतर संघर्ष करना पडा। अंत मे मजदूर लोग इसी निष्कर्ष पर पहुचे कि उनका वास्तविक कल्याण समाजवादी क्रांति के द्वारा ही हो सकता है। फलतः रूस मे एक इसी प्रकार की क्रांति हुई।[10]

इस क्रांति का उद्देश्य रूस में सामंतवादी और पूंजीवादी शोषण की प्रक्रिया का अंत करके समाजवाद के आधार पर वर्गविहीन समाज की स्थापना करना था। समाजवादी व्यवस्था का मुख्य आधार सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता माना जाता है। समाजवाद पूंजीवादी साम्राज्यवाद की नस्लवादी शोषण और भेदभाव की नीतियों का घोर विरोध करता है और औपनिवेशिक स्वाधीनता के सभी आंदोलनों को विश्व समाजवादी क्रांति का अंग मानता है। समाजवाद में न केवल राष्ट्रीय समस्याओं का अपितु अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल भी एक नए सामाजिक दर्शन के आधार पर खोज निकालने का प्रयत्न किया गया है।

समाजवादी सामाजिक दर्शन का साम्यवादी देशों के नागरिक जीवन पर विशेष प्रभाव पडा है। इन देशो मे नस्ल, संप्रदाय या राष्ट्रीयता के नाम पर कलह या वैर की भावना नहीं पाई जाती। जो सामाजिक भेदभाव और आर्थिक विषमताएं पूंजीवादी देशों के नागरिक जीवन को कलुषित किए हुए हैं, उनका साम्यवादी देशों में अभाव है। पारस्परिक सहयोग और सामूहिक उद्यम की जिस भावना से प्रेरित होकर साम्यवादी देशों के नागरिक कार्य करते हैं, वह मानव के इतिहास में बिलकुल अनोखी घटना है।

वर्तमान समय मे अनेक ऐसी प्रवृत्तियां कार्य कर रही हैं, जो राजनीतिक जीवन की सीमा को राष्ट्रीय परिधि से निकाल कर अंतर्राष्ट्रीयता की ओर ले जा रही हैं। व्यापारिक संबंधों की दृष्टि से संसार एक इकाई बन गया है। यातायात के साधनों की सुगमता से यह एकता और भी दृढ़ हो चुकी है। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के उद्देश्य से विश्व संगठनों की स्थापना हो रही है। प्रत्येक देश का नागरिक अब राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों में समान रूप से दिलचस्पी लेने लगा है। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय

आत्मनिर्भरता के दिन सदा के लिए चले गए है।

आज के युग में कोई भी नागरिक, वर्ग या राष्ट्र अपने अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को भुला नही सकता। पूजीवाद और साम्यवाद के बढते हुए संघर्ष ने संसार को दो खेमों में बाट रखा है। आज प्रत्येक नागरिक, वर्ग या राष्ट्र इस प्रश्न पर विचार करने के लिए विवश है कि इन परस्परविरोधी विचारधाराओ में वह किस विचारधारा के साथ है। अतएव राजनीतिक जीवन का उत्तरदायित्व कितना व्यापक हो गया है, यह उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।

राज्य, समाज और व्यक्ति का संबंध

राज्य और समाज व्यक्तियो से मिलकर बने है, परंतु व्यक्तियों के किसी असंगठित समूह को समाज या राज्य नही कहा जा सकता। मनुष्यो ने अपने को समाज तथा राज्य मे संगठित कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया है। अरस्तू ने कहा था कि प्रत्येक मनुष्य की कुछ आर्थिक आवश्यकताएं होती हैं, जिनकी पूर्ति समाज और राज्य मे रहकर ही हो सकती है। समाज से बाहर रहने की क्षमता रखनेवाला मनुष्य या तो देवता है या पशु। अरस्तू के समय में अर्थव्यवस्था बहुत सरल थी। आजकल की जटिल अर्थ-व्यवस्था में अरस्तू का कथन और भी अधिक महत्वपूर्ण है।

समाज की आवश्यकता आर्थिक दृष्टि से ही नही, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी है। समाज में ही रहकर मनुष्य प्रेम, घृणा, दया, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि मनोवृत्तियों का उपयोग करना सीखता है। उसके हृदय और मस्तिष्क का विकास समाज में रहकर ही हो सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास समाज से अलग रहकर नही हो सकता। मानसिक प्रतिभा और नैतिक गुणों के विकास के लिए उपयुक्त क्षेत्र की आवश्यकता है और यह क्षेत्र समाज ही है।

प्रसंविदा सिद्धांत : राज्य और व्यक्ति के संबंध के बारे मे पहले प्रसंविदा सिद्धांत की चर्चा की जाएगी। इसे सामाजिक समझौते का सिद्धांत भी कहा जाता है। प्रसंविदा सिद्धांत का प्रतिपादन हाब्स, लाक और रूसो ने किया है। इनका कथन है कि राज्य की उत्पत्ति लोगो के आपसी समझौते से हुई है। सामाजिक राजनीतिक-संगठन आज भी इस सार्वजनिक समझौते के आधार पर टिका हुआ है।

इस सिद्धात के अनुसार राज्य को अनिवार्य और अपरिहार्य वस्तु नहीं माना जाता। उसे तो मनुष्य ने अपनी सुविधा और लाभ के लिए इच्छानुसार स्थापित कर लिया है। प्रसंविदा सिद्धात से यह ध्वनि भी निकलती है कि जब मनुष्य इच्छानुसार राज्य को स्थापित कर सकता है तो वह स्वेच्छा से राजनीतिक सगठन को भंग भी कर सकता है। परंतु ऐसा संभव नहीं दिखाई पड़ता। अतएव प्रसंविदा सिद्धात संतोषजनक प्रतीत नहीं होता।[11]

सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी में प्रसविदा सिद्धांत बहुत लोकप्रिय हो गया था। इसका कारण यह था कि बुर्जुआ मध्यमवर्गीय क्रांति व्यक्तिवादी स्वतंत्रता के सिद्धांत का समर्थन करती थी। राजनीतिक संगठन के प्रसंविदा सिद्धांत से व्यक्तिवादी मत की पुष्टि होती थी। चूंकि प्रसंविदा सिद्धांत राजनीतिक व्यवस्था की अनिवार्यता को स्वीकार

नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति आवश्यकतानुसार राजनीतिक सत्ता का विरोध करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। इस तरह यह सिद्धांत व्यक्तिवादी सामाजिक दर्शन के अनुकूल पड़ता है।

शरीर सिद्धांत : शरीर सिद्धांत के समर्थक ब्लुंशली और हर्बर्ट स्पेंसर हैं। इन लेखकों के अनुसार राज्य की तुलना किसी प्राणी के शरीर से की जा सकती है। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अपने अवयवों से स्वतंत्र अस्तित्व भी रखता है, उसी प्रकार राज्य का भी व्यक्तियों से अलग और ऊपर स्वतंत्र अस्तित्व है। परंतु जिस प्रकार शरीर से अलग होने पर शरीर के किसी अंग की कोई उपयोगिता नहीं रहती, उसी तरह राज्य से अलग होने पर किसी व्यक्ति या समुदाय का कोई महत्व नहीं रहता। जिस तरह सभी अंगों की स्थिति शरीर को जीवन देने के लिए है, उसी तरह व्यक्तियों का अस्तित्व समाज को जीवित रखने के लिए है और राज्य समाज का कानूनी और संगठित रूप है। इस प्रकार शरीर सिद्धांत राज्य के सम्मुख व्यक्ति को कम महत्व देता है।

इस सिद्धांत के आलोचकों का कथन है कि रूपक की दृष्टि से समाज को शरीर मान लेना क्षम्य हो सकता है लेकिन इस रूपक के आधार पर राजनीतिक जीवन के लिए निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ हर्बर्ट स्पेंसर ने सड़कों और रेलमार्गों की तुलना शरीर के स्नायुसंस्थान (नरवस सिस्टम) से की थी, जो ठीक नहीं है। कुछ लोग शरीर सिद्धांत को व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विरोध में लाकर खड़ा कर देते हैं। उनका कहना है कि जिस तरह शरीर से हाथ की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है, उसी प्रकार राज्य से व्यक्ति की स्वतंत्रता का भी कोई अर्थ नहीं है।

परंतु यह कथन ठीक नहीं है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह राज्य का अंग भी है, लेकिन उसका व्यक्तित्व पूरी तौर से समाज का अंग नहीं है। राज्य से अलग उसके निजी और व्यक्तिगत जीवन का भी अस्तित्व है। मनुष्य के व्यक्तित्व के राजनीतिक तथा अन्य रूप बराबर महत्व रखते हैं। शरीर से अलग होकर उसका कोई अंग कार्य नहीं कर सकता, लेकिन व्यक्ति राजनीतिक क्षेत्र के बाहर अन्य क्षेत्रों में भी कार्य करता है।

वास्तव में प्रसंविदा सिद्धांत और शरीर सिद्धांत दोनों ही राज्य के दो भिन्न भिन्न पहलुओं का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं। दोनों में सचाई का अंश है लेकिन दोनों में से किसी सिद्धांत को पूरी तौर से सच नहीं माना जा सकता। प्रसंविदा सिद्धांत की यह मान्यता सही है कि राजनीतिक संगठन का एक आधार लोगों की इच्छा और सम्मति है किंतु इसका दूसरा आधार बलप्रयोग भी है, लेकिन प्रसंविदा सिद्धांत इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं देता। शरीर सिद्धांत की यह बात ठीक है कि राज्य का उद्देश्य सभी व्यक्तियों का सामूहिक विकास होना चाहिए लेकिन प्रत्येक राज्य में, जहां वर्गविभाजन होता है, राज्य केवल शक्तिशाली वर्ग के विकास के लिए कार्य करता है।

व्यक्तिवादी सिद्धांत : बेंथम, जान स्टुअर्ट मिल और हर्बर्ट स्पेंसर व्यक्तिवाद के समर्थक हैं। पूंजीवादी देशों में राज्य की व्यक्तिवादी व्याख्या की जाती है। व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य के द्वारा व्यक्ति के जीवन पर कम से कम नियंत्रण होना चाहिए। नैतिक और आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। व्यक्तिवादियों के अनुसार

राज्य एक अनिवार्य बंधन है और इस बंधन से जितनी अधिक स्वतंत्रता मिल सके उतना ही अच्छा है।

कुछ व्यक्तिवादी लेखक स्वतंत्रता और उच्छृंखलता को एक ही चीज समझते हैं, और हर प्रकार के सामाजिक प्रतिबंध को बुरा समझते है। राज्य के द्वारा केवल वही कार्य किए जाने चाहिए जो व्यक्तियों के लिए सुरक्षित और शातिपूर्वक जीवन बिताने के लिए जरूरी हों। इन कार्यों में बाहरी आक्रमण से रक्षा, आंतरिक उपद्रवो का दमन, न्याय की संतोषजनक व्यवस्था जैसे कार्य शामिल किए जा सकते हैं। नागरिकों के आर्थिक, नैतिक या सांस्कृतिक जीवन में राज्य द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होना चाहिए।

व्यक्तिवादी विचारक राज्य को समाज की सामूहिक शक्ति का प्रतिनिधि मानते हैं, जिसका उपयोग केवल व्यक्तियों के लाभ के लिए होना चाहिए। उनके मतानुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि राज्य के कार्यों को बिलकुल सीमित कर दिया जाए। अराजकतावादियो की तरह वे राज्य के अस्तित्व की वांछनीयता को अस्वीकार तो नही करते लेकिन वे यह अवश्य चाहते हैं कि राज्य के द्वारा नागरिकों के जीवन मे विशेष हस्तक्षेप न हो। व्यक्तिवादी इस बात को बिलकुल पसद नहीं करते कि राज्य या कोई सहकारी संस्था नागरिकों के स्वास्थ्य की देखभाल करे, या उनकी शिक्षा का प्रबंध करे या उत्पादन के साधनों पर अपना अधिकार कर उन्हे अपने प्रबंध मे चलाए, या व्यापार और उद्योग-धंधों के सचालन पर प्रतिबंध लगाए, या लोगों के आचार-विचारों मे परिवर्तन करने का प्रयत्न करे।

मध्यवर्गीय क्रांति से पूर्व राज्य और समाज के द्वारा नागरिक जीवन पर कठोर प्रतिबंध लगे हुए थे। सामाजिक रूढियों, सामंतवादी कानूनों और धर्माधीशों की आज्ञाओं से नागरिको के वैयक्तिक जीवन को इस प्रकार जकड़ दिया गया था कि वे थोडी सी के स्वतंत्रता का भी अनुभव नही कर सकते थे। सामंतवादी अनुशासन की बेड़ियो को तोडने लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का व्यक्तिवादी नारा बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ।

व्यक्तिवादियों ने ही नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता और सहनशीलता का पाठ पढ़ाया। साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में नए नए मौलिक विचार व्यक्त किए जाने लगे। राजनीतिक क्षेत्र मे व्यक्तिवादियों ने निरंकुश राजतंत्र का विरोध किया। सविधानों के अनुसार नागरिकों को मूल अधिकार दिए जाने लगे। आर्थिक क्षेत्र मे पूंजी और व्यापार के विकास के लिए पूर्ण अवसर दिया गया। आर्थिक स्वतंत्रता के सिद्धांत का ऐडम स्मिथ, रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों ने समर्थन किया। जान स्टुअर्ट मिल ने नैतिक, बौद्धिक और राजनीतिक आजादी की प्रत्येक लोकतंत्र के लिए आवश्यकता समझाई। अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी में व्यक्तिवादी सिद्धात पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में बहुत लोकप्रिय हो गए। मध्यमवर्गीय लोकतंत्रात्मक समाजों का आधार ही व्यक्तिवादी राजनीतिक दर्शन था।[12]

समाजवादी सिद्धांत : समाजवाद की विचारधारा पहले चार्ल्स फूरियर, सेंट सिमोन और राबर्ट ओवन जैसे आदर्शवादी समाजवादियों ने प्रस्तुत की। उसके बाद कार्ल मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने समाजवाद के सिद्धांतों को वैज्ञानिक और व्यावहारिक समाजविज्ञान—

का रूप दिया। समाजवाद व्यक्तिवाद पर आधारित निजी व्यवसाय के स्थान में समाज द्वारा सचालित अर्थव्यवस्था का समर्थन करता है।

इस सिद्धात के अनुसार समाज की सामूहिक उन्नति पर ही सभी व्यक्तियों की व्यक्तिगत उन्नति निर्भर है। अतएव नागरिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए हमें सामूहिक नीति को अपने कार्यक्रम का आधार बनाना चाहिए। प्रायः ऐसा होता है कि कुछ व्यक्तियो के निजी स्वार्थो का मेल समाज की सामूहिक उन्नति की योजनाओ से नही होता और वे व्यक्तिगत आजादी की दुहाई देकर सामाजिक प्रगति को रोकना चाहते हैं। समाज को ऐसे व्यक्तियों के विरोध की परवाह नही करनी चाहिए। यदि उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियत्रण कर दिया जाए तो उनका उपयोग जनता की भलाई के लिए किया जा सकता है।

पूजीपति वर्ग उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण की नीति से कभी सहमत नहीं हो सकते। व्यक्तिवादी लेखक राष्ट्रीयकरण का विरोध करते है क्योंकि उससे पूंजीपतियों की मुनाफा कमाने की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। समाजवादी सिद्धांत के अनुसार राष्ट्रीयकरण करना उचित और वाछनीय है क्योंकि उसके द्वारा सारे राष्ट्र के हित की साधना की जा सकती है। अतएव समाजवाद सामूहिक हित के सामने व्यक्तिगत लाभ की बात को तुच्छ और गौण समझता है। उसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व दिया जाता है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो राज्य और व्यक्ति के बीच में जिस विरोध की कल्पना व्यक्तिवादी लेखकों ने कर ली है, वह कोई स्थाई सत्य नही है। यह सच है कि कुछ परिस्थितियो में जब सारा सामाजिक संगठन ही दूषित और प्रगतिविरोधी हो जाता है तो उसे बदलने के लिए साहसी व्यक्तियों द्वारा विरोध और विद्रोह की जरूरत पडती है। सामंतवादी समाज मे ऐसी ही स्थिति पैदा हो गई थी। इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है कि समाज और व्यक्ति के हितों में विरोध होना स्वाभाविक या अनिवार्य है। सामाजिक और आर्थिक न्याय पर आधारित समाज मे वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यो में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

राज्य व्यक्तियो से मिलकर बना है और व्यक्तियों से भिन्न वह कोई पृथक अस्तित्व नही रखता। समाज की उन्नति मे ही सारे व्यक्तियों की उन्नति निहित है। अतएव समाज और व्यक्ति मे या राज्य और व्यक्ति में विरोध की अनिवार्यता मान लेना उचित नही है। प्लेटो या हीगल के समष्टिवादी चिंतन में व्यक्ति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही है और न व्यक्ति का कोई स्वतंत्र उद्देश्य है। उनके अनुसार नागरिकों को अपने व्यक्तित्व का राज्य के हित के लिए बलिदान कर देना चाहिए। कार्ल मार्क्स के समाजवाद में राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन नही माना जाता।

भौतिक दृष्टि से समाज के अंतर्गत विरोध की प्रवृत्तियों की कमी नही है। भिन्न भिन्न आर्थिक वर्गों के बीच मे संघर्ष होना स्वाभाविक है। जब समाज में आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्ग अपने को समाज का प्रतिनिधि मानकर दूसरे वर्गों का शोषण करने के लिए राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करता है तो दलित वर्गों के सदस्य इस नीति का अवश्य

विरोध करेंगे। यदि समाजवादी क्रांति द्वारा वर्गों के आपसी विरोध के भौतिक कारणों को दूर कर दिया जाए तो सच्चे अर्थों मे ऐसे समाज की स्थापना हो सकती है जहां समाज और व्यक्ति में किसी प्रकार के विरोध होने की संभावना न रहे।

यदि राज्य किसी विशेष शोषक वर्ग का प्रतिनिधि न हो, अगर आर्थिक व्यवस्था किसी वर्ग के द्वारा दूसरे वर्गों के शोषण के लिए न बनाई गई हो, यदि समाज के अंदर नस्ल, धर्म या दूसरे किसी प्रकार का भेदभाव न हो और अगर व्यक्तियों को विचार, आचरण और विश्वास की स्वतंत्रता और कार्य पाने का अधिकार हो तो अवश्य ही समाज और व्यक्ति के बीच में पूर्ण सामंजस्य की स्थापना हो सकती है।[13]

राजनीतिक मनुष्यता या नागरिकता

सेमूर मार्टिन लिप्सेट के अनुसार लोकतंत्रात्मक शासन में मनुष्य के राजनीतिक पहलू का सबसे अधिक विकास होता है। राजतंत्र में मनुष्यों को राजा की प्रजा माना जाता है। इसीलिए पहले नागरिकों के स्थान में सभी जगह प्रजा शब्द का व्यवहार होता था। आजकल प्रजा शब्द का व्यवहार उन थोड़े से राज्यो में होता है जहां आज भी राजतंत्रात्मक प्रणाली बची हुई है। सभी लोकतंत्रात्मक देशों में प्रजा के स्थान पर नागरिक शब्द का प्रयोग होता है। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रजा का अर्थ ऐसा शासित वर्ग है जो बिलकुल अधिकारहीन हो। इसके विपरीत नागरिक शब्द से ऐसे राजनीतिक मनुष्य का बोध होता है जिसे राज्य की ओर से सभी राजनीतिक अधिकार मिले हों और जो अपने देश की राजनीति और शासन मे दूसरे देशवासियों के साथ भाग लेने का हकदार हो। राजनीतिक मनुष्यता के अंतर्गत केवल अधिकारों का समावेश नही है, नागरिक को राज्य के प्रति कुछ आवश्यक कर्तव्यों को भी पूरा करना पड़ता है।

राजनीति में नागरिकता की व्याख्या केवल उसके कानूनी स्वरूप को लेकर नही की जाती। नागरिकता से हमारा तात्पर्य उन राजनीतिक गुणो से भी होता है, जो हमे अपने साथियों से सहानुभूति और प्रेम करना सिखाते हैं, जो हमारे हृदय में सार्वजनिक सेवा का भाव पैदा करते हैं, जो हमे समाज और राष्ट्र के लिए निजी स्वार्थों का त्याग करना सिखाते हैं और जो अनेक बाधाओं के आने पर भी हमें अपने राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित करते हैं।

नागरिकता से हमारा तात्पर्य उन नैतिक और बौद्धिक गुणों से भी है जिनके अभाव मे मनुष्य रूढ़ियों, परंपराओं और शक्ति का दास बन जाता है। ऐसे मनुष्य जिनमे विवेकशील चिंतन और नैतिक साहस की कमी हो, जिन्हें देश-काल की समस्याओं की जानकारी न हो और जिन परिस्थितियों में वे रहते हों उनका उन्हे सही ज्ञान न हो, कानूनी दृष्टि से राष्ट्र के नागरिक होते हुए भी राजनीतिक मनुष्यता या नागरिकता की सही भावना से अपरिचित रहते हैं। अतएव राजनीतिक मनुष्यता का नैनिक और बौद्धिक पहलू भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

नागरिकता का ऐतिहासिक विकास: नागरिक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यूनान के नगरराज्यों में किया गया। यूनान मे उस युग में नगर और राज्य में कोई भेद नही था। अतएव

नागरिक शब्द का अर्थ ऐसे राजनीतिक मनुष्य का पर्यायवाची बन गया जिसे उस नगर-राज्य की व्यवस्था मे हिस्सा लेने का अधिकार प्राप्त हो। नागरिक का अर्थ नगरराज्य की सदस्यता से लिया जाने लगा। अरस्तू ने नागरिक शब्द की परिभाषा करते हुए बताया कि नागरिक वह राजनीतिक प्राणी है जिसको किसी नगरराज्य के शासन के प्रबंधकारी और न्यायिक विभागों में भाग लेने का मौका मिलता हो।

अरस्तू की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार वे हजारों व्यक्ति नागरिक नही थे जो व्यापार या अन्य कारणों से दूसरे नगरराज्यों में जाकर बस गए थे। नागरिक की परिभाषा से उन बहुसख्यक गुलामों को भी छोड़ दिया गया था जो नगरराज्य के स्थाई निवासी होते हुए भी सभी नागरिक और राजनीतिक अधिकारो से वंचित थे। स्त्रियां भी साधारणत. नागरिक नही थी क्योंकि उन्हे अधिकांश यूनानी नगरराज्यों के शासन मे भाग लेने का अधिकार नही था। इस प्रकार इन यूनानी नगरराज्यों में, नागरिकता का पद विशेषाधिकार के रूप मे जनसख्या के अल्पसंख्यक वर्ग को ही प्राप्त था।

रोम के साम्राज्य के विस्तार के साथ नागरिकता की सीमा को रोम नगर के निवासियों तक सीमित रखना संभव नहीं रहा। परिणाम यह हुआ कि नागरिकता का आधार रोम नगर न रहकर रोम साम्राज्य हो गया। अब ऐसे लोग जो रोम साम्राज्य मे कही भी रहते हों लेकिन जिन्हे राज्य की ओर से रोम की शासन संस्थाओं में प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था, रोम के नागरिक कहलाने लगे। रोम साम्राज्य मे भी दासों, साधारण जनो और विजित जातियों के अधिकांश लोगों को नागरिक नही बनाया जाता था।

आधुनिक युग में नागरिक या राजनीतिक मनुष्य से अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से होता है जिसे अपने राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और जो राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करता हो। लोकतंत्र के विकास का यह नतीजा हुआ है कि लगभग सभी देशों मे वहां के निवासियों को बिना किसी भेद-भाव के राजनीतिक अधिकार मिल गए हैं और वे वहां के नागरिक कहलाते हैं। इन राज-नीतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए जनता को लगातार संघर्ष करना पडा है।

सामंतवादी व्यवस्था के नष्ट होने पर सभी लोगों को समान सामाजिक अधिकार मिल गए परंतु राजनीतिक अधिकार सभी लोगों को नही दिए गए। संपत्ति, शिक्षा और निवास संबंधी ऐसे बहुत से प्रतिबंध लगा दिए गए, जिनकी वजह से जनसंख्या का एक बड़ा भाग राजनीतिक अधिकारों से वंचित रह गया। प्रारंभ में स्त्रियों को भी, चाहे वे धनी वर्ग की ही क्यों न हों, राजनीतिक अधिकार नही दिए गए।

बहुजातीय देशों या साम्राज्यों में यूरोपीय नस्ल के लोगों ने अश्वेत जाति के लोगों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के अभाव में उपनिवेशों के निवासियो को नागरिकता के अधिकार नही दिए जा सकते थे। अतएव विश्व भर में पूर्ण नागरिकता के विकास में बडा समय लगा। आज भी दक्षिणी अफ्रीका में एशियाई और अफ्रीकी नस्ल के लोगों को नागरिकता संबंधी राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही हैं। औपनिवेशिक प्रदेशों की तरह यहां अश्वेत जाति के लोग केवल अधिकारहीन

प्रजा के रूप में अपना जीवन व्यतीत कर रहे है। उन्हें किसी रूप में नागरिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: वे नागरिकता के अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

नागरिकता के विषय में वैधानिक नियम : वैधानिक अर्थ में किसी राज्य की नागरिकता दो प्रकार से प्राप्त हो सकती है : जन्म से या विकल्प से। साधारणत: जो व्यक्ति जिस राज्य की भूमि पर जन्म लेता है और यदि माता-पिता उसी राज्य के नागरिक हैं, तो बालक को वयस्क होने पर उसी राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यह साधारण नियम किसी भी राज्य के बहुसंख्यक निवासियों की नागरिकता का प्रश्न हल कर देता है। आजकल जन्म के आधार पर नागरिकता निश्चित करने के दो नियम प्रचलित है जिन्हें क्रमश: स्थानीय नियम और आनुवंशिक नियम कहते हैं।

नागरिकता का स्थानीय नियम सामंतवादी काल से चला आ रहा है। व्यवहार में सरल और उपयोगी होने के कारण इसे इंग्लैंड, अमरीका, भारत आदि देशों ने स्वीकार कर लिया है। इसके द्वारा किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता या नागरिकता केवल उसके जन्म-स्थान के आधार पर निर्धारित कर दी जाती है।

राष्ट्रीयता निर्धारित करने का आनुवंशिक नियम सर्वप्रथम नेपोलियन ने फ्रांस के लिए स्वीकार किया। राष्ट्रवाद की भावना के विकास के साथ साथ यह आनुवंशिक नियम दूसरे राष्ट्रीय राज्यों ने भी स्वीकार कर लिया। इटली, जर्मनी, रूस, चीन, जापान इत्यादि देशों ने इसी नियम को स्वीकार किया। आनुवंशिक नियम के अनुसार नागरिकता माता-पिता की राष्ट्रीयता के आधार पर निश्चित की जाती है। अब इंग्लैंड, अमरीका और भारत जैसे देश स्थानीय नियम के साथ साथ आनुवंशिक नियम को भी मानने लगे है।

नागरिकता संबंधी नियमों के भेद के कारण कभी कभी कोई व्यक्ति दोहरी नागरिकता का अधिकारी हो सकता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी पसंद के अनुसार उनमें से एक देश की नागरिकता अस्वीकार करनी पड़ती है क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक ही समय में दो राज्यों का नागरिक नहीं रह सकता।

इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से अपने देश की नागरिकता छोड़कर निवास के आधार पर किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। स्त्री विदेशी से विवाह करने पर प्राय: अपने पति के राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेती है। इंग्लैंड, फ्रांस इत्यादि देशों के अनेक नागरिक अमरीका जाकर वहा के नागरिक बन गए थे। प्रत्येक राज्य वैकल्पिक नागरिकता के लिए कुछ आवश्यक शर्तें निर्धारित करता है। प्रवास, विवाह या किसी भयंकर अपराध के कारण राज्य किसी नागरिक को नागरिकता के वैधानिक अधिकारों से वंचित कर सकता है।

संदर्भ

1. सेमूर मार्टिन लिप्सेट : 'पोलिटिकल मैन', पृ० 23
2. आर ऐम मैकीवर : 'दि माडर्न स्टेट', पृ० 47-50

3. वही, पृ॰ 41-44.
4. वही, पृ॰ 74-82.
5. वहा, पृ॰ 115-20.
6 वही, पृ॰ 121-48.
7. ज्यार्ज सेबाइन : 'ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियरी', पृ॰ 3-20.
8. वही, पृ॰ 198-223.
9. वही, पृ॰ 542-74.
10 वही, पृ॰ 682-714.
11. आर एम मैकीवर : 'दि माडर्न स्टेट', पृ॰ 438-46.
12. वही, पृ॰ 455-60
13. वही, पृ॰ 461-67.

4

अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति और न्याय

नागरिकता एवं राजनीतिक मनुष्यता की परिभाषा में ही अधिकारों और कर्तव्यों का समावेश होता है। राजनीति का यह एक महत्वपूर्ण विषय है। अधिकार उन सुविधाओं को कहते हैं जिनका उपयोग कर मनुष्य अपने जीवन को सुखी और सार्थक बना सकते हैं। किसी समाज की उन्नति का मापदंड उस समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को समझा जाता है। जिस समाज में नागरिक के जितने अधिक अधिकार स्वीकार कर लिए जाते हैं वह समाज उतना ही अधिक उन्नतिशील माना जाता है।

इन अधिकारों के बदले जो कार्य व्यक्तियों को करने पड़ते हैं, उन्हें कर्तव्य कहते हैं। कर्तव्य और अधिकार एक दूसरे पर आश्रित हैं। उन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू समझना चाहिए। जिसे हम अपने दृष्टिकोण से अपना अधिकार मानते हैं, उसी को दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखने पर कर्तव्य माना जाएगा। यदि हमे जीवन का अधिकार है तो हमारा यह कर्तव्य भी है कि हम दूसरे व्यक्तियों की जान न लें। यदि हमें अपने धर्म पर दृढ रहने का अधिकार है तो हमारा यह कर्तव्य भी है कि हम दूसरे धर्म के अनुयायियों की धार्मिक स्वतंत्रता का सम्मान करें। यदि हमें दूसरों की आलोचना करने का अधिकार है तो यह भी आवश्यक है कि दूसरों के द्वारा अपनी आलोचना सुनना और सहन करना भी हम अपना कर्तव्य समझें। जिस समाज में मनुष्य अपने अधिकारों का उचित प्रयोग और कर्तव्यों का सही ढंग से पालन करते हैं, वही समाज वास्तव मे सुखी और समुन्नत बन सकता है।

अधिकारों के स्वरूप और विकास के संबंध में भिन्न भिन्न सिद्धात प्रचलित हैं, जिनमें मुख्य ये है: प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धांत, अधिकारों का वैधानिक सिद्धांत, अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत, अधिकारों का उदारवादी सिद्धांत और अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत।

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत: इस सिद्धांत के अनुसार प्रकृति ने ही मनुष्य को अधिकार प्रदान किए हैं। अधिकार मानवस्वभाव के आवश्यक अंग हैं। अधिकारों को हमें स्वयसिद्ध सत्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए, जिनके लिए हमें किसी बाहरी की आवश्यकता नहीं है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्रारंभ होने

ही मनुष्यों को प्रकृति की ओर से अधिकार प्राप्त थे।

लाक ने अधिकारों के विषय में लिखा है कि समाज के संगठन के पूर्व जब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में था तब भी वह प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। लाक पहले उदारवादी लेखक हैं जो प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार है।[1]

टामस पेन ने भी प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का समर्थन किया है। फ्रांसीसी और अमरीकी क्रांतियों के विकास में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत ने व्यापक प्रभाव डाला। रूसो ने कहा कि मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्रता का अधिकारी है किंतु सभ्यता और समाज उसे जंजीरों से जकड देते हैं। आर्थिक क्षेत्र मे प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन ऐडम स्मिथ, रिकार्डो और अर्थशास्त्र के अन्य व्यक्तिवादी लेखकों ने किया। इस प्रकार प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत उदारवादी राजनीतिक परंपरा का अभिन्न अंग रहा है।

आजकल प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को उचित नहीं माना जाता। प्रकृति से भिन्न भिन्न लेखको के भिन्न भिन्न अभिप्राय होते हैं। कुछ लोग प्रकृति का अर्थ संपूर्ण जगत मानते हैं जिसमें चेतन और अचेतन तत्व शामिल हैं। कुछ उसे केवल जड़ पदार्थों का पर्यायवाची मानकर उसमें चेतन प्राणियों को शामिल नही करते। कुछ विचारकों का प्रकृति से तात्पर्य मानवस्वभाव होता है; कुछ लोग प्राकृतिक का अर्थ ईश्वरीय या नैतिक मानते हैं। अन्य लोग प्राकृतिकता से मनुष्य की प्रारंभिक और अविकसित समाजपूर्व अवस्था का बोध कराते हैं। अतएव भिन्न भिन्न लेखकों ने प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से की है।

कुछ लोग इन्हें ईश्वरप्रदत्त अधिकार बताते हैं। ग्रीन और दूसरे आदर्शवादियो के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों से तात्पर्य नैतिक अधिकारों से है। लाक के अनुसार अधिकारों को प्राकृतिक इसलिए माना गया है क्योंकि मनुष्य ने उन्हें राजनीतिक समाज की स्थापना के पूर्व अपने जातीय विकास की प्रारंभिक अवस्था में ही प्राप्त कर लिया था। हाब्स के मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार समाजपूर्व अवस्था मे व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक शक्तियां हैं। जर्मन दार्शनिक इमेनुअल कांट ने प्राकृतिक अधिकारों को मानवस्वभाव की अंतरंग आवश्यकता बताया है।

प्राकृतिकता के अर्थ में स्पष्टता न होने से प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के समर्थकों मे भी मतभेद पाए जाते हैं। कुछ लेखक जैसे अरस्तू दासप्रथा को प्राकृतिक कहते हैं और अन्य लेखक इसी दासप्रथा को अप्राकृतिक बताकर उसकी आलोचना करते हैं। कुछ विचारक स्त्रियों और पुरुषों की समानता को अप्राकृतिक समझते हैं तो अन्य लोग उसे प्राकृतिक मानते हैं। कुछ लोग व्यक्तिगत संपत्ति को मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार मानते हैं और दूसरे लोग इसे मनुष्यकृत विशेषाधिकार बताकर इसकी आलोचना करते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि हम किसी लेखक के प्राकृतिक अधिकारों की सूची पर विचार करें तो उसमें असंगति पाई जाएगी। उदाहरणार्थ स्वतंत्रता और समानता दो प्राकृतिक अधिकार हैं और दोनों का ही क्षेत्र असीमित है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से अगर हम

व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं तो उच्छृंखलता का वातावरण उत्पन्न हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप समानता का अधिकार व्यर्थ हो जाएगा। इसी प्रकार अगर हम समाज में समानता लाने का प्रयत्न करेंगे तो व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबंध लगाना भी आवश्यक हो जाएगा। अतएव प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत में अधिकारों की व्यावहारिकता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

इस सिद्धांत में एक दोष यह भी है कि इसके अनुसार समाज और उसके संगठन को अधिकारों का विरोधी समझा जाता है। रूसो का विचार था कि मनुष्य अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में तो स्वतंत्र था लेकिन समाज की स्थापना से उसकी प्राकृतिक स्वतंत्रता नष्ट हो गई। रूसो का विश्वास था कि सामाजिक संगठन और सभ्यता के विकास से हमारा नागरिक जीवन पतन के गर्त में गिरता चला गया। परंतु स्वयं रूसो ने बाद में स्वीकार किया कि यह विचार ठीक नहीं है। वास्तव में मनुष्य ने अपने अधिकारों की प्राप्ति राजनीतिक समाज में रहकर ही की है और उनकी सुरक्षा भी समाज के अंदर रहकर कानून के द्वारा ही हो सकती है। अराजकता के वातावरण में अधिकारों की प्राप्ति और सुरक्षा संभव नहीं है।

अधिकारों का वैधानिक सिद्धांत : इस सिद्धांत के अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति वैधानिक व्यवस्था से हुई है। राज्य कानून बनाकर हमारे अधिकारों की सृष्टि करता है। न्यायालय हमारे अधिकारों को संरक्षण प्रदान करते हैं। मनुष्य को प्रकृति से कोई अधिकार नहीं मिलते। अधिकारों की परिभाषा संविधान और कानूनों के द्वारा की जाती है। अधिकार असीमित नहीं होते अपितु परिस्थितियों के अनुसार उनकी सीमा निर्धारित कर दी जाती है। जीवन, स्वतंत्रता या संपत्ति के अधिकार हम उसी सीमा तक प्राप्त कर सकते हैं जिस सीमा तक किसी राज्य के कानून ने उनको स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धांत प्राकृतिक अधिकारों को विचारकों की कल्पना मात्र समझता है। बेंथम के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना 'निरी मूर्खतापूर्ण' है। बोदा, हाब्स, बेंथम और आस्टिन वैधानिक अधिकारों के सिद्धांत के समर्थक हैं।

उपर्युक्त सिद्धांत के आलोचक कहते हैं कि कानून केवल अधिकारों को सुरक्षित रखता है, उनका सृजन नहीं करता। स्पेंसर का कथन है कि राज्य अधिकारों की रचना नहीं करता, वह समाज की परंपराओं द्वारा स्वीकृत अधिकारों की रक्षा करता है। अधिकारों का वास्तविक आधार जनमत और लोगों के नैतिक विचारों में खोजना चाहिए। लास्की का विचार है कि अधिकारों का पालन स्वभाव और परंपरा पर निर्भर है न कि कानून की लिखित धारा पर। टी एच ग्रीन के अनुसार नैतिक दृष्टि से कानून का विरोध करना भी नागरिक का अधिकार हो सकता है। वैधानिक अधिकारों के सिद्धांत में सचाई का अंश अवश्य है, लेकिन इस सिद्धांत में अधिकारों के औपचारिक पहलू पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया जाता है।[2]

अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत : इस सिद्धांत के अनुसार अधिकारों का धीरे धीरे विकास हुआ है। अधिकारों का स्रोत हमें किसी देश की ऐतिहासिक परंपराओं में देखना चाहिए। ऐडमंड बर्क का कथन है कि इंग्लैंड में नागरिक के अधिकारों का

की राष्ट्रीय परंपराओं को समझना चाहिए। ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिवर्तन से अधिकारों के चरित्र में भी परिवर्तन हो जाता है। प्राचीन यूनान के नगरराज्यों और रोम के साम्राज्य में दास रखना स्वतंत्र नागरिक का अधिकार समझा जाता है क्योंकि वहां की परंपरा इस अधिकार को स्वीकार करती थी। वर्तमान काल में दास रखने की परंपरा समाप्त हो गई है। इसलिए किसी भी सभ्य देश में दास रखना नागरिकों के अधिकार के अंतर्गत नहीं आता। ऐसा क्यों है ? इसलिए कि वर्तमान काल की ऐतिहासिक परिस्थितियां प्राचीन यूनान और रोम की परिस्थितियों से बिलकुल भिन्न हैं।

इसी प्रकार पूंजीवादी युग में असीमित संपत्ति का अर्जन और उसके द्वारा दूसरे मनुष्यों के श्रम का शोषण संपन्न नागरिक का अधिकार है। समाजवादी देशों में इतिहास का एक चरण आगे बढ़ जाने से व्यक्तिगत संपत्ति को अधिकार नहीं माना जाता। अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धांत के अनुसार अधिकार चिरस्थाई नहीं हैं अपितु परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं।

ऐतिहासिक सिद्धांत का एक दोष यह है कि परंपराओं को जब अधिकारों का आधार मान लिया जाता है तो प्रगति के विरोधी नई परिस्थितियों में नए अधिकारों का विरोध यह कहकर करते हैं कि ये अधिकार सर्वथा नवीन हैं और ऐतिहासिक परंपरा उन्हें स्वीकार नहीं करती। फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों के मौके पर क्रांतिविरोधी तत्वों ने परंपराओं और रूढ़ियों के आधार पर ही नए राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों की मांगों का विरोध किया था। परंतु वास्तव में यह ऐतिहासिक सिद्धांत का रूढ़िवादियों द्वारा दुरुपयोग है। ऐतिहासिक सिद्धांत की मूल भावना परिवर्तन की विरोधी नहीं अपितु समर्थक है।

अधिकारों का उदारवादी सिद्धांत : इस सिद्धांत का प्रतिपादन पहले इंग्लैंड के उपयोगितावादी लेखक बेंथम और जान स्टुअर्ट मिल ने किया। इनका कथन है कि समाज में केवल वे अधिकार मान्य हो सकते हैं जो उस समाज के बहुसंख्यक सदस्यों के लिए लाभकर और उपयोगी हों। अधिकारों का उद्देश्य किसी अल्पसंख्यक वर्ग के स्वार्थों का साधन करना नहीं है बल्कि अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख पहुंचाना है। बेंथम और जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार उपयोगिता ही अधिकारों के निर्णय की कसौटी है। लास्की के कथनानुसार भी लोककल्याण अधिकारों का आधार है। जिन परिस्थितियों के अभाव में मनुष्य की उन्नति रुक जाती है, उन्हीं परिस्थितियों को उत्पन्न करना और सुरक्षित रखना अधिकारों का लक्ष्य है।

उपयोगितावादी सिद्धांत में एक कठिनाई यह है कि उपयोगिता की नापतोल नहीं हो सकती और बेंथम का 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' ऐसा सिद्धांत नहीं है जिसकी स्पष्ट व्याख्या की जा सके और जिसे ठीक ढंग से कार्यान्वित किया जा सके। उपयोगितावादी लेखक प्रायः वैयक्तिक स्वतंत्रता और निजी संपत्ति के अधिकारों का समर्थन करते हैं और इन्हें समाज के बहुसंख्यक वर्ग के लिए हितकर समझते हैं, जैसा जान स्टुअर्ट मिल ने स्वयं स्वीकार किया कि उपयोगितावाद और वैयक्तिक स्वतंत्रता में कोई तार्किक संगति नहीं है और दोनों में संघर्ष होने पर वे वैयक्तिक स्वतंत्रता का

समर्थन करेंगे। किंतु जान स्टुअर्ट मिल और हेरोल्ड लास्की सामाजिक हित के लिए निजी संपत्ति के अधिकार को सीमित करना चाहेंगे।

अधिकारों के उदारवादी सिद्धात का समर्थन टी एच ग्रीन जैसे आदर्शवादी भी करते हैं। आदर्शवादी लेखकों के अनुसार राज्य एक नैतिक संगठन है जिसका उद्देश्य नागरिकों के लिए नैतिक उन्नति की परिस्थितिया उत्पन्न करना है। हीगल के अनुसार व्यक्ति की उन्नति राज्य की उन्नति में शामिल है। अतएव व्यक्ति राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकारों का दावा नही कर सकता। काट और ग्रीन इस मत से सहमत नही हैं।

ग्रीन के अनुसार अधिकार उन परिस्थितियों को कहते है जिनके द्वारा व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने आदर्शों के अनुकूल अपने व्यक्तित्व की उन्नति करने का अवसर मिलना चाहिए। इन्हीं अवसरों और सुविधाओं को अधिकार कहा जाता है। आदर्शवादियों के अनुसार अधिकारों का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों का नैतिक विकास है। इसलिए आदर्शवादी लेखक अधिकारो के साथ साथ कर्तव्यों पर विशेष जोर देते हैं।

वैधानिक सिद्धात को टी एच ग्रीन अपूर्ण मानते है। यह सिद्धात केवल ऐसे अधिकारों की चर्चा करता है जिन्हें अब तक राज्य और कानून के द्वारा स्वीकार कर लिया गया है। किंतु आदर्शवादी ऐसे नए अधिकारों की भी माग करता है जिन्हें स्वीकार करने की आवश्यकता है और जिन पर भविष्य मे नागरिकों की नैतिक प्रगति निर्भर है।

वास्तव में आदर्शवादी सिद्धात भी दोषरहित नहीं है। हमारे नैतिक अधिकार क्या है? अधिकारों को निश्चित करने का सही मापदंड क्या है? व्यक्तित्व की परिभाषा क्या है? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिन पर आदर्शवादी लेखकों के मतों में भी एकता नही है। क्या व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार नैतिक है? क्या शिक्षा या संपत्ति के आधार पर मताधिकार को सीमित करना अनैतिक है? इन प्रश्नो का उत्तर लेखक व्यक्तिगत धारणाओं के अनुसार देते है। अरस्तू दासप्रथा को, हीगल निरंकुश शासन को और टी एच ग्रीन निजी संपत्ति के अधिकार को नैतिक समझते थे। हेरोल्ड लास्की भी अधिकारों की आदर्शवादी व्याख्या करते है किंतु वे निजी संपत्ति के अधिकार, निरंकुश शासन और दासप्रथा को अनैतिक मानते है।[3]

अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत : इस सिद्धात का प्रतिपादन कार्ल मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने किया है। उनके अनुसार किसी समाज मे अधिकारों का स्वरूप और चरित्र उस समाज की आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है। समाज वर्गों में विभाजित रहता है। जिस समाज मे जिन वर्गों का प्रभुत्व होता है वास्तव में वे वर्ग ही अधिकारों का उपभोग करते हैं। दासप्रथा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था जिस समाज में पाई जाती है वहां सारे सामाजिक और राजनीतिक अधिकार केवल मालिक वर्ग को दिए जाते है। इसी प्रकार सामंतवादी समाज में अधिकारों का वास्तविक उपभोग सिर्फ सामंत वर्ग करता है।

पूंजीवादी समाज मे पूंजीपतियों के विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए भाति भाति के प्रयत्न किए जाते है। इंग्लैंड जैसे अपेक्षाकृत प्रगतिशील पूंजीवादी प्रजातंत्र मे

भी वयस्क मताधिकार का सबसे पहला प्रयोग 1929 के आम चुनाव में ही किया जा सका। पूंजीवादी प्रजातंत्रों मे मजदूरों को उनके राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखने का प्रयत्न बहुत वर्षों तक किया गया। पूंजीवादी समाज मे उत्पादन के साधनों में निजी संपत्ति के अधिकार को मान्यता दी जाती है और पूंजीपतियों को असीमित पूंजी जमा करने की स्वतंत्रता होती है।

समाजवादी क्रांति के बाद पूंजीपतियों, जमींदारों और दूसरे शोषक वर्गों की निजी संपत्ति का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है या उसे सहकारी स्वामित्व में ले लिया जाता है। उत्पादन के साधनो मे निजी संपत्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया जाता है। शोषक वर्गों के सदस्यों को राजनीतिक अधिकारों से भी वंचित कर दिया जाता है क्योंकि वे इन अधिकारो का उपयोग समाजवादी क्रांति को उलटने के लिए करते हैं। अतएव अधिकारो के चरित्र को समझने के लिए उस देश और काल की आर्थिक व्यवस्था पर ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है।

मार्क्सवादी सिद्धांत अधिकारों के भौतिक पहलू पर विचार करता है। भौतिक आधार की अवहेलना करने पर किसी देश की अधिकारप्रणाली का अध्ययन ठीक तरह से नहीं हो सकता। भारत और चीन की अर्थव्यवस्थाओं के अंतर को समझ लेने पर ही यह समझ मे आ सकता है कि चीन मे काम के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में मान्यता देकर कार्यान्वित क्यो कर दिया गया और भारत मे इसे मूल अधिकार का दरजा न देकर निदेशक सिद्धांत का दरजा क्यो दिया गया और इसे व्यवहार में कार्यान्वित क्यों नहीं किया जा सका? भारत की अर्थव्यवस्था एक अल्पविकसित पूंजीवादी व्यवस्था है जो नागरिकों को रोजगार देने मे सफल नही हो सकती। चीन की अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक विकसित समाजवादी व्यवस्था है जो नागरिकों को रोजगार देने में पूर्ण रूप से सफल है।

उदारवादी विचारक मनुष्यों के वैयक्तिक अधिकारों पर विशेष जोर देते हैं। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता और निजी संपत्ति के अधिकारों को प्राथमिकता देते है। इसके विपरीत मार्क्सवादी लेखक समाज के सामूहिक अधिकारों को प्राथमिकता देते हैं और आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय के अधिकारों का दृढता से समर्थन करते हैं।

मार्क्सवादियों का कथन है कि जिन अधिकारो को अन्य लेखकों ने प्राकृतिक या नैतिक अधिकार माना है, या जिन्हें ऐतिहासिक परंपरा या कानून के द्वारा मान्यता प्राप्त है, या जिन्हें उदारवादी उपयोगिता या व्यक्तित्व के विकास के आधार पर स्वीकार करते है, वे अधिकार वास्तव मे उस समय की भौतिक परिस्थितियों और उनके द्वारा निर्धारित वर्गसंबंधों पर अवलंबित होते हैं। अरस्तू ने स्वामी वर्ग के दास रखने के अधिकार को सिद्ध करने के लिए इतिहास के उदाहरणों, प्राकृतिक नियमों, नैतिक आदर्शों और प्रचलित कानूनों की शरण ली थी, परंतु वास्तव मे इसके पीछे दासता पर आधारित अर्थव्यवस्था और उसमें निहित स्वामी वर्ग के आर्थिक स्वार्थ छिपे हुए थे।

निजी संपत्ति को हाब्स ने कानूनी अधिकार माना, लाक ने उसे प्राकृतिक अधिकार बताया, बर्क ने उसे ऐतिहासिक परंपरा के आधार पर स्वीकार किया, बेंथम ने उसे

उपयोगिता के आधार पर मान्यता दी और टी एच ग्रीन ने उसे व्यक्तित्व के विकास के लिए नैतिक रूप से आवश्यक समझा। मार्क्स के अनुसार निजी संपत्ति का अधिकार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और उसमे निहित वर्गसबंधों के लिए एक अनिवार्य शर्त है। केवल समाजवादी अर्थव्यवस्था में जब एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को समाप्त कर दिया जाए, तभी निजी संपत्ति के अधिकार का अंत किया जा सकता है।

अधिकारों का वर्गीकरण

उदारवादी लेखक अधिकारों को दो वर्गों मे बाटते हैं : नागरिक अधिकार और राजनीतिक अधिकार। नागरिक अधिकारों में जीवनरक्षा का अधिकार, विचार और भाषण की स्वतंत्रता, धार्मिक विश्वास की आजादी, कानून के सामने समानता, न्याय पाने का अधिकार और निजी संपत्ति रखने का अधिकार शामिल है। राजनीतिक अधिकारो से उनका तात्पर्य उन अधिकारो से है जिनके द्वारा नागरिक अपने देश की राजनीति और शासन मे भाग लेते हैं। चुनाव मे वोट देने का अधिकार, उम्मीदवार होने का अधिकार, योग्यता के अनुसार पद पाने का अधिकार आदि राजनीतिक अधिकारो के उदाहरण है। वर्तमान युग लोकतंत्र का युग है। अतएव अब सभी देशों मे उपर्युक्त अधिकारो को मान्यता दे दी गई है। लिखित संविधान इन्हे जनता के मूल अधिकारो के रूप मे स्वीकार करते हैं और न्यायालय उन्हे संरक्षण प्रदान करते हैं।

मार्क्सवादियों के अनुसार उपर्युक्त अधिकार उदारवादी और व्यक्तिवादी विचारधारा के अधिकार हैं। समाजवादी समाज मे नागरिको को सामूहिक रूप से सामाजिक-आर्थिक अधिकार भी दिए जाते हैं। इनमे मुख्य काम पाने का अधिकार, बेकारी, बीमारी या वृद्धावस्था में आर्थिक सहायता पाने का अधिकार, न्यूनतम वेतन का अधिकार, शिक्षा पाने का अधिकार, सामाजिक और आर्थिक न्याय पाने का अधिकार, सामाजिक समानता का अधिकार आदि शामिल हैं। भारत के संविधान मे सामाजिक-आर्थिक अधिकारो को निदेशक सिद्धांतो के रूप मे स्वीकार किया गया है जिन्हें कार्यान्वित करना या न करना सरकार की इच्छा पर निर्भर है। इसके विपरीत उदारवादी-व्यक्तिवादी अधिकारों को मूल अधिकारो के अध्याय मे शामिल किया गया है जिनका संरक्षण हमारे देश के न्यायालय करते है।

जीवन का अधिकार : यह आश्चर्य की बात है कि जीवन का अधिकार भी पूर्ण रूप से केवल आधुनिक युग मे स्वीकार किया गया है। प्राचीन काल में कुटुंब के सम्मुख व्यक्ति की कोई महत्ता नही थी। स्पार्टा मे दुर्बल बालकों को मार दिया जाता था। कुछ स्थानों में लड़कियों को मार डालने की प्रथा प्रचलित थी। यूरोप के पादरी कुमारी स्त्री को जादूगरनी बताकर आग मे जला देते थे। भारत मे अठारहवी सदी तक विधवा स्त्री को सती के रूप में जलाया जाता था। गुलामों को मार डालने पर कानून मालिको को कोई दंड नही देता था। हमे याद रखना चाहिए कि गुलामी की प्रथा अमरीका मे उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध तक कायम थी। अफ्रीका मे दासों के व्यापार मे ल नीग्रो दासों को जान से मार दिया गया। यूरोपीय प्रवासियों ने अमरीका मे

वहां की आदिम जातियों का क्रूरतापूर्वक संहार कर डाला।

परंतु अब परिस्थिति बदल गई है और जीवन की सुरक्षा के अधिकार को सभी सभ्य देशों की वैधानिक व्यवस्था मे स्थान मिल गया है। इस अधिकार का यह अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक के जीवन की राज्य की ओर से रक्षा होनी चाहिए। राज्य प्रत्येक नागरिक के जीवन को समान महत्व प्रदान करेगा। हमारे लिए आज जीवित रहना एक सामाजिक कर्तव्य भी माना जाता है। आत्महत्या करना कानून द्वारा दंडनीय होता है। इसी प्रकार हमारा यह कर्तव्य है कि दूसरों के जीवित रहने के अधिकार का सम्मान करें। इसीलिए जो व्यक्ति हत्या का अपराधी है, वह स्वयं भी जीवित रहने के अधिकार को खो देता है।

आजकल कुछ समाज सुधारक मृत्युदंड का नागरिक आदर्शों के नाम पर विरोध करते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य जब किसी व्यक्ति की जान लेता है तो वह ऐसा क्षणिक आवेश मे करता है। मृत्युदंड की प्रथा के कारण अपराधी को आत्मसुधार का अवसर नही मिलता। मृत्युदंड के समर्थक इस युक्ति को ठीक नहीं समझते। उनका विचार है कि मृत्युदंड की समाप्ति से समाज के निकृष्ट तत्वों को हत्या करने का बढ़ावा मिल जाएगा और शांतिप्रिय नागरिकों का जीवन और भी अधिक खतरे में पड़ जाएगा। इसलिए हत्यारों के आत्मसुधार के लिए संपूर्ण समाज की शांति को खतरे मे डालना अनुचित है।

आत्मरक्षा का अधिकार जीवन के अधिकार मे ही शामिल है। स्वतंत्र देशों मे आत्म-रक्षा के लिए हथियार रखने का अधिकार भी होता है। औपनिवेशिक देशों मे साम्राज्य-वादी शासक जनता को हथियार देने से डरते है। इसीलिए ब्रिटिश शासनकाल में भारतीयों को हथियार रखने का अधिकार नही था अथवा उस पर कड़ा नियंत्रण था।

टी एच ग्रीन ने आत्मरक्षा और जीवन के अधिकार की चर्चा करते हुए बताया है कि आत्मरक्षा के आधार पर ही युद्ध की बर्बरता को न्यायसंगत माना जा सकता है। जिन लड़ाइयों का उद्देश्य आक्रमण द्वारा साम्राज्यविस्तार करना हो उन्हें न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। ग्रीन के अनुसार युद्धों में जो हिंसा होती है वह मनुष्य के जीवनसंबंधी अधिकार का उल्लंघन है। हीगल के इस मत से कि युद्ध राष्ट्रीय स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, ग्रीन बिलकुल सहमत नहीं हैं।

संतान उत्पन्न करने का अधिकार भी जीवन के अधिकार से संबंधित है। प्रत्येक मनुष्य की इच्छा होती है कि वह विवाह करे और संतान द्वारा अपना वंश चला सके। समाज व्यक्ति के इस अधिकार को स्वीकार करता है परंतु असीमित रूप से नही। कोढ़ियों, पागलों या खतरनाक बीमारियों से ग्रस्त लोगो के इस अधिकार पर प्रतिबंध लगाना उचित है। जहां नागरिक को स्वतंत्र रूप से पारिवारिक जीवन बिताने का अधिकार है वहां उसका यह कर्तव्य भी है कि अधिक बच्चे पैदा कर समाज पर व्यर्थ का भार न बढ़ाए। जितना बड़ा उसका परिवार हो, उसके लिए वह भरण-पोषण और शिक्षण की व्यवस्था भी कर सके।

लोककल्याणकारी या समाजवादी देशो मे राज्य के द्वारा बालकों के पालन-पोषण और उनकी समुचित शिक्षा की व्यवस्था भी की जाती है। प्रत्येक बालक का यह अधिकार

है कि समाज उसके पालन-पोषण और शिक्षण का उचित प्रबंध करे जिससे आगे चलकर वह योग्य नागरिक बन सके। अगर परिवार के द्वारा बालक की ये आवश्यकताएं पूरी न हो सकें तो राज्य का यह कर्तव्य है कि वह बालकों की इन न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करे। बालक राष्ट्रीय निधि हैं और उन्हीं पर समाज की उन्नति भविष्य मे निर्भर है।

जीविका का अधिकार : वर्तमान युग मे जीवन के अधिकार के आर्थिक पक्ष की विशेष चर्चा होने लगी है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के अधिकार के साथ ही जीविका का अधिकार भी होना चाहिए। जीविका पर ही जीवन अवलंबित है। भारत में ही अनेक युवक प्रतिवर्ष, जीविका के अभाव में आत्महत्या कर लेते है। जीविका के अभाव में बहुत से लोग और उनके परिवारों के सदस्य भूख और बीमारी के शिकार बन जाते है। इसलिए इस बात पर कोई विवाद नही हो सकता कि समाज द्वारा प्रत्येक नागरिक को कोई उपयोगी कार्य अवश्य मिलना चाहिए। अपने कार्य के लिए उसे न्यूनतम वेतन की गारंटी भी मिल जानी चाहिए। यदि समाज उसे कोई रोजगार न दे सके तो उसके बेकार रहने के समय तक बेरोजगारी भत्ता मिलना चाहिए।

समाजवादी देशों में राज्य की यह जिम्मेदारी होती है कि वह प्रत्येक नागरिक को रोजगार दे और उसका न्यूनतम वेतन निर्धारित करे। राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक को उपलब्ध रोजगार के लिए प्रशिक्षण का प्रबंध करे और उपयोगी नागरिक बनाने के लिए न्यूनतम शिक्षा का प्रबंध करे। राज्य जिस नागरिक को काम न दे सके, उसे बेकारी के समय में जरूरी आर्थिक सहायता दे।

सोवियत रूस या जनवादी चीन में जीवन के अधिकार का केवल यह तात्पर्य नही होता कि राज्य कानून के जरिए समाज मे शांति और व्यवस्था रखे जिससें नागरिको का जीवन सुरक्षित रहे। वहां जीवन के अधिकार का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को वे सभी सुविधाएं मिलें जिनको प्राप्त करके वह अपने जीवन को संतुष्ट, सुखमय और सुसंस्कृत बना सके। इसीलिए साम्यवादी देशों में राज्य की ओर से नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार के लिए प्रशिक्षण, जीविका और न्यूनतम वेतन का प्रबंध किया जाता है। परंतु जब राज्य नागरिकों को इस प्रकार के अधिकार और सुविधाएं देता है तो उनका भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वे ईमानदारी से परिश्रम करके समाज की सामूहिक उन्नति में समुचित योग दें।

स्वतंत्रता का अधिकार : स्वतंत्रता के नाम पर इतिहास में बड़े से बड़े बलिदान हुए हैं। खून की नदियां बहाई गई हैं और रोमांचकारी क्रांतियां हुई हैं। कभी कभी स्वतंत्रता के नाम पर घृणित काम भी हुए हैं। संसार मे स्वतंत्रता की भावना के अतिरिक्त बहुत कम ऐसे आदर्श हैं जिन्होंने मनुष्य को इतना अधिक प्रभावित किया हो।

अब प्रश्न उठता है कि राजनीतिविज्ञान मे स्वतंत्रता का क्या अर्थ है, कुछ लोग स्वतंत्रता का अभिप्राय सब प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाना समझते है। इस प्रकार की स्वतंत्रता वास्तविक अर्थ मे स्वतंत्रता नही उच्छृंखलता कहलाएगी। स्वतंत्रता का अर्थ बंधनहीनता नहीं है। इस प्रकार की बंधनहीन स्वतंत्रता केवल अराजकता के वातावरण में प्राप्त हो सकती है। फिर भी कुछ व्यक्तिवादी लेखक स्वतंत्रता की परिभाषा बंधनों से

आजादी के रूप में करते हैं। वह स्वतंत्रता की नकारात्मक परिभाषा है।

स्वतंत्रता की सकारात्मक परिभाषा के अनुसार इसे व्यक्तित्व के विकास का अवसर माना जाता है। नागरिकों को अपनी भौतिक और नैतिक उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। यह अवसर तभी मिल सकता है जब समाज कुछ नियम बनाकर एक व्यक्ति के जीवन में दूसरे व्यक्ति द्वारा अनुचित हस्तक्षेप न होने दे। अतएव स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राज्य को कुछ नियम बनाने पड़ेंगे जिनका पालन करना नागरिकों के लिए अनिवार्य होगा।

इन नियमो के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं पर कुछ प्रतिबंध भी अवश्य लगेंगे। दूसरे शब्दो मे, स्वतंत्रता की रक्षा के निमित्त सामाजिक बंधनों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इन सामाजिक बंधनों को स्वतंत्रता में बाधक न मानकर सहायक समझना चाहिए। परंतु इसका यह अर्थ नही कि सभी सामाजिक बंधन स्वतंत्रता के सहायक हैं। अनेक प्रकार के सामाजिक बंधन स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक भी सिद्ध हो सकते हैं।

प्राकृतिक स्वातंत्रता : कुछ लोगों का कथन है कि मनुष्य प्रकृति की ओर से स्वतंत्र हैं। प्रकृति ने तो मनुष्य को स्वतंत्र बनाया है किंतु समाज ने उसे परतंत्र कर रखा है। यह विचार भ्रांतिमूलक है। प्राकृतिक अवस्था मे बलवान मनुष्य दुर्बल मनुष्यों को सताया करते थे और इस प्रकार की कोई शक्ति न थी जो दुर्बल लोगों की स्वतंत्रता की रक्षा कर सके। जब लोगों की जिंदगी ही सुरक्षित नही थी, तो उनकी आजादी की रक्षा किस प्रकार हो सकती थी ? अतएव वास्तविक स्वतंत्रता समाज मे ही प्राप्त हो सकती है।

स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कानून की आवश्यकता पड़ती है। कानून समाज मे राज्य द्वारा बनाए जाते है। अतएव राज्य ही कानून द्वारा स्वतंत्रता की रक्षा करता है। इसलिए प्राकृतिक स्वतंत्रता केवल आदर्शवादी कल्पना है। रूसो, जो प्रारंभ मे प्राकृतिक स्वतंत्रता की बात करते थे, अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि स्वतंत्रता वास्तव में समाज की देन है। टी एच ग्रीन का विचार है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अपनी सहज इच्छाओं और प्रेरणाओं का दास था।

समाज के बनने के उपरांत ही मनुष्य ने विवेक और तर्क की सहायता से इन सहज इच्छाओं और प्रेरणाओं को वश मे करना सीखा। मनुष्य अपनी भौतिक, मानसिक और नैतिक शक्तियो का विकास समाज मे ही कर सकता है। यदि स्वतंत्रता का अर्थ व्यक्तित्व का विकास ही है तो उसका उपयोग समाज मे रहकर ही संभव है। प्राकृतिक स्वतंत्रता के समर्थक लाक भी स्वीकार करते हैं कि राजनीतिक समाज की स्थापना के बाद स्वतंत्रता की रक्षा का दायित्व सरकार और कानून पर होता है।

नागरिक स्वतंत्रता : अतएव राजनीतिविज्ञान मे हम प्राकृतिक स्वतंत्रता को नही अपितु नागरिक स्वतंत्रता (सिविल लिबर्टी) को महत्व देते हैं। राज्य प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ सुविधाएं देता है। वह उन्हें विचार, भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता देता है। जिस समाज मे नागरिकों को स्वतंत्रतापूर्वक सोचने, बोलने और लिखने की स्वतंत्रता नही होती, वह समाज कभी उन्नति नही कर सकता।

इसी प्रकार नागरिकों को इच्छानुसार घूमने-फिरने की और निवास की स्वतंत्रता

होनी चाहिए। संघ बनाकर कार्य करने की आजादी भी नागरिक स्वतंत्रता का आवश्यक अंग है। धार्मिक और सास्कृतिक स्वतंत्रता भी नागरिक स्वतंत्रता मे सम्मिलित है। प्रत्येक नागरिक को अपने विश्वास के अनुसार धर्मपालन की सुविधा होनी चाहिए।

इतिहास को देखने से पता चलता है कि नागरिक स्वतंत्रता का विकास धीरे धीरे हुआ है। निरंकुश शासन के अंतर्गत नागरिकों को विचार, भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता मिलना असंभव था। वैधानिक और लोकतंत्रात्मक शासन के विकास के पश्चात ही लोगों को नागरिक स्वतंत्रता प्राप्त हो सकी है।

नागरिक स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण पक्ष अल्पसंख्यकों की सास्कृतिक स्वतंत्रता भी है। अल्पसंख्यकों की भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाजो और धार्मिक विश्वासों में राज्य की ओर से अनुचित हस्तक्षेप नही होना चाहिए। परंतु इसका यह अर्थ नही है कि राज्य धर्म या संस्कृति के नाम पर तर्कहीन और अन्यायपूर्ण रूढियो या परंपराओं में कोई सुधार नहीं कर सकता।

उदारवादी लोकतंत्र में नागरिक स्वतंत्रता राजनीतिक प्रणाली का अनिवार्य अंग मानी जाती है। नागरिक स्वतंत्रता का एक लक्ष्य यह भी है कि नागरिक अपने दृष्टिकोण के अनुसार सरकार की नीतियों की आलोचना कर सके। समाचार पत्रों के द्वारा नागरिक न केवल सरकार की नीतियों पर बल्कि किसी भी राष्ट्रीय समस्या पर अपने विचार निर्भीक रूप से प्रकट कर सकते हैं। न्यायालय नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा मे महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

आर्थिक स्वतंत्रता : आर्थिक स्वतंत्रता का लोग भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। ऐडम स्मिथ का मत था कि आर्थिक स्वतंत्रता का अभिप्राय निजी व्यवसाय की स्वतंत्रता से है। जिस प्रकार नागरिक स्वतंत्रा का उद्देश्य सामंतों की सामाजिक शक्ति को समाप्त करना था, उसी प्रकार आर्थिक स्वतंत्रता का उद्देश्य मध्यवर्गीय उद्योगों और व्यापार पर लगे हुए सामंतवादी प्रतिबंधों को मिटाना था। ऐडम स्मिथ का विचार था कि विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत पूजी को कार्य करने की पूर्ण सुविधा हो; राज्य अनावश्यक करों के द्वारा पूजी के मुनाफों को कम न करे क्योंकि इससे उद्योगों के विकास में बाधा पहुंचती है, आयात और निर्यात पर भारी करों का बोझ न लादा जाए; और राज्य पूजीपति और मजदूरों के संबंधों का मजदूरो के हित में किसी प्रकार का नियंत्रण न करे। आर्थिक स्वतंत्रता की यह प्रारंभिक उदारवादी और व्यक्तिवादी परिभाषा है।[4]

आर्थिक स्वतंत्रता की उपर्युक्त परिभाषा से हेरोल्ड लास्की सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि निजी व्यवसाय की स्वतंत्रता का अर्थ केवल पूंजीपतियों की स्वतंत्रता है, जिसका आवश्यक परिणाम बहुसंख्यक श्रमिकों की आर्थिक पराधीनता है। पूजीवादी व्यवस्था में मजदूर पूर्ण रूप से पूंजीपतियो के आश्रित और पराधीन होकर रहते हैं। कार्ल मार्क्स का कथन है कि आर्थिक स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ मजदूरों की स्वतंत्रता होना चाहिए जो केवल समाजवाद द्वारा प्राप्त हो सकती है।

पूजीवादी व्यवस्था मे मजदूर न केवल आर्थिक रूप से पराधीन होता है अपितु

धनाभाव के कारण वह अपनी नागरिक स्वतंत्रता का भी समुचित उपयोग नहीं कर सकता। समाचार पत्रों का संचालन और स्वामित्व पूंजीपतियों के हाथ में होने से जिन समाचारों और विचारों को जनता के सम्मुख रखा जाता है, वे मजदूर वर्ग के हितों का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। धर्म-संगठनों पर धनवान व्यक्तियों के अनुचित प्रभाव के कारण धर्म का उपयोग पूंजीवादी शोषण की प्रणाली का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया जाता है। इसीलिए मार्क्सवादियों का विचार है कि मजदूरों की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि पूंजीवादी शोषण की प्रणाली को समाप्त किया जाए।

राजनीतिक स्वतंत्रता : लोकतंत्र के विकास के साथ साथ राजनीतिक स्वतंत्रता का विकास हुआ है। निरंकुश राजतंत्र या अधिनायकतंत्र में राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। *राजनीतिक स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि नागरिकों को देश के शासनप्रबंध में भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए।* शासनप्रबंध में भाग लेने का अधिकार केवल लोकतंत्रात्मक राजनीतिक प्रणाली में दिया जाता है। राजनीतिक स्वतंत्रता का एक पहलू वैधानिक स्वतंत्रता भी है। राज्य को कानून द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वीकार करनी पड़ती है। वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा का दायित्व न्यायालयों पर होता है। किसी भी व्यक्ति को बिना अभियोग साबित किए सरकार बंदी नहीं बना सकती और न उसकी स्वतंत्रता पर किसी अन्य प्रकार का प्रतिबंध लगा सकती है।

लोकतंत्रात्मक राजनीतिक प्रणाली में प्रत्येक नागरिक को राजनीतिक संघों और राजनीतिक दलों के निर्माण की और उनमें कार्य करने की आजादी होती है। उसे केंद्रीय सरकार और संसद के सदस्यों एवं प्रादेशिक और स्थानीय सरकारों और विधानसभाओं के सदस्यों के निर्वाचनों में मतदान देने का अधिकार होता है और निर्धारित योग्यताओं के आधार पर वह किसी भी निर्वाचित पद के लिए उम्मीदवार बनकर चुनाव लड़ सकता है। योग्यता और गुणों के आधार पर प्रत्येक नागरिक ऊंचे से ऊंचे सरकारी पद पर नियुक्त किया जा सकता है। जाति, वंश, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय या लिंग के आधार पर राजनीतिक स्वतंत्रता को सीमित करना लोकतंत्र के युग में अनुचित समझा जाता है।

प्राचीन यूनान के नगरराज्यों में राजनीतिक स्वतंत्रता केवल स्वामी वर्ग को मिली हुई थी। उन्नीसवीं सदी तक इंग्लैंड में प्रतिनिधिशासन और मताधिकार को भूमि और संपत्ति के आधार पर सीमित कर दिया गया था। अभी कुछ वर्ष पहले तक बहुत से सभ्य देशों में स्त्रियों को राजनीतिक स्वतंत्रता के योग्य नहीं समझा जाता था। साम्राज्यवादी शासक अपने उपनिवेशों के निवासियों को राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए अयोग्य समझते थे। फासिस्ट और नाजी शासनप्रणालियों में राजनीतिक स्वतंत्रता को कोई स्थान नहीं दिया जाता। दक्षिण अफ्रीका में राजनीतिक स्वतंत्रता को नस्ल के आधार पर सीमित कर दिया गया है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अनेक देशों में आज सैनिक अधिनायकतंत्र स्थापित है। वहां की जनता को राजनीतिक स्वतंत्रता से वंचित कर दिया गया है।

साम्यवादी देशों में राजनीतिक स्वतंत्रता का रूप भिन्न होता है। एक ही राजनीतिक दल के माध्यम से जनता के शोषित वर्ग राजनीतिक प्रणाली में भाग लेते हैं। शोषक वर्गों

को राजनीतिक स्वतंत्रता से वंचित कर दिया जाता है। सिडनी और बीट्रिस वेब का विचार है कि सोवियत रूस और अन्य साम्यवादी देशों में मजदूरवर्ग और अन्य शोषित वर्गों को राजनीति और प्रशासन मे योगदान देने का व्यापक अवसर मिलता है। एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का अंत हो जाने के कारण समाजवादी समाज मे अनेक राजनीतिक दलों की जरूरत महसूस नही की जाती।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता : आधुनिक युग से पहले लोगों मे राष्ट्रीयता की भावना का कोई स्पष्ट और मूर्त रूप नही था। परंतु फिर भी कबीले, जाति और समूह की रक्षा की भावना का उदय बहुत पहले हो गया था। मध्ययुग मे राष्ट्रीयता की भावना सामंतवादी संघर्षों के कारण विकसित न हो सकी। प्रायः एक राष्ट्रीयता के लोग विभिन्न राजनीतिक इकाइयों में बंटे रहते थे, या एक ही साम्राज्य के अंतर्गत अनेक जातियों के लोगो को मिल-जुलकर रहना पड़ता था।

लोकतंत्र के विकास के साथ साथ राष्ट्रीयता का विकास हुआ और राजनीतिक स्वतंत्रता की माग के साथ राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मांग भी उठाई गई। राष्ट्रीयता के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए भयंकर युद्ध लड़े गए और हिंसात्मक क्रांतियां हुईं। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आंदोलन धीरे धीरे सारे संसार मे फैल गया। एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों ने पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त की।

राष्ट्रीय स्वाधीनता एक प्रकार से सभी अन्य स्वतंत्रताओं की जननी है। नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताएं राष्ट्रीय स्वतंत्रता के उपरांत ही प्राप्त हो सकती हैं। विदेशी शासक कभी भी शासित प्रजा की राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रताओं को स्वीकार नही कर सकते। आर्थिक क्षेत्र मे विदेशी साम्राज्यवादियों का उद्देश्य जनता का शोषण करना ही होता है। अतएव राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बिना उपनिवेशों को आर्थिक शोषण से मुक्ति और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नही हो सकती। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि स्वतंत्रता प्रत्येक राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। भारत ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता अभी कुछ वर्ष पहले लंबी पराधीनता के पश्चात प्राप्त की है। अतएव हम भारतवासी राष्ट्रीय स्वतंत्रता का महत्व भलीभांति समझ सकते हैं।

समानता का अधिकार : स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों को कुछ व्यक्तिवादी लेखक परस्परविरोधी मानते हैं। उनका कथन है कि समानता का अधिकार देने से स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियां समान नही होती हैं। कुछ लोग अधिक चतुर, परिश्रमी और बुद्धिमान होते हैं। कुछ लोग साहसी और उद्यमी होते हैं तो कुछ कायर और काम से जी चुराने वाले होते है। अतएव जीवन-संग्राम में कुछ लोग दूसरों की तुलना मे अधिक उन्नति कर लेते हैं। जो लोग परिश्रमी, साहसी और चतुर होते हैं, वे ही धनवान और सुखी रहते हैं। जो लोग आलसी, डरपोक और मूर्ख होते हैं। वे निर्धन और दुखी रहकर जीवन विताते हैं।

अतः उदारवादियों के अनुसार समाज में विषमताएं होना स्वाभाविक, न्यायसंगत और आवश्यक हैं। यदि राज्य की ओर से सबको समान करने की कोशिश की जाए और

धनवानों की संपत्ति को लेकर सभी नागरिकों में बराबर बराबर बांट भी दी जाए, तो भी कुछ समय बाद हम देखेंगे कि मितव्ययी और अध्यवसायी लोग अपने धन का उचित उपयोग कर फिर से धनवान बन जाएंगे और मूर्ख और आलसी व्यक्ति अपना सारा धन गंवाकर फिर दरिद्र हो जाएंगे। इस प्रकार की उक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि समानता के अधिकार की चर्चा करना बिल्कुल निरर्थक है, क्योंकि उसे कार्यान्वित करना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त इन्हीं उक्तियों के आधार पर यह भी कहा जाता है कि समानता का अर्थ नागरिकों की स्वाभाविक प्रगति और स्वतंत्र विकास पर प्रतिबंध लगाना है।

समाजवादी देशों की अर्थव्यवस्था के संचालन ने सिद्ध कर दिया है कि उपर्युक्त दोनों निष्कर्ष भ्रातिमूलक हैं। ये पूंजीवादी व्यवस्था में निहित आर्थिक विषमताओं को जारी रखने के लिए दी जाने वाली लचर दलीलें है। समानता के अधिकार का अर्थ अवसर और प्रतिष्ठा की समानता है। समानता के समर्थक यह नहीं कहते कि मनुष्य की योग्यताएं समान हैं। इस अधिकार का अभिप्राय इतना ही है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए समान सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए।

आर्थिक विषमताओं के कारण धनी और निर्धन परिवारों के सदस्यों को अपने विकास के लिए समान सुविधाएं नहीं मिलती हैं। यदि अवसर की समानता का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाए तो फिर सभी नागरिकों के लिए शिक्षा और जीविका के लिए जरूरी प्रशिक्षण का समुचित प्रबंध होना चाहिए। वास्तविक स्वतंत्रता समानता के वातावरण में ही पनप सकती है। समानता के अभाव मे स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार की स्वतंत्रता का अर्थ शक्तिशाली लोगों द्वारा दुर्बलों को दबाने का अधिकार हो जाएगा। अतएव स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों को एक दूसरे का पूरक समझना चाहिए।

प्राकृतिक समानता : यह कहा जाता है कि मनुष्य को प्रकृति ने समान बनाया है। मनुष्यों में पारस्परिक विषमताएं कम और समानताएं अधिक है। मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियां लगभग समान है। उनमे जो अंतर. इस समय दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता है। समाज में दिखाई पड़नेवाली अधिकांश विषमताएं मनुष्यकृत हैं। वर्ग, वर्ण, वंश, संप्रदाय और नस्ल के आधार पर जो असमानताएं हमें समाज में दृष्टिगोचर होती हैं, उन्हे मनुष्य ने ही संकुचित स्वार्थों की रक्षा के लिए स्वयं पैदा कर लिया है।

अगर यह मान भी लिया जाए कि समाज में दिखनेवाली अधिकाश विषमताएं मनुष्यकृत है, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि प्रकृति ने प्रतिभा, उद्यम और सामर्थ्य मे सभी मनुष्यों को पूर्णरूप से समान बनाया है। यदि प्राकृतिक समानता का अर्थ मनुष्य की असभ्य और आदिम साम्यवादी अवस्था से हो तो भी हमें ध्यान में रखना चाहिए कि उस असभ्य और आर्थिक रूप मे अविकसित अवस्था की ओर इतिहास के चरण वापस नहीं लौट सकते। सामाजिक विषमताओं को हम समाज के पुनर्गठन द्वारा दूर कर सकते हैं किंतु आदिम युग की प्राकृतिक समानता की ओर लालायित दृष्टि से देखना निरर्थक है।

सामाजिक समानता : समाज में वंश, जाति, संप्रदाय और लिंग के आधार पर सदा से भेदभाव होता आया है। भारत मे जातिप्रथा द्वारा सामाजिक विषमता चरम सीमा तक पहुंचा दी गई थी। जिन देशो में जातिप्रथा प्रचलित नही हुई, वहां भी कुलीन वंश के लोगों और साधारण प्रजाजन मे काफी भेद किया जाता था। धार्मिक कट्टरता के युग मे साप्रदायिक भेदों को भी महत्त्व दिया जाने लगा। प्रायः सभी देशो मे पुरुषो की तुलना में स्त्रियों को हीन स्तर पर रखा गया।

लोकतंत्र के विस्तार के साथ साथ सामाजिक समानता के सिद्धांत का भी प्रचार हुआ। सामंतवाद के नष्ट होने पर कुलीन और साधारण नागरिको का भेद मिट गया। धर्म और जाति के आधार पर जो विषमताएं चली आ रही थी, वे कम कर दी गईं। स्त्रियों की दशा में भी समानता की दिशा मे सुधार होने लगा। परंतु मध्यम वर्गीय बुर्जुआ क्रांति भी समाज में वास्तविक रूप मे समानता का वातावरण उत्पन्न न कर सकी।

पूंजीवादी समाज में आर्थिक समानता का अभाव था। आर्थिक विषमताओं को दूर किए बिना सामाजिक समानता स्थापित करना असभव था। सोवियत रूस में समाजवादी क्रांति के सफल होने पर ही वास्तविक अर्थ में सामाजिक समानता की स्थापना हुई, क्योंकि वहां उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण द्वारा आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के ठोस आधार को खत्म कर दिया गया। जनवादी चीन भी इसी प्रकार सामाजिक और आर्थिक समानता लाने में सफल हुआ है।

आर्थिक समानता : कार्ल मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में लिखा है कि 'अब तक मानव समाज का इतिहास वर्गसंघर्षों का इतिहास है।' समाज में शोषकों और शोषितों के दो वर्ग रहे है, जो सदा आपस मे सत्ता के लिए संघर्ष करते रहे हैं। प्राचीनकाल मे यह संघर्ष स्वामी वर्ग और दास वर्ग मे चलता था। मध्यकाल मे यह संघर्ष सामंत वर्ग और किसान वर्ग में चला। आधुनिक युग मे यह संघर्ष पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग में चल रहा है।[5]

जब तक समाज मे एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण जारी रहता है, तब तक समाज में एकता और बंधुत्व की भावना उत्पन्न नही हो सकती। आर्थिक समानता के अधिकार का यही अभिप्राय है कि समाज से शोषण और वर्गसंघर्ष को मिटाकर धन के न्यायपूर्ण वितरण की प्रणाली स्थापित की जाए। पूंजीवादी व्यवस्था के द्वारा जो आर्थिक विषमताएं समाज मे पैदा हो गई हैं, उन्हें किसी प्रकार न्यायसंगत नही कहा जा सकता।

वस्तुतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत जो लोग सबसे ज्यादा परिश्रम करते हैं, वे ही सबसे ज्यादा गरीब दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि मेहनत करनेवालों को अपने श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि बेचारे मजदूर तो मेहनत करते हैं और उनकी मेहनत का मुनाफा पूंजीपति की जेब में चला जाता है। इस अन्याय को रोकने का एकमात्र उपाय समाजवाद है। समाजवाद यह सिद्धात स्वीकार नहीं करता कि श्रम तो मजदूर करें और उनके श्रम का लाभ पूंजीपति उठाएं। वह शोषण की प्रणाली को समाप्त कर समाज मे आर्थिक न्याय स्थापित करना चाहता है। यह तभी

हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम का उचित मूल्य दिया जाए।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों और वितरण की प्रणाली पर समाज का स्वामित्व या नियंत्रण होता है। आर्थिक समानता धन को बराबर बांट देने से स्थापित नहीं हो सकती और न ऐसा करना व्यावहारिक ही है। आर्थिक समानता लाने का एकमात्र तरीका उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व हटाकर उन्हें जनता के हाथ में दे देना है। अगर एक कारखाना किसी पूंजीपति के हाथ में है तो उस कारखाने से केवल पूंजीपति को ही लाभ होता है और वह करोड़पति बन जाता है। अगर वही कारखाना मजदूर लोग अपने अधिकार में लेकर चलाएं तो उसका लाभ मजदूर ही आपस में बांट सकेंगे, जिसका नतीजा यह होगा कि मजदूरों की जिंदगी खुशहाल हो जाएगी। अतएव समाजवाद द्वारा ही समाज में आर्थिक समानता के अधिकार को वास्तविक अर्थों में कार्यान्वित किया जा सकता है।

राजनीतिक समानता : राजनीतिक समानता का एक महत्वपूर्ण पक्ष वैधानिक समानता है। कानून के सामने प्रत्येक व्यक्ति को समान समझा जाना चाहिए। कानून के अनुसार किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। न्यायालयों के द्वारा सभी नागरिकों के अधिकारों की रक्षा समान रूप से होनी चाहिए। राजनीतिक समानता का यह आशय भी है कि शासन में भाग लेने का अवसर सभी नागरिकों को समान रूप से मिलना चाहिए। व्यवस्थापिका सभाओं और प्रशासन संस्थाओं के निर्वाचन में प्रत्येक नागरिक को मतदान देने का और उम्मीदवार बनकर खड़े होने का अधिकार होना चाहिए। समान योग्यता होने पर समान उन्नति करने का और योग्यतानुसार ऊंचे से ऊंचा प्रशासनिक पद पाने का भी प्रत्येक नागरिक को समान अवसर मिलना चाहिए।

भारतीय गणराज्य में राजनीतिक समानता का अधिकार माना जाता है किंतु दक्षिण अफ्रीका में राजनीतिक समानता का सिद्धांत नहीं माना जाता। भारत में प्रत्येक नागरिक को समान राजनीतिक अधिकार दिए गए हैं किंतु दक्षिण अफ्रीका में राजनीतिक अधिकार केवल यूरोपिय नस्ल के लोगों को दिए गए हैं। फलतः वहां यूरोपीय, एशियाई और अफ्रीकी नस्ल के लोगों के बीच में राजनीतिक समानता नहीं है। अन्य पूंजीवादी लोकतंत्रों में वैधानिक और राजनीतिक समानता के सिद्धांतों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया है। लास्की का कथन है कि आर्थिक समानता के वातावरण में ही वैधानिक और राजनीतिक समानता के आदर्शों को पूर्ण तौर से कार्यान्वित किया जा सकता है।

संपत्ति का अधिकार : पूंजीवादी लोकतंत्र में नागरिकों को निजी संपत्ति अर्जित और एकत्र करने का अधिकार होता है। लाक का विचार था कि अपने परिश्रम से कमाए हुए धन पर प्रत्येक नागरिक का व्यक्तिगत अधिकार होना चाहिए। उसे स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह कमाए हुए धन का उपयोग इच्छा के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कर सके। संपत्ति के अधिकार के संबंध में आजकल दो मुख्य विचारधाराएं प्रचलित हैं जिनको क्रमशः उदारवादी और मार्क्सवादी विचारधारा कहते हैं।

संपत्ति के अधिकार को जिस रूप में हम पूंजीवादी देशों में देखते हैं, वह इतिहास का

क्रमिक परिणाम है। इतिहास के आरंभ में मनुष्य जब आदिम साम्यवाद के युग में था तो उसे व्यक्तिगत संपत्ति का ज्ञान नहीं था। कबीले अपनी संपत्ति के सामूहिक रूप से स्वामी होते थे। व्यक्तिगत संपत्ति का ज्ञान कृषियुग से आरंभ होता है। सर्वप्रथम व्यक्तिगत संपत्ति भूमि के विभाजन से शुरू होती है।

दासता के युग में दासों को भी भूमि, पशुधन और दूसरी उपभोग की वस्तुओं की तरह व्यक्तिगत संपत्ति माना जाता था। सामंतयुग में भी निजी संपत्ति का प्रधान स्वरूप भूमि का स्वामित्व ही था। सामंतों की शक्ति भूमि के स्वामित्व पर निर्भर थी। जिनके पास भूमि थी, जिनके पास ही संपत्ति, शक्ति और सत्ता थी। अतएव संपत्ति और सत्ता का प्रत्येक राजनीतिक समाज मे घनिष्ठ सबंध रहा है।

पूंजीवादी समाज मे संपत्ति का मुख्य आधार कल-कारखाने हैं और इसलिए संपत्ति का संकेंद्रण पूंजीपतिवर्ग मे रहता है। इसलिए पूंजीवादी समाज मे राजनीतिक सत्ता भी पूंजीपति वर्ग के हाथ में रहती है। पूंजीवादी समाज में भूमि को सामंतों से छीनकर किसानों में बांट दिया जाता है और इस प्रकार कृषि के क्षेत्र मे निम्न पूंजीपति वर्ग का निर्माण होता है। फ्रांस की क्रांति में ऐसा ही हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार के ऐतिहासिक रूपों में समयानुसार परिवर्तन होता रहा है।

वर्तमान युग में एक मनुष्य दूसरे व्यक्ति को दास बनाकर व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में उसका उपयोग नही कर सकता। सामंतो, जागीरदारो और जमीदारों की जागीरें और रियासतें भी उनसे छीन ली गई है। दास युग और सामंतयुग के व्यक्तिगत संपत्ति विषयक कानूनों को बदल दिया गया है। इसी प्रकार रूस, पूर्वी यूरोप और चीन की साम्यवादी क्रांतियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्तिगत संपत्ति के पूंजीवादी नियमों को भी सफलतापूर्वक बदला जा सकता है।

समाजवादी देशों में व्यक्तिगत संपत्ति केवल उपभोग की वस्तुओं में स्वीकार की जाती है। उत्पादन के साधन जैसे भूमि, खानें और कल-कारखाने जनता के सामूहिक अधिकार में सौंप दिए जाते हैं। साम्यवाद समाज की उस अंतिम परिस्थिति का नाम है, जब उपभोग की वस्तुओं का भी सामूहिक स्वामित्व हो जाएगा और उनका सामूहिक उपयोग किया जाएगा। साम्यवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार श्रम कराया जाएगा और उसकी वैयक्तिक और पारिवारिक आवश्यकता के अनुसार उपभोग की वस्तुएं दी जाएंगी। अभी तक किसी भी समाजवादी देश में संपत्ति की साम्यवादी धारणा को कार्यान्वित नहीं किया गया है।

संपत्ति के विषय में उदारवादी सिद्धांत : उदारवादी सिद्धात के अनुसार मनुष्य को निजी व्यवसाय द्वारा व्यक्तिगत संपत्ति को अर्जित और एकत्र करने का अधिकार होता है। बेंथम, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो और जान स्टुअर्ट मिल संपत्ति के विषय मे उदारवादी सिद्धांत को मानते हैं। उनके अनुसार न केवल उपभोग की वस्तुएं अपितु उत्पादन के साधन भी व्यक्तिगत संपत्ति समझे जाने चाहिए। व्यक्तियों को अपने धन और पूंजी का उपयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि राज्य किसी प्रकार की व्यक्तिगत

संपत्ति का राष्ट्रीयकरण करे तो उस संपत्ति के मालिकों को पूरा मुआवजा मिलना चाहिए।

इग्लैंड, पश्चिमी यूरोप, अमरीका तथा भारत में संपत्ति के उदारवादी सिद्धांत को माना जाना जाता है। इन देशो में भूमि, खानें, कल-कारखाने, बैंक, उत्पादन और विवरण के दूसरे साधन आम तौर से व्यक्तिगत अधिकार में रखे जाते है। अगर किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जाता है तो उससे प्रभावित व्यक्तियों को मुआवजा देना राज्य का कर्तव्य माना जाता है।

उदारवादी सिद्धात की आलोचना करते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि साधारणत: यह समझा जाता है कि इस सिद्धांत से नागरिकों के व्यक्तिगत संपत्ति संबंधी अधिकार की रक्षा होती है किंतु वास्तव में इसका परिणाम संपत्ति का थोड़े से लोगों में सकेंद्रण है, जिसकी वजह से अधिकतर नागरिकों के पास कोई निजी संपत्ति नही होती। जिन देशों मे उदारवादी सिद्धांत माना जाता है, वहाँ के बहुसंख्यक श्रमजीवी नागरिक भूमिहीन और संपत्तिहीन दिखाई पडते हैं। उदारवादी समाज में सपत्ति मुट्ठी भर पूंजीपतियो के हाथो में केंद्रित हो जाती है। अत: पूंजीवादी समाज में जहा व्यक्तिगत संपत्ति की दुहाई दी जाती है, बहुसख्यक मजदूरों को किसी प्रकार की व्यक्तिगत संपत्ति उपलब्ध नहीं होती। व्यक्तिगत संपत्ति के असीमित अधिकार का परिणाम यह होता है कि लोगो मे व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना अधिक दृढ़ हो जाती है और वे सामाजिक हित की बिलकुल परवाह नही करते।

संपत्ति के विषय में मार्क्सवादी सिद्धांत : मार्क्सवादी सिद्धांत को सोवियत रूस, पूर्वी-यूरोप और जनवादी चीन मे कार्यान्वित किया गया है। इन देशो में उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत अधिकार नही हो सकता। वे जनता की सामूहिक सपत्ति माने जाते हैं। केवल उपभोग की वस्तुओ मे व्यक्तिगत संपत्ति हो सकती है। समाजवादी क्राति के सफल होने पर भूमि, खानों, बैंको, कारखानों इत्यादि का बिना मुआवजा दिए राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। शोपण और वर्गसंघर्ष के दोषों को दूर करने का यही एक मात्र ढंग है। संपत्ति के अधिकार के परंपरागत रूप में यह आधारभूत और क्रातिकारी परिवर्तन है।

समाजवादी समाज में अधिकाश संपत्ति सामूहिक अधिकार में रहती है। इसलिए कुछ लोग आलोचना करते है कि नागरिकों के पास अपनी निजी संपत्ति नहीं रहती; इसलिए उनकी अवस्था प्राचीन काल के अधिकारहीन दासों के समान हो जाती है। परंतु यह विचार निताात भ्रातिमूलक है। समाजवादी समाज में नागरिकों के पास उपभोग की वस्तुओं में निजी संपत्ति हो सकती है और सामूहिक संपत्ति के प्रबंध, नियंत्रण और उत्पादन में नागरिक स्वयं भाग लेते हैं। अतएव वास्तव मे लोकतंत्र के सिद्धांतों को आर्थिक क्षेत्र मे समाजवाद ही कार्यान्वित करता है। प्रत्येक मनुष्य से उसकी क्षमता के अनुसार कार्य कराया जाता है और उसके कार्य की उपयोगिता के अनुसार ही उसे अपने श्रम का मूल्य दिया जाता है।

इसके विपरीत उदारवादी समाज मे नागरिक के श्रम का मूल्य मांग और पूर्ति के

नियम के अनुसार निर्धारित किया जाता है। मजदूर अपने श्रम को बाजार मे बेचता है और पूंजीपति बाजार भाव के अनुसार सस्ते से सस्ते दामों में खरीद सकता है। समाजवादी समाज में मजदूर के श्रम का मूल्य राज्य द्वारा न्यायोचित वेतननीति के अनुसार निर्धारित किया जाता है। वेतननीति के निर्धारण में मजदूरसघों की सलाह ली जाती है। साधारण से साधारण नागरिक अपने को राष्ट्रीय संपत्ति का साझीदार समझकर गौरव का अनुभव करता है।

समाजवाद का उद्देश्य केवल संपत्ति का न्यायपूर्ण वितरण करना ही नही है, अपितु उत्पादन पद्धति को अधिक उपयोगी बनाना भी है। पूजीवाद मे आर्थिक असंगतियों के कारण उत्पादन की उन्नति रुक जाती है। समाजवाद में राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओ के द्वारा उत्पादन मे असाधारण उन्नति करना संभव हो गया है। अतएव एक समय ऐसा भी आ सकता है जब समाज की आवश्यकताओं की तुलना में उत्पादन की मात्रा कही अधिक बढ़ जाए। उस समय समाज मे उपभोक्ता वस्तुओं को भी व्यक्तिगत अधिकार में रखने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

साम्यवादी समाज में किसी प्रकार की व्यक्तिगत संपत्ति रखना आवश्यक न रहेगा। प्रत्येक मनुष्य से उसकी योग्यता के अनुसार परिश्रम कराया जाएगा और विनिमय में उसे आवश्यकतानुसार उपभोक्ता वस्तुएं उपलब्ध हो सकेंगी। संपत्ति का साम्यवादी सिद्धात भविष्य के लिए एक आदर्श है। इसका व्यावहारिक रूप अभी किसी समाजवादी देश में भी देखने को नहीं मिलता। जनवादी चीन और सोवियत रूस में भी, जहा देश के शासन की बागडोर साम्यवादी दलो के हाथ में है, संपत्ति के साम्यवादी सिद्धांत को कार्यान्वित करने मे अभी काफी देर लगेगी। इन सभी देशों में इस समय संपत्ति के वितरण का आधार साम्यवाद न होकर समाजवाद ही है। वे संपत्ति के साम्यवादी वितरण को अपना लक्ष्य समझते हैं।

नागरिकों के कर्तव्य : नागरिक के अधिकारों के साथ ही उसके कर्तव्य भी जुड़े हुए है। ऊपर स्थान स्थान पर अधिकारों के साथ नागरिक के कर्तव्यों की भी चर्चा की गई है। ये कर्तव्य दो प्रकार के है: पहली श्रेणी मे नागरिकों के एक दूसरे के प्रति कर्तव्य आते है और दूसरी श्रेणी में उनके राज्य के प्रति कर्तव्य आते हैं और दूसरी श्रेणी मे उनके राज्य के प्रति कर्तव्य शामिल हैं। प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अन्य नागरिकों के अधिकारो का सम्मान करे। यदि हमे अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है तो हमारा कर्तव्य है कि हम अन्य व्यक्तियो के इन अधिकार के उपयोग में किसी प्रकार की बाधा न डालें। यही बात धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार के संबन्ध मे लागू होती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य में प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होता है कि वह धार्मिक सहनशीलता का परिचय दे।

यदि हमे व्यक्तिगत संपत्ति रखने का अधिकार है, तो हमारा यह कर्तव्य भी है कि हम उसका उपभोग समाजविरोधी उद्देश्यों के लिए न करें। यदि हमारा यह अधिकार है कि हमें अपने श्रम का उचित मूल्य मिले और हमारे श्रम का कोई शोषण न कर सके तो हमारा यह कर्तव्य भी है कि हम ऐसा कोई व्यवसाय न करें जिससे दूसरों का शोषण

होता है। हमें अधिकार समाज में रहकर ही प्राप्त होते हैं। अतएव समाज के प्रत्येक सदस्य की उन्नति में सक्रिय सहयोग देना हमारा कर्तव्य है। परिवार, गांव और नगर से लेकर राष्ट्र और संपूर्ण मानवता की उन्नति के लिए, जो कुछ हम कर सकें, हमें करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त राज्य के प्रति भी नागरिकों के कुछ आवश्यक कर्तव्य हैं। राज्य के प्रति निष्ठा रखना नागरिक का पहला कर्तव्य है। लोकतंत्रात्मक राज्य में इस कर्तव्य का नैतिक महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि वहां नागरिकों को राज्य की नीति के निर्धारण में और शासकों और विधायकों के निर्वाचन में भाग लेने का अवसर मिलता है। निरंकुश शासन में कोई भी नागरिक यह विचार कर सकता है कि राज्य उसकी आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता और इस कारण उसे राज्य के प्रति निष्ठा रखने के लिए नैतिक रूप से विवश नहीं किया जा सकता।

नागरिक का दूसरा कर्तव्य राज्य की आज्ञा का पालन करना है। राज्य के अंदर शांति और सुरक्षा तभी रह सकती है जब नागरिक स्वाभाविक रूप से राज्य के बनाए हुए कानूनों का पालन करना अपना कर्तव्य समझें। अरस्तू के अनुसार कानून वह स्वर्णतंतु है जो समाज को एक सूत्र में बांधकर रखता है। निरंकुश शासन में स्वेच्छाचारी शासक लोकहित की दृष्टि से कानून नहीं बनाते किंतु लोकतंत्र में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही संसद और विधानसभाओं में आकर कानून बनाते हैं। अतएव इन कानूनों का पालन, जिन्हें हमारे ही प्रतिनिधियों ने बनाया हो, नैतिक दृष्टि से अधिक आवश्यक है।

इन कर्तव्यों के अलावा नागरिकों का एक और कर्तव्य स्वदेश की रक्षा के लिए सेना में भरती होना है। भारत में अभी अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम नहीं है परंतु फिर भी हमारा यह नैतिक कर्तव्य है कि बाहरी आक्रमण की स्थिति में देश की रक्षा के लिए आवश्यक सैनिक और असैनिक कार्यों से मुंह न मोड़ें। कुछ देशों में युद्ध के सैद्धांतिक विरोधियों को सेना में भरती होने के कर्तव्य से मुक्त कर दिया जाता है। इंग्लैंड के महत्वपूर्ण दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल युद्ध के सैद्धांतिक विरोधी थे और इस विरोध के कारण उन्हें प्रथम विश्वयुद्ध के समय ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्तार कर लिया था। अगर नागरिक यह देखे कि युद्ध का उद्देश्य साम्राज्यविस्तार करना और आक्रमण द्वारा दूसरे राष्ट्रों की स्वतंत्रता छीनना है तो ऐसे युद्ध में भाग लेने से वह इनकार कर सकता है। अनेक अमरीकी नागरिकों ने वियतनाम युद्ध का सैद्धांतिक विरोध किया था।

शासन के संचालन के लिए राज ... की ... पड़ती है। राजस्व
इकट्ठा करने के लिए प्रत्येक नाग ... है। नागरिकों का
यह कर्तव्य है कि राज्य द्वारा लगाए ... और अनैतिक
आदि के रूप में अपने की कोशिश ...
चाहिए कि नागरिक उनका ...
भार हो। लोकतंत्र ...
कि इन करों का बोझ ...
पूंजीवादी देशों में ...

डाल दिया जाता है, जिससे पूंजीपतियों पर अपेक्षाकृत करों का भार कम हो जाता है। यह नीति ठीक नही है क्योंकि इससे जनता की आर्थिक कठिनाइया बढ जाती है। समाजवादी देशों मे करों का वितरण और राजस्व का व्यय अधिक न्यायसंगत ढग से होता है।

राज्य के विरोध का अधिकार : अब प्रश्न उठता है कि नागरिक को क्या प्रत्येक अवस्था मे राज्य के प्रति भक्ति रखना, उसकी आज्ञा का पालन करना और उसके द्वारा लगाए हुए करों को देना अनिवार्य है। यदि नही, तो किन परिस्थितियो मे उसे राज्य के विरोध का अधिकार है।

टी एच ग्रीन के अनुसार जब नागरिक यह अनुभव करे कि राज्य उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने में असमर्थ है जो नागरिक की नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक है तो नागरिक को राज्य के विरोध का अधिकार प्राप्त हो जाता है। परंतु राज्य के प्रति विद्रोह का झंडा उठाने से पहले उसे यह सोच लेना चाहिए कि विद्रोह के समर्थन में पर्याप्त जनमत है या नहीं और विद्रोह द्वारा राजनीतिक क्रांति की सफलता की संभावना है या नही। अगर विद्रोह के सफल होने की आशा न हो, यदि क्राति के समर्थन मे व्यापक जनमत का अभाव हो और विद्रोह से सिर्फ अराजकता फैलने की संभावना हो तो राज्य का विरोध करने का विचार स्थगित कर देना चाहिए।[8]

लास्की का विचार है कि राज्य केवल शक्ति के आधार पर नागरिको की भक्ति का अधिकारी नही माना जा सकता और न शक्ति के आधार पर नागरिकों से आज्ञा पालन कराना नैतिक दृष्टिकोण से उचित ठहराया जा सकता है। राज्य के प्रति निष्ठा और आज्ञापालन का एकमात्र आधार नागरिकों की अतरात्मा है। यदि किसी नागरिक की अंतरात्मा यह नहीं चाहती कि राज्य के प्रति भक्ति रखी जाए तो उसे इसके लिए कोई बाह्य शक्ति विवश नहीं कर सकती।

कार्ल मार्क्स के कथनानुसार राज्य का निर्माण एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण के लिए हुआ है। अतएव जिस वर्ग का शोषण किया जाता है, उसकी राज्य के प्रति निष्ठा न होना स्वाभाविक ही है। यूनानी नगरराज्य में दासो की यदि राज्य के प्रति निष्ठा न हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। इसी प्रकार 1789 ई० में फ्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग और किसानों ने राज्य के प्रति विद्रोह इसीलिए किया क्योंकि फ्रासीसी राज्य जमीदार वर्ग के प्रभाव मे था। 1917 ई० मे रूसी मजदूर वर्ग ने क्राति इसीलिए की क्योंकि रूसी राज्य पूजीपतिवर्ग के नियंत्रण में था।

अतः इतिहास सिद्ध करता है कि राज्य का विरोध करना कुछ परिस्थितियो में अनिवार्य हो जाता है। अपने देश का ही उदाहरण हमारे सामने है। विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा स्थापित राज्यव्यवस्था का विरोध करना प्रत्येक भारतीय का अधिकार ही नही कर्तव्य भी था। दक्षिण अफ्रीका में, जहा राज्य का उद्देश्य यूरोपीय नस्ल के लोगों के प्रभुत्व की रक्षा करना है, अफ्रीकी जनता को राज्य के खिलाफ विद्रोह करने का पूरा अधिकार है।

न्याय की संकल्पना का विकास : राज्य का प्रारंभिक रूप न्याय करने वाली संस्था है और

न्यायकार्य मे राजनीतिक सत्ता का पहला संकेत मिलता है। न्याय से हमारा अभिप्राय किसी समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का उस समाज के सदस्यों द्वारा पालन कराना है। न्यायाधीश का पहला कर्तव्य सामाजिक परंपराओं और प्रथाओं के अनुसार नागरिको के आपसी झगड़ो का हल करना था। जो परंपराएं बार बार न्यायाधीशों के निर्णय का आधार बन गई, उन्हें कानून का रूप प्राप्त हो गया। कानून का पालन न्याय की सकल्पना मे शामिल कर लिया गया।

प्रारंभ मे कानून और परंपराओ का स्रोत धर्म था। धर्म ही समाज के लिए नैतिक नियमो का निर्धारण करता था। इन्ही नैतिक नियमों के आधार पर कानूनों का निर्माण हुआ। नैतिक नियमो के पालन मे समाज जनमत के प्रभाव का उपयोग करता था किंतु जिन नैतिक नियमों को कानून का रूप दिया गया, उनका पालन राज्य बलप्रयोग द्वारा करा सकता था। कानून के उल्लंघन करनेवाले को राज्य दंड दे सकता था। इस प्रकार न्याय के दो रूप हो गए : नैतिक तथा वैधानिक।

प्लेटो की 'रिपब्लिक' में न्याय की नैतिक संकल्पना प्रस्तुत है। उनके विचार के अनुसार न्याय का उद्देश्य सामाजिक सहयोग और सामंजस्य हैं। प्लेटो के अनुसार मनुष्यों को तीन वर्गों मे बाटा जा सकता है : विवेकशील, साहसी और इद्रियसुखापेक्षी। अगर हम राज्य में न्याय की स्थापना करना चाहते है तो विवेकशील नागरिकों को शासन का कार्य, साहसी मनुष्यों को युद्ध का कार्य और इंद्रियसुखापेक्षी लोगो को उत्पादन और व्यापार का कार्य सौप देना चाहिए। स्त्रियां भी अपने गुणों के अनुसार शासक और योद्धा बन सकती हैं। आदर्शवादी लेखक किसी न किसी रूप में न्याय की इस नैतिक संकल्पना मे प्रभावित होते रहे है। समाज मे वर्गों के विभाजन के बाद शासक वर्ग सामाजिक विषमताओ को न्यायोचित मानता है और उनका नैतिक औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अंगरेज आदर्शवादी लेखक ब्रैडले का विचार है कि प्रत्येक नागरिक को समाज मे अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल अपने कर्तव्यों का निर्धारण कर उन्हें पूरा करने का प्रयास करना चाहिए।

इसके विपरीत राजनीति के यथार्थवादी विचारक न्याय को शक्तिशाली वर्ग का स्वार्थ मानते है। प्राचीन यूनान के सोफिस्ट विचारकों और उसके बाद मैक्यावेली और मार्क्स ने न्याय की परिभाषा इसी रूप मे की है। प्रत्येक समाज की परंपराएं, धार्मिक और नैतिक नियम और न्यायालयों द्वारा लागू किए जाने वाले कानून उस समाज के शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थों को प्रतिबिंबित करते है। अतएव किसी भी राज्य की न्यायप्रणाली शासक और शासित वर्गों के विवादो का निष्पक्षता से न्याय नहीं कर सकती। यूनान के न्यायालय दासो और स्वामियों के विवादों का निष्पक्ष न्याय नही कर सकते थे; सामंती कचहरियां किसानो को निष्पक्ष न्याय नही दे सकती थी; और पूंजीवादी लोकतंत्र मे मजदूर वर्ग को न्यायालयों से निष्पक्ष न्याय की आशा नहीं होती।

न्याय का वैधानिक और राजनीतिक रूप : अरस्तू ने सर्वप्रथम कानून के शासन को व्यक्तियो के शासन से श्रेष्ठतर बताया था। आधुनिक युग मे उदारवादियों ने उपर्युक्त

सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है। अधिकांश उदारवादी कानून के शासन को न्याय की संकल्पना का आधार मानते हैं। स्टैनले बेन और रिचार्ड पीटर्स ने न्याय की तीन विशेषताएं बताई हैं :

1. यह नियमों पर आधारित होता है।
2. व्यवहार में भेदभाव को नियमों द्वारा स्वीकृत गुण तथा परिस्थिति के अंतर के संदर्भ में ही उचित ठहराया जा सकता है।
3. व्यवहार में भेदभाव अनुपात के आधार पर होना चाहिए। भेदभाव के कारण सही होने पर भी उसकी मात्रा गलत हो सकती है।[8]

उपर्युक्त नियम सिर्फ न्याय की प्रक्रिया से संबंध रखते हैं, न कि उसके विषय से। अगर हमें न्यायोचित निर्णय करना है तो उपर्युक्त नियमों का पालन करते हुए निर्णय करना चाहिए। इस रूप में लोकन्याय की कुछ समस्याएं हैं। समाज में रहने का मतलब है कि हम कुछ ऐसे नियमों को मानें जिन्हें समाज ने बनाया है चाहे वे हमारी व्यक्तिगत इच्छा के प्रतिकूल ही क्यों न हों। जिन विवादों का हम स्वयं हल नहीं कर सकते, उनका हल नियमों के अनुसार न्यायाधीश करेंगे। हम इस बात का आश्वासन चाहते हैं कि प्रशासक और न्यायाधीश मनमानी नहीं करेंगे अपितु कानून के अनुसार अपने फैसले करेंगे। न्यायाधीशों पर सरकार की ओर से कोई अनुचित दबाव नहीं होगा।

न्याय जिन कानूनों पर आधारित हो, उनके बारे में नागरिकों को पहले से जानकारी होने की सुविधा होनी चाहिए। अगर कानून गुप्त या अस्पष्ट हैं तो न्यायाधीशों के निर्णयों के बारे में कोई पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकेगा। यह स्थिति नागरिकों में न्याय के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देगी। न्यायाधीश सरकारी अधिकारियों या शक्तिशाली आर्थिक वर्गों के प्रभाव में आकर अपने निर्णयों में रद्दोबदल और पक्षपात करने लगेंगे। इसलिए प्रामाणिक विधिसंहिता का होना निष्पक्ष न्याय के लिए आवश्यक है। विधायकों को चाहिए कि कानून न केवल स्पष्ट भाषा में लिखे जाएं, बल्कि उनके द्वारा वर्गों और व्यक्तियों के बीच में किसी प्रकार का अनुचित भेदभाव न किया जाए।

स्टैनले बेन तथा रिचार्ड पीटर्स के अनुसार कानून के नियमों और नीति के नियमों के अंतर को ध्यान में रखना आवश्यक है।[9] न्याय आजकल न केवल कानूनों पर आधारित है बल्कि उन कानूनों को कार्यान्वित करने के सिलसिले में बनाए हुए अन्य प्रशासनिक नियमों पर भी आधारित है। ये नियम प्रायः गुप्त, अस्पष्ट और लचीले होते हैं। प्रशासक स्थिति का लाभ उठाकर परिस्थितियों के अनुसार और व्यक्तिविशेष की जरूरत को देखते हुए शीघ्रतापूर्वक और सही न्याय कर सकता है परंतु यह उसकी व्यक्तिगत चतुरता पर निर्भर होगा। ऐसी ही परिस्थिति में कोई दूसरा अधिकारी गलतियां भी कर सकता है। इसलिए नागरिकों को इन प्रशासनिक निर्णयों के विरुद्ध न्यायालयों में अपील की सुविधा होनी चाहिए।

उदार लोकतंत्र में यह आवश्यक समझा जाता है कि न्याय की सुरक्षा के लिए कानूनों में परिवर्तन करने और नए कानून बनाने का उत्तरदायित्व जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को दिया जाए। इंग्लैंड में न्यायालयों का कार्य संसद द्वारा निर्मित

न्यायकार्य में राजनीतिक सत्ता का पहला संकेत मिलता है। न्याय से हमारा अभिप्राय किसी समाज द्वारा स्वीकृत नियमो का उस समाज के सदस्यों द्वारा पालन कराना है। न्यायाधीश का पहला कर्तव्य सामाजिक परंपराओं और प्रथाओं के अनुसार नागरिकों के आपसी झगड़ो का हल करना था। जो परंपराएं बार बार न्यायाधीशों के निर्णय का आधार बन गई, उन्हें कानून का रूप प्राप्त हो गया। कानून का पालन न्याय की संकल्पना मे शामिल कर लिया गया।

प्रारंभ मे कानून और परंपराओं का स्रोत धर्म था। धर्म ही समाज के लिए नैतिक नियमो का निर्धारण करता था। इन्ही नैतिक नियमों के आधार पर कानूनो का निर्माण हुआ। नैतिक नियमों के पालन मे समाज जनमत के प्रभाव का उपयोग करता था किंतु जिन नैतिक नियमों को कानून का रूप दिया गया, उनका पालन राज्य बलप्रयोग द्वारा करा सकता था। कानून के उल्लंघन करनेवाले को राज्य दंड दे सकता था। इस प्रकार न्याय के दो रूप हो गए: नैतिक तथा वैधानिक।

प्लेटो की 'रिपब्लिक' में न्याय की नैतिक संकल्पना प्रस्तुत है। उनके विचार के अनुसार न्याय का उद्देश्य सामाजिक सहयोग और सामंजस्य है। प्लेटो के अनुसार मनुष्यों को तीन वर्गों मे बाटा जा सकता है: विवेकशील, साहसी और इंद्रियसुखापेक्षी। अगर हम राज्य में न्याय की स्थापना करना चाहते है तो विवेकशील नागरिकों को शासन का कार्य, साहसी मनुष्यों को युद्ध का कार्य और इंद्रियसुखापेक्षी लोगों को उत्पादन और व्यापार का कार्य सौप देना चाहिए। स्त्रिया भी अपने गुणों के अनुसार शासक और योद्धा बन सकती हैं। आदर्शवादी लेखक किसी न किसी रूप मे न्याय की इस नैतिक संकल्पना से प्रभावित होते रहे हैं। समाज में वर्गों के विभाजन के बाद शासक वर्ग सामाजिक विषमताओं को न्यायोचित मानता है और उनका नैतिक औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अंगरेज आदर्शवादी लेखक ब्रैडले का विचार है कि प्रत्येक नागरिक को समाज मे अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल अपने कर्तव्यों का निर्धारण कर उन्हें पूरा करने का प्रयास करना चाहिए।

इसके विपरीत राजनीति के यथार्थवादी विचारक न्याय को शक्तिशाली वर्ग का स्वार्थ मानते है। प्राचीन यूनान के सोफिस्ट विचारको और उसके बाद मैक्यावेली और मार्क्स ने न्याय की परिभाषा इसी रूप मे की है। प्रत्येक समाज की परंपराएं, धार्मिक और नैतिक नियम और न्यायालयों द्वारा लागू किए जाने वाले कानून उस समाज के शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थों को प्रतिबिंबित करते है। अतएव किसी भी राज्य की न्यायप्रणाली शासक और शासित वर्गो के विवादों का निष्पक्षता से न्याय नही कर सकती। यूनान के न्यायालय दासो और स्वामियो के विवादों का निष्पक्ष न्याय नही कर सकते थे; सामंती कचहरियां किसानों को निष्पक्ष न्याय नही दे सकती थी; और पूजीवादी लोकतंत्र मे मजदूर वर्ग को न्यायालयों से निष्पक्ष न्याय की आशा नही होती।

न्याय का वैधानिक और राजनीतिक रूप: अरस्तू ने सर्वप्रथम कानून के शासन को व्यक्तियों के शासन से श्रेष्ठतर बताया था। आधुनिक युग मे उदारवादियों ने उपर्युक्त

सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है। अधिकाश उदारवादी कानून के शासन को न्याय की सकल्पना का आधार मानते हैं। स्टैनले बेन और रिचार्ड पीटर्स ने न्याय की तीन विशेषताएं बताई हैं :

1. यह नियमों पर आधारित होता है।
2. व्यवहार में भेदभाव को नियमों द्वारा स्वीकृत गुण तथा परिस्थिति के अंतर के संदर्भ में ही उचित ठहराया जा सकता है।
3. व्यवहार मे भेदभाव अनुपात के आधार पर होना चाहिए। भेदभाव के कारण सही होने पर भी उसकी मात्रा गलत हो सकती है।[8]

उपर्युक्त नियम सिर्फ न्याय की प्रक्रिया से संबंध रखते हैं, न कि उसके विषय से। अगर हमें न्यायोचित निर्णय करना है तो उपर्युक्त नियमों का पालन करते हुए निर्णय करना चाहिए। इस रूप में लोकन्याय की कुछ समस्याएं हैं। समाज में रहने का मतलब है कि हम कुछ ऐसे नियमो को मानें जिन्हें समाज ने बनाया है चाहे वे हमारी व्यक्तिगत इच्छा के प्रतिकूल ही क्यों न हों। जिन विवादो का हम स्वयं हल नहीं कर सकते, उनका हल नियमों के अनुसार न्यायाधीश करेंगे। हम इस बात का आश्वासन चाहते हैं कि प्रशासक और न्यायाधीश मनमानी नही करेंगे अपितु कानून के अनुसार अपने फैसले करेंगे। न्यायाधीशों पर सरकार की ओर से कोई अनुचित दबाव नहीं होगा।

न्याय जिन कानूनों पर आधारित हो, उनके बारे मे नागरिकों को पहले से जानकारी होने की सुविधा होनी चाहिए। अगर कानून गुप्त या अस्पष्ट है तो न्यायाधीशों के निर्णयों के बारे में कोई पूर्वानुमान नही लगाया जा सकेगा। यह स्थिति नागरिकों में न्याय के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देगी। न्यायाधीश सरकारी अधिकारियो या शक्तिशाली आर्थिक वर्गों के प्रभाव मे आकर अपने निर्णयों में रद्दोबदल और पक्षपात करने लगेंगे। इसलिए प्रामाणिक विधिसंहिता का होना निष्पक्ष न्याय के लिए आवश्यक है। विधायकों को चाहिए कि कानून न केवल स्पष्ट भाषा मे लिखे जाए, बल्कि उनके द्वारा वर्गों और व्यक्तियों के बीच मे किसी प्रकार का अनुचित भेदभाव न किया जाए।

स्टैनले बेन तथा रिचार्ड पीटर्स के अनुसार कानून के नियमो और नीति के नियमों के अंतर को ध्यान मे रखना आवश्यक है।[9] न्याय आजकल न केवल कानूनो पर आधारित है बल्कि उन कानूनो को कार्यान्वित करने के सिलसिले मे बनाए हुए अन्य प्रशासनिक नियमों पर भी आधारित है। ये नियम प्रायः गुप्त, अस्पष्ट और लचीले होते हैं। प्रशासक स्थिति का लाभ उठाकर परिस्थितियों के अनुसार और व्यक्तिविशेष की जरूरत को देखते हुए शीघ्रतापूर्वक और सही न्याय कर सकता है परंतु यह उसकी व्यक्तिगत चतुरता पर निर्भर होगा। ऐसी ही परिस्थिति मे कोई दूसरा अधिकारी गलतिया भी कर सकता है। इसलिए नागरिकों को इन प्रशासनिक निर्णयों के विरुद्ध न्यायालयों मे अपील की सुविधा होनी चाहिए।

उदार लोकतंत्र में यह आवश्यक समझा जाता है कि न्याय की सुरक्षा के लिए कानूनों में परिवर्तन करने और नए कानून बनाने का उत्तरदायित्व जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को दिया जाए। इंग्लैंड में न्यायालयों का कार्य ससद द्वारा निर्मित

कानूनों के अनुसार न्याय करना है। अमरीका में न्यायालय संविधान की सर्वोच्चता के आधार पर कांग्रेस द्वारा कानूनों को असंवैधानिक घोषित कर सकते हैं। इस प्रकार वहां न्यायाधीशों की जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की तुलना में अधिक सम्मानित स्थिति है। उदार लोकतंत्र में न्याय के औपचारिक रूप पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है। अगर कानून जनता के प्रतिनिधियों की स्वीकृति से बना है या संविधान के अनुकूल है या न्यायिक परपराओं का किसी प्रकार उल्लंघन नहीं करता तो वह कानून सर्वथा न्यायोचित है। न्याय के लिए उचित विधि प्रक्रिया कानून के उद्देश्यों या लक्ष्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। उदार लोकतंत्र का न्याय यथास्थितिवादी न्याय है जो समाज में मूलभूत आर्थिक परिवर्तन लाने के प्रयास को अन्यायपूर्ण मानता है। संक्षेप में वह पूंजीवादी व्यवस्था के औचित्य पर आधारित न्याय है।

सामाजिक और आर्थिक न्याय : न्याय के सामाजिक और आर्थिक आधारों की चर्चा हाबहाउस, बार्कर, मैकीवर और लास्की जैसे सुधारवादी लेखक और कार्ल मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन जैसे क्रांतिकारी विचारक समान रूप से करते हैं। सुधारवादी लेखक चाहते हैं कि समाज में पद और धन के आधार पर जो असमानताएं हैं। उन्हें कम करने के लिए नए कानून बनाए जाने चाहिए। परंतु ये लेखक पूंजीवादी लोकतंत्र के ढांचे में या उदारवादी न्यायप्रक्रिया में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं चाहते। लास्की भी कानून के शासन की उदारवादी प्रक्रिया के समर्थक हैं।

इसके विपरीत मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का विचार है कि वास्तविक सामाजिक न्याय के लक्ष्य की प्रगति के लिए उत्पादन के साधनों में निजी संपत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करना पड़ेगा। स्टैनले बेन और रिचार्ड पीटर्स ने धन के न्यायोचित वितरण के तीन आधारों की चर्चा की है : कार्य की उपयोगिता, नागरिक की आवश्यकता और संपत्ति का स्वामित्व।[10] मार्क्स के अनुसार इनमें तीसरा आधार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

पूंजीवादी समाज में संपत्ति का स्वामित्व या उसका अभाव नागरिक की आर्थिक स्थिति का असली निर्धारक है। वहां पूंजी मनुष्यों का नियंत्रण करती है, मनुष्य पूंजी का नियंत्रण नहीं करते। इसके विपरीत समाजवादी समाज में कार्य की उपयोगिता के आधार पर नागरिकों के वेतनों को निर्धारित किया जाता है। साम्यवादी समाज में उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण नागरिकों की आवश्यकता के अनुसार किया जाएगा।

आजकल पूंजीवादी देशों में सामाजिक न्याय के लक्ष्य को आंशिक रूप से कार्यान्वित करने के लिए लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की गई है। पूंजीवादी व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन किए बिना ही राज्य समाज के दुर्बल वर्गों की शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक उन्नति इत्यादि का ध्यान रखता है। बेकार, वृद्ध तथा बीमार नागरिकों को राज्य आर्थिक सहायता देता है। इसके लिए धनी वर्गों पर नए कर लगाए जाते हैं।

समाजवादी देशों में सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पूंजी द्वारा श्रमिकों के शोषण का कानून बनाकर अंत कर दिया जाता है। वेतनों के संबंध में न्यायोचित नीति निर्धारित की जाती है। निजी संपत्ति के अंत से आर्थिक विषमताओं

की समाप्ति हो जाती है। समाजवादी समाज में भी एक वैज्ञानिक का वेतन एक कुशल श्रमिक की तुलना में अधिक होता है और एक कुशल श्रमिक साधारण मजदूर से ज्यादा कमाता है किंतु इन भेदों का आधार उनकी कार्यकुशलता और उनके श्रम की उपयोगिता का अंतर है। वहा कोई व्यक्ति सिर्फ पूजी के माध्यम से अन्य व्यक्तियों के श्रम के शोषण के जरिए मुनाफा कमाकर करोड़पति नहीं बन सकता। मार्क्सवादियों के अनुसार सामाजिक न्याय का मुख्य आधार एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के आर्थिक शोषण का अंत करना है।

संदर्भ

1. स्टेनले बेन तथा रिचार्ड पीटर्स : 'प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल थाट', पृ० 109-13.
2 वही, पृ० 103-8.
3 ज्यार्ज सैबाइन : 'ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियरी', पृ० 673-80.
4. वही, पृ० 657-61.
5. वही, पृ० 692.
6. वही, पृ० 675.
7. वही, पृ० 54-56.
8. स्टेनले बेन तथा रिचार्ड पीटर्स : 'प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल थाट', पृ० 148.
9 वही, पृ० 150
10. वही, पृ० 157.

5

राज्य की परिभाषा, तत्व और विकास

राज्य की परिभाषा

मैकीवर का कथन है कि यह बड़ी अजीब सी बात है कि राज्य जैसी महत्वपूर्ण और देखने में सरल सी वस्तु के बारे में भिन्न भिन्न और परस्परविरोधी परिभाषाएं दी गई हैं। कुछ लेखक राज्य को मूल रूप से वर्गव्यवस्था मानते हैं। ओपिनहाइमर इसे ऐसा संगठन बताते है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्गों को अपने दबाव में रखता है। यही सुप्रसिद्ध परिभाषा कार्ल मार्क्स ने पेश की थी किंतु इसे कुछ ऐसे विचारक भी स्वीकार करते हैं जो स्वयं मार्क्सवादी नहीं हैं। उदारवादी लेखक प्रायः राज्य को ऐसा संगठन मानते है जो पूरी तौर से वर्गों से अलग है और पूरे जनसमुदाय के हित में संलग्न है।

इसी प्रकार कुछ लेखक राज्य को शक्तिव्यवस्था मानते हैं जिसमें शक्तिशाली गुट दुर्बल जनसमूह पर शासन करते है। इसके विपरीत अन्य लेखक राज्य को जनकल्याणव्यवस्था मानते हैं जिसमे सरकार लोकहित की भावना से जनता की समस्याओं का हल करती है और नागरिकों की जरूरतों को पूरा करती है। शक्तिव्यवस्था सिद्धांत के समर्थक मैकियावेली से प्रेरणा लेते है। जनकल्याणव्यवस्था के हिमायती ग्रोश्यस और अल्थूसियस का हवाला देते है।[1]

कुछ विचारक राज्य को एक वैधानिक ढाचा मानते हैं और आस्टिन की वैचारिक परंपरा के अनुसार शासकों और शासितों के कानूनी संबंध पर जोर देते हैं जिसके अनुसार नागरिकों के लिए सरकार द्वारा जारी किए हुए आदेशों का पालन करना उनका कानूनी कर्तव्य है। वीनोग्रैडोफ के अनुसार राज्य वैधानिक नियमों के अनुसार कार्य करनेवाला संगठित जनसमुदाय है। कुछ लोग राज्य का संबंध राष्ट्र के साथ स्थापित करना चाहते हैं, तो कुछ राष्ट्रीयता की धारणा को राज्य के लिए आकस्मिक और अनावश्यक समझते हैं। कुछ विचारकों का मत है कि राष्ट्रीयता राज्य के स्वरूप और कार्यक्षेत्र में भ्रांति उत्पन्न कर देती है।

राज्य के विषय में कुछ लोगों का खयाल है कि इसका महत्व एक बीमा कंपनी से अधिक नहीं है, तो कुछ लोग इसे हमारे संपूर्ण जीवन का आधार मानते हैं। उन्नीसवीं

सदी के व्यक्तिवादी राज्य का परिचय एक आवश्यक बुराई के रूप मे देते थे और अराजकतावादियों का सुझाव था कि इस 'आवश्यक बुराई' का अंत कर देना चाहिए। हीगल के अनुसार राज्य 'आत्मा के द्वारा अपने लिए बनाया हुआ संसार' है, जिसकी नागरिकों को पूजा करनी चाहिए। बहुलवादी राज्य को एक समुदाय मात्र मानते हैं जिसकी स्थिति समाज के दूसरे समुदायो के बराबर है, उनसे ऊपर नही। इसके विपरीत दूसरे लेखक राज्य और समाज को एक मानकर दोनो में कोई भेद नही करते।[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अंतर्विरोधों का मुख्य कारण यह है कि कुछ लोग राज्य की परिभाषा करते समय तथ्यो को भूल कर आदर्शों के संदर्भ मे उसकी विवेचना करते हैं। मैकीवर के अनुसार कुछ परिभाषाएं विशेष राज्यों के विशेष गुणों के आधार पर पेश की जाती हैं। इसलिए वे सामान्य राज्य के स्वरूप की व्याख्या के लिए उपयुक्त नही है। किसी खास राज्य के चरित्र की विवेचना करना सामान्य राज्य की परिभाषा करने की तुलना मे आसान है। न तो हीगल की तरह हमें राज्य की पूजा करने की और न स्पेंसर की तरह उसकी तुच्छता साबित करने की जरूरत है। इतिहास मे राज्यों के विकास को देखते हुए जो विशेषताएं सामान्य रूप से इन राज्यों में दिखाई पड़ती है, उनके वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा हम राज्य की सही और व्यावहारिक परिभाषा कर सकते हैं।

राज्य की वैधानिक दृष्टि से परिभाषा करते हुए अर्नेस्ट बार्कर का विचार है: 'राज्य एक खास तरह का विशेष समुदाय है जिसका अस्तित्व कानूनी व्यवस्था की योजना को अनिवार्य रूप से कार्यान्वित करने के लिए है और यही उसका मुख्य उद्देश्य है।'[3] गार्नर के अनुसार राज्य एक ऐसा जनसमुदाय है जो किसी निश्चित भूभाग मे निवास करता हो, जो स्वतंत्र या लगभग स्वतंत्र हो, जिसके अंतर्गत एक सुसंठित शासन-व्यवस्था हो और जो किसी संप्रभु की आज्ञा के अनुसार कार्य करता हो। फिलिमोर ने इसी परिभाषा में एक बात और जोड़कर बताया है कि इस जनसमुदाय को अन्य ऐसे ही राजनीतिक जनसमुदायो से राज्य के रूप मे मान्यता भी प्राप्त हो।

मैकीवर राज्य की परिभाषा इस प्रकार करते हैं: 'राज्य एक ऐसा समुदाय है जो किसी निर्धारित भूभाग में बसे जनसमुदाय के अंतर्गत बलप्रयोग से सुसज्जित सरकार के जरिए कानूनों को लागू करके सामाजिक व्यवस्था की सभी बाह्य परिस्थितियों की स्थापना करता है।'[4] लास्की के अनुसार: 'राज्य एक प्रादेशिक जनसमुदाय है जो शासक और शासितों में बंटा हुआ है और अपने निर्धारित प्रदेश में सभी अन्य समुदायों से ऊपर है।'[5] हर्मन फाइनर का कथन है: 'राज्य का मूल तत्व बलप्रयोग की शक्ति पर एकाधिकार है जिसे एकमात्र उचित एकाधिकार के रूप में घोषित और लागू किया जाता है; जिसका अस्तित्व ही धमकियों से भरा हुआ है; समाज के मूल्यों को खतरा पैदा होने पर जो शक्ति के नग्न रूप का सक्रिय उपयोग करता है और समाज के सदस्यों को एक दूसरे के विरुद्ध बलप्रयोग करने से रोकता है।'[6]

इन परिभाषाओं पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:

1. कुछ विचारकों की दृष्टि मे राज्य एक जनसमुदाय है और वह संपूर्ण समाज के बराबर है। गार्नर, फिलिमोर इत्यादि उसे जनसमुदाय मानते हैं। अन्य लेखकों की दृष्टि

में वह समाज के अन्य समुदायों में से एक समुदाय है। बार्कर और मैकीवर राज्य को केवल एक समुदाय मानते हैं। लास्की प्रारंभ मे उसे समुदाय मानते थे, बाद में उसे जन-समुदाय मानने लगे।

2. प्रत्येक लेखक राज्य के क्षेत्रीय आधार को स्वीकार करता है चाहे वह इसका अपनी परिभाषा मे स्पष्ट रूप से उल्लेख करे या न करे। राज्य एक ऐसा समुदाय अथवा जनसमुदाय है जो निर्धारित भौगोलिक प्रदेश में निवास करता है।

3. राज्य की परिभाषा मे कानूनी व्यवस्था, राजनीतिक संगठन या शासन को भी अनिवार्य रूप से शामिल किया जाता है। अव्यवस्थित, असंगठित या शासनविहीन जन-समूह राज्य नही कहला सकते।

4. राज्य की शक्ति निर्धारित समाज में सर्वोच्च मानी जाती है। गार्नर, फिलिमोर इत्यादि राज्य की कानूनी संप्रभुता पर जोर देते हैं। मैकीवर और हर्मन फाइनर राज्य की बलप्रयोग संबधी शक्ति की ओर हमारा विशेष ध्यान दिलाते हैं। मैकीवर और लास्की अपने चिंतन के प्रारंभिक चरण मे राज्य की संप्रभुता को अस्वीकार करते थे। संप्रभुता या बलप्रयोग का एकाधिकार राज्य की विशेषता है।

5. फिलिमोर के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय मान्यता भी राज्य की परिभाषा का अनिवार्य अंग है। उदाहरणार्थ जनवादी चीन 1949 में एक राज्य के रूप में स्थापित हो गया किंतु वह वास्तव मे राज्य तब बना जब विश्व के अधिकाश राज्यों ने उसे कूटनीतिक मान्यता प्रदान कर दी।

6. ओपिनहाइमर तथा कार्ल मार्क्स के अनुसार राज्य एक ऐसा समाज है जो वर्गों मे बटा हुआ है। वर्गविभाजन और वर्गसंघर्षों के अभाव में राज्य की संकल्पना नहीं हो सकती। कबीलाई समाज मे वर्गविभाजन और वर्गसंघर्ष नही था। इसीलिए उस समय राज्य का भी अस्तित्व नही था।

राज्य के तत्व

विभिन्न परिभाषाओं का सर्वेक्षण करने पर हम देखते हैं कि राज्य एक ऐसा जनसमुदाय है जो किसी निर्धारित भूभाग मे निवास करता है, जो आतरिक और बाह्य क्षेत्रों मे पूर्ण स्वतंत्र है, जिसमें एक सुसंगठित सरकार जनता के सामूहिक हितो की देखभाल करती है और जरूरत पडने पर बलप्रयोग द्वारा शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थो की रक्षा करती है। अतः राज्य के ये पाच तत्व माने जा सकते हैं : (1) जनसमुदाय, (2) क्षेत्रीयता, (3) शासनप्रबंध, (4) संप्रभुता तथा (5) वर्गव्यवस्था।

जन समुदाय : जब तक मनुष्य एक साथ मिलकर नही रहते, वे जनसमुदाय का निर्माण नही कर सकते। समान हितों के आधार पर ही जन समुदाय का निर्माण होता है। मनुष्य के प्रारभिक जनसमुदाय रक्तसंबंध पर आधारित थे। परिवार या कबीले इनके उदाहरण हैं। राज्य इनसे भी बडा जनसमुदाय है। यह अनेक परिवारो और कबीलों के मेल से बना। अरस्तू राज्य को परिवारों का संघ कहते थे। प्रारंभ में एक नगर और थोड़े से गावों को मिलाकर राज्य बना। प्लेटो और अरस्तू की धारणा थी कि प्राचीन यूनान के

नगरराज्य की जनसंख्या किसी भी आदर्श राज्य के लिए पर्याप्त है। आधुनिक युग में रूसो भी राज्य की जनसंख्या को सीमित रखना चाहते थे।

उसके बाद साम्राज्यों और राजवंशीय राज्यों का युग आया। राज्य की जनसंख्या विजेताओं की सैनिक शक्ति द्वारा निर्धारित होनी लगी। मध्ययुग मे राज्य सामंतों की जागीर बन गए और राज्य की जनसंख्या सामंतो के उत्थान और पतन के साथ घटने-बढने लगी। आधुनिक युग राष्ट्रीय राज्यो के विकास का युग है। इसलिए राज्य की जनसंख्या का निर्णय अब राष्ट्रीय भावना के आधार पर होता है। इसी कारण आज चीन और भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले राज्य भी है और नेपाल और सिंगापुर जैसे कम जनसंख्या के राज्य भी। किसी राज्य की जनसख्या उस राज्य के जनसमुदाय की राष्ट्रीय भावना पर निर्भर है। पहले पाकिस्तानी जनसमुदाय मे पूर्वी बंगाल के निवासी शामिल थे किंतु जब उनमे स्वतत्र राष्ट्रीय भावना विकसित हुई तो बंगलादेश एक अलग राज्य बन गया। विभिन्न यूरोपीय राज्यो के निवासी सयुक्त राज्य अमरीका पहुंचकर एक राष्ट्रीय जनसमुदाय के अंग बन गए और जनसख्या की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका विश्व का चौथा देश बन गया। राष्ट्रीय भेदों के कारण ब्रिटिश साम्राज्य बिखर गया और ब्रिटेन आज एक छोटी जनसंख्या वाला राज्य है। इसके विपरीत रूसी साम्राज्य की विभिन्न जातिया आज सोवियत बहुराष्ट्रीय राज्य के अभिन्न अंग के रूप मे रहती हैं।

क्षेत्रीयता : राज्य का दूसरा तत्व क्षेत्रीयता है। मनुष्य के प्रारंभिक संगठन आनुवंशिक थे। जब तक आनुवंशिक संगठनो की प्रधानता रही, मनुष्य कबीलाई समाज को खत्म कर राज्य की स्थापना नही कर सका। जब मनुष्यों ने कृषि करना सीखा तो उन्हे गाव बनाकर रहना पड़ा। अगर विभिन्न कबीलो के लोग एक ही गाव मे रहकर खेती करने लगे तो उनके संगठन का आनुवंशिक आधार कमजोर पड़ने लगा और क्षेत्रीय एकता की भावना विकसित होने लगी। शिल्पकला और व्यापार की उन्नति के साथ साथ नगरों की स्थापना हुई और क्षेत्रीय समाज और अधिक सुदृढ होने लगा।

राजवंशीय राज्यों और साम्राज्यों के द्वारा विशाल भूभाग एक ही राज्य की अधीनता मे आ गए। मध्यकाल मे युद्ध द्वारा सामंतीराज्य अपने क्षेत्र को घटाते-बढाते रहे। आधुनिक युग मे पहले यूरोप में राज्य का क्षेत्र राष्ट्रीयता के आधार पर निर्धारित होने लगा। यूरोप के राष्ट्रीय राज्यों ने एशिया, अफ्रीका और अमरीका में जाकर अपने साम्राज्य स्थापित किए। ब्रिटिश साम्राज्य क्षेत्रफल को देखते हुए आधुनिक युग का सबसे विशाल राज्य था। औपनिवेशिक देशो ने भी साम्राज्यवादविरोधी आदोलन के द्वारा अंत में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की। क्षेत्रफल की दृष्टि से आज सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, जनवादी चीन, कनाडा, आस्ट्रेलिया और ब्राजील विशाल राज्य है। छोटे राज्यो में भूटान, मारीशस, सिंगापुर आदि अनेक राज्यों के उदाहरण दिए जा सकते हैं। आज राज्य का क्षेत्र विशेष रूप से राष्ट्रीय भावना के आधार पर ही निर्धारित होता है।

शासनप्रबंध : राज्य का तीसरा तत्व सरकार या शासनप्रबंध है। प्रारंभ मे राजनीतिक संगठन का रूप सरल था। इसलिए सरकार का ढांचा भी सादा था। जनसमुदाय की

बाहरी आक्रमण से रक्षा और आंतरिक शांति और व्यवस्था रखना ही उसके मुख्य कार्य थे। कबीलाई समाज मे सभी सदस्य सामूहिक रूप से इन कार्यों को करते थे। राज्य की स्थापना के बाद पुरोहितों और योद्धाओं के वर्ग से शासकों को चुना जाने लगा। कबीलाई परंपराओं को बदलकर कानून का रूप दिया गया। कानून की रक्षा के लिए अधिकारियों और न्यायाधीशों की नियुक्ति हुई।

मध्ययुग मे युद्ध करनेवाले सामंत ही शासक, न्यायाधीश और कर वसूल करने वाले अधिकारी थे। शासन का प्रबंध स्वाभाविक रूप से कुलीन जमींदार वर्ग ने अपने हाथ में ले लिया। वर्तमान युग में शासनप्रबंध नौकरशाही करती है। संसद और विधानसभाएं कानून बनाती हैं, चुने हुए राजनीतिक नेता सरकार की नीतियों का निर्धारण करते हैं; और न्यायालय विवादों का हल करते है और कानून की रक्षा करते हैं। इस प्रकार आज सरकार का रूप अत्यधिक जटिल हो गया है। सरकार की जटिलता की वजह से राज्य का रूप भी पहले से अधिक जटिल हो गया है।

शासन के क्षेत्र का विस्तार एक जैसा नही है। पूंजीवादी देशों में सरकार अर्थ-व्यवस्था मे साधारणतया हस्तक्षेप नही करती किंतु समाजवादी देशों मे सरकार अर्थव्यवस्था का संचालन करती है। सरकार वह माध्यम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा को कार्यान्वित करता है। अत: सरकार के बिना राज्य की संकल्पना अधूरी और अमूर्त रहती है। राज्य की शक्ति का प्रयोग व्यवहार मे सरकार ही करती है।

संप्रभुता : राज्य का चौथा तत्व संप्रभुता है। राजनीतिविज्ञान में इसे तीन रूपो मे प्रस्तुत किया गया है : वैधानिक, नैतिक और समाजशास्त्रीय। बोदां, हाब्स और आस्टिन ने इसके वैधानिक रूप पर प्रकाश डाला है। इनके कथनानुसार प्रत्येक राज्य मे किसी व्यक्ति या संस्था के पास राज्य की सर्वोच्च वैधानिक शक्ति होती है जिसके आदेश ही कानून हैं और जिनका पालन करना नागरिकों के लिए अनिवार्य है। हीगल और बोसाके राज्य की वैधानिक सर्वोच्चता के साथ साथ उसकी नैतिक सर्वोपरिता पर भी जोर देते हैं। इसके विपरीत मैक्स वेबर, मास्का तथा मैकीवर राज्य की संप्रभुता के नैतिक या वैधानिक रूप की चर्चा करना अनावश्यक मानते हैं और एक समुदाय के रूप में उसकी बलप्रयोग संबंधी शक्ति के समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर जोर देते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि आज राज्य ही एकमात्र ऐसा जनसमुदाय है जिसे वैधानिक रूप से आतरिक तथा बाह्य मामलो में पूर्ण स्वतंत्र माना जाता है। यह दरजा किसी अन्य समुदाय या जनसमुदाय को प्राप्त नहीं है। अगर कोई देश किसी साम्राज्य का उपनिवेश है तो वह जब तक स्वाधीनता प्राप्त न कर ले, राज्य नही कहलाएगा। इसी प्रकार कुछ संघात्मक राज्यों मे प्रांतों को राज्य के नाम से पुकारा जाता है, परंतु वास्तव में संप्रभुता के अभाव मे इन्हें राज्य कहना बिलकुल गलत है।

संप्रभुता का व्यावहारिक रूप बलप्रयोग करने की शक्ति है क्योंकि राज्य की वैधानिक व्यवस्था का मूलभूत आधार शक्तिव्यवस्था है। मैक्स वेबर और मैकीवर संप्रभुता को इसी व्यावहारिक रूप मे देखते हैं। चूंकि राज्य प्रत्येक स्थिति में बलप्रयोग करने की स्थिति में नहीं होता या बलप्रयोग द्वारा अन्य समुदायों से आज्ञापालन कराने में सफल नही होता,

इसीलिए मैकीवर और लास्की संप्रभुता के सिद्धांत की आलोचना करते हैं। ये बहुलवादी लेखक भी राज्य की समन्वयकारी शक्ति को स्वीकार करके संप्रभुता के सिद्धांत को अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता दे देते है।

वर्गव्यवस्था : राज्य का पांचवां तत्व वर्गव्यवस्था है। एंगेल्स, मार्क्स और लेनिन के अतिरिक्त मैडीसन और ओपेनहाइमर जैसे बुर्जुआ विचारक भी वर्गव्यवस्था को राज्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं। चार्ल्स फूरियर, सेंट सिमोन, राबर्ट ओवन, बाकुनिन, सोरेल, लास्की और जी डी एच कोल भी वर्गविभाजन और वर्गसंघर्ष को प्रत्येक राज्य का अनिवार्य लक्षण समझते हैं।

वास्तव में राज्य की शुरुआत ही समाज में बढ़ते हुए वर्गसंघर्षों को नियंत्रित करने के लिए हुई। आदिम साम्यवादी युग के कबीलाई समाज में न वर्ग थे और न लोगों के पास निजी संपत्ति होती थी। इसलिए उस समय राज्य का भी अस्तित्व नहीं था। कृषि, शिल्पकला और व्यापार के विकास के साथ साथ निजी सपत्ति, व्यक्तिगत स्वार्थ, दासता और वर्गविभाजन की स्थापना हुई और उसी के साथ साथ शक्तिशाली वर्ग ने अपनी संपत्ति और विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए राज्य का निर्माण किया।

सामंतवादी राज्य जमीदारों और किसानों के वर्गविभाजन पर आधारित था। पूंजीवादी लोकतंत्रीय राज्य आज पूजीपतियों और मजदूरों के श्रेणीसंघर्ष पर टिका हुआ है। समाजवादी राज्य सर्वहारा वर्ग की पुराने शोषक वर्गों पर तानाशाही है। एंगेल्स और मार्क्स के अनुसार जब समाजवादी अर्थव्यवस्था के पूर्ण विकास के बाद वर्गव्यवस्था पर आधारित शोषण का अंत हो जाएगा, तो राज्य का भी लोप हो जाएगा। लेनिन के अनुसार राज्य का लोप तभी हो सकता है जब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पूजीवादी वर्गव्यवस्था का अंत हो जाएगा। ग्रामशी के अनुसार शासक वर्ग की शक्ति न केवल अर्थव्यवस्था और राजनीतिक ढाचे के नियंत्रण पर आधारित है, वह विभिन्न क्षेत्रों में विचारधारा संबंधी सुदृढ नेतृत्व (हीगेमनि) पर भी अत्यधिक निर्भर है। इसलिए वर्गव्यवस्था राज्य का अविभाज्य अंग बन गई है।

राज्य और समाज

मैकीवर का कथन है कि राज्य और समाज को एक समझना बहुत बडी भ्रांति है जिसकी वजह से न तो राज्य के सही रूप को समझा जा सकता है और न समाज को। यदि हम तथ्यों पर ध्यान दें तो हम परिवार, चर्च या क्लब जैसी सामाजिक संस्थाएं देखेंगे जिनकी स्थापना मे राज्य ने कोई प्रेरणा नहीं दी। हम परंपरा या प्रतियोगिता के रूप में ऐसी सामाजिक शक्तियां देखेंगे जिनका नियंत्रण तो राज्य कर सकता है लेकिन निर्माण नहीं कर सकता। इसी प्रकार हमें समाज में मित्रता या ईर्ष्या जैसी प्रवृत्तिया भी दिखाई देंगी जो इतनी अधिक सूक्ष्म और व्यक्तिगत हैं कि राज्य का भारी यंत्र वहा तक पहुंच नही सकता।

राज्य का अस्तित्व समाज के अंदर है किंतु इसे समाज का आकार भी नही माना जा सकता। हम इसको सिर्फ इसके कार्यों से पहचानते हैं। इसकी उपलब्धि व्यवस्था

नियंत्रण की प्रणाली की स्थापना है। अपने नियंत्रण के द्वारा यह सामाजिक जीवन को समर्थन देता है या उसका शोषण करता है, उस पर बंधन लगाता है या उसे स्वाधीन करता है, उसे विकसित करता है या नष्ट करता है—वह कुछ भी क्यों न करे लेकिन यह केवल उपकरण है, जीवन नहीं है।[7]

प्रारंभ में शिकारियों और पशुपालकों के सरल समाज थे और अभी हाल तक ऐस्किमो और दूसरे कबीलाई समाज कायम थे जिनका जीवन राजनीतिक संगठन के न होने पर भी उल्लासपूर्ण था और आज के जटिल राजनीतिक संगठन के बावजूद, मैकीवर के शब्दों में, लोग अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण अंगों को सीजर अर्थात राज्य के नियंत्रण और हस्तक्षेप से मुक्त रखने के इच्छुक है और इसके लिए संघर्ष करने को तैयार है।

अर्नेस्ट बार्कर का विचार है कि राज्य और समाज दोनों का एक ही नैतिक उद्देश्य है। इसलिए कई क्षेत्रो मे दोनों समानांतर रूप से कार्य करते है। समाज का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग और सद्भावना है और उसकी कार्यशैली मे लचीलापन है। राज्य एक यंत्र की तरह कार्य करता है और उसकी कार्यशैली बलप्रयोग पर आधारित है। कार्यों की दृष्टि से राज्य का उद्देश्य न्याय और व्यवस्था के लिए स्थाई प्रबंध करना है किंतु समाज के विविध कार्य हो सकते है . बौद्धिक, धार्मिक, आर्थिक, कलात्मक और मनोरंजनात्मक। राज्य और समाज के अंतर के विषय मे निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए :

1. सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था से अधिक व्यापक है। टैल्काट पार्सन्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के चार अंग हैं : आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और व्यक्तित्व संबंधी। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का अंग है। राजनीतिक व्यवस्था और अन्य व्यवस्थाओं के संपर्क से सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न होती है।

2. विकास की दृष्टि से पहले समाज बना और उसके बाद राज्य की उत्पत्ति हुई। इसलिए राज्य मानवजीवन के विकास की एक अवस्था है। संभव है कि भविष्य में फिर राज्य की आवश्यकता न रहे किंतु समाज के बिना मानवजीवन की कल्पना नहीं की जा सकती।

3. समाज सामाजिक संबंधों का नाम है। ये संबंध आर्थिक, सांस्कृतिक इत्यादि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। राज्य एक ऐसा उपकरण या साधन है जो मनुष्यों को सामाजिक संबंध कायम करने के लिए उपयुक्त परिस्थितियां तैयार करता है।

4. राज्य के पास बलप्रयोग करने की शक्ति होती है। यह शक्ति सेना, पुलिस या नौकरशाही के माध्यम से प्रयुक्त होती है। समाज साधारणतया जनमत के प्रभाव का उपयोग करके सदस्यों से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कराता है। राज्य अपने आदेशों के उल्लंघन करनेवाले को दंड दे सकता है। समाज के पास केवल आलोचना, निंदा और सामाजिक बहिष्कार का अधिकार है।

5. राज्य के पास संप्रभुता है। राज्य के नागरिकों और समुदायों के लिए राज्य की आज्ञाओं के अनुसार कार्य करना वैधानिक रूप से आवश्यक है। समाज के पास संप्रभुता

नहीं है। वह सामाजिक संगठनों और समुदायों के माध्यम से नागरिकों पर प्रभाव डाल सकता है। नागरिकों के लिए किसी भी ऐसे सामाजिक नियम की अवहेलना करना अपेक्षाकृत सरल है, जिसे राज्य की सप्रभुता का समर्थन प्राप्त न हो।

6. सामाजिक व्यवस्था रूढ़ियों, परंपराओं और रिवाजों पर आधारित है। इसके विपरीत राज्य कानूनों की सहायता से अपनी सत्ता कायम रखता है। कानून का प्रारंभिक स्रोत परंपरा है परंतु दोनों की प्रकृति में काफी अंतर है। परंपरा को कार्यान्वित करने के लिए कोई संगठित सस्था नहीं होती, जबकि कानूनों को कार्यान्वित करने के लिए नौकरशाही और अदालतों का संगठन किया गया है।

7. राज्य के लिए निश्चित भूभाग और संगठन की आवश्यकता है। समाज के लिए निश्चित भूभाग और मगठन अनिवार्य नहीं है। धार्मिक समाज अंतर्राष्ट्रीय हो सकते है। ग्राम स्थानीय समाज का उदाहरण है। पूजीवादी आर्थिक समाज अतर्राष्ट्रीय है। इतिहास मे असंगठित समाजों के उदाहरण मिलते है, परतु असंगठित राज्य एक असंगत विचार है।

8. समाज के लिए वर्गव्यवस्था अनिवार्य नहीं है। प्रारंभ में आदिम साम्यवादी युग के कबीलाई समाज में वर्गविभाजन नहीं था और मार्क्स के अनुसार भविष्य के साम्यवादी समाज में भी वर्गव्यवस्था और वर्गसंघर्ष का अंत हो जाएगा। इसके विपरीत राज्य में वर्गव्यवस्था और वर्गसंघर्ष का होना अनिवार्य है। समाजवादी राज्य मे भी साम्यवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के पहले वर्गभेद और वर्गसंघर्ष को समाप्त करना असंभव है। अतः वर्गविहीन समाज के आदर्श का विचार तर्कसंगत है किंतु वर्गविहीन राज्य की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है।

राज्य और सरकार

जैसा पहले बताया जा चुका है, सरकार राज्य का ही एक आवश्यक तत्व है। सरकार वह ढाचा है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा को व्यावहारिक रूप दिया जाता है। इसलिए सरकार की तुलना मे राज्य अधिक व्यापक शब्द है। साधारण बोलचाल मे राज्य के इस व्यापक रूप को भुलाकर उसे सरकार के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। राज्य के कार्य वास्तव मे सरकार के कार्य होते है।

हेरोल्ड लास्की का विचार है कि क्रियात्मक दृष्टिकोण से राज्य और सरकार का भेद महत्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार जी डी एच कोल का विचार है कि राज्य जनसमुदाय की सरकार का राजनीतिक यंत्र है। लास्की और कोल का विचार है कि सैद्धांतिक दृष्टि से राज्य और सरकार में अंतर करना उचित हो सकता है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से यह अंतर अनुचित और निरर्थक है क्योंकि राज्य केवल सरकार के माध्यम से कार्य कर सकता है। लास्की के अनुसार राज्य की संप्रभुता का उपयोग भी सरकार ही करती है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से राज्य और सरकार के अंतर निम्नलिखित हैं :

1. राज्य अपेक्षाकृत स्थाई संस्था है, किंतु सरकार मे परिवर्तन होते रहते है। इंग्लैंड एक राज्य के रूप में सदियों से विद्यमान है किंतु इंग्लैंड की सरकार बदलती रहती है।

पहले वहां निरंकुश राजतंत्रात्मक सरकार थी। अब लोकतंत्रीय सरकार है और यह सरकार भी कभी अनुदार दल की सरकार होती है तो कभी उदार दल या मजदूर दल की।

2. राज्य में सरकार और सामान्य नागरिक समान रूप से शामिल हैं। सरकार में नागरिकों का एक छोटा सा अल्पसंख्यक वर्ग होता है जो बाकी नागरिकों पर शासन करता है। उदाहरणार्थ छात्र, मजदूर, किसान आदि राज्य के सदस्य तो है, पर सरकार के सदस्य नहीं हैं।

3. राज्य एक व्यापक जनसमुदाय है जिसके अंतर्गत अनेक समुदाय मौजूद हैं। सरकार इस जनसमुदाय के अंतर्गत एक संकीर्ण संगठन है। अन्य समुदाय सरकार की अधीनता में कार्य करते हैं किंतु वे सरकार के अंग नहीं है। सरकार और समुदाय के बीच में संघर्ष की संभावना हो सकती है, जिसे गलती से राज्य और समुदाय का संघर्ष माना जाता है।

4. राज्य के पास संप्रभुता होती है और संप्रभुता राज्य का आवश्यक तत्व है किंतु सरकार उस संप्रभुता का अस्थाई रूप से राज्य की ओर से प्रयोग करती है। सरकार के अधिकार संविधान द्वारा सीमित किए जा सकते हैं। राज्य के अधिकार उसकी संप्रभुता के कारण असीमित होते है।

5. राज्य एक अमूर्त धारणा है। राजनीतिविज्ञान में उसके चरित्र और उद्देश्यों के संबंध में काफी वाद-विवाद हुआ है। फिर भी उसके चरित्र और आदर्शों का सर्वसम्मत निर्धारण नहीं हो सका है। इसके विपरीत सरकार एक मूर्त यथार्थ है। सरकार के स्वरूप और कार्यों का निर्धारण करना अपेक्षाकृत सरल है।

6. राज्य अनेक वर्गों का मिला-जुला समूह है। इसमें शोषक और शोषित वर्ग या शासक और शासित वर्ग साथ रहते है। सरकार वह संगठित शक्ति है जिसके द्वारा शासक वर्ग शासित वर्गों के शोषण को कायम रखता है और उसे मजबूत करता है। इतिहास में अभी तक मालिक, जमींदार या पूंजीपति वर्ग की सरकारों का निर्माण क्रमशः दासों, किसानों या मजदूरों के शोषण के लिए हुआ था। केवल समाजवादी सरकार एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण पर आधारित नहीं होती क्योंकि वह शोषक वर्गों का सदा के लिए अंत कर देती है।

7. सभी राज्यों के तीन तत्व जनसंख्या, भूभाग और संप्रभुता एक समान होते हैं किंतु सरकारों के विभिन्न रूप हो सकते है, जैसे : राजतंत्र, लोकतंत्र या अधिनायकतंत्र। वर्गव्यवस्था के आधार पर राज्यों और सरकारों के चरित्र में अंतर किया जा सकता है, जैसे : पूंजीवादी राज्य या समाजवादी राज्य एवं सामंतशाही की सरकार या पूंजीपति वर्ग की सरकार।

8. किसी भी जनसमुदाय के लिए सरकार की जरूरत है। उदाहरणार्थ 1947 के पूर्व भारत में अंग्रेजों की औपनिवेशिक सरकार थी किंतु भारतीय राज्य का अस्तित्व नहीं था। राज्य के लिए सरकार की उपस्थिति अनिवार्य है परंतु सरकार के लिए राज्य । अस्तित्व अनिवार्य नहीं। उदाहरणार्थ अल्जीरिया राज्य के निर्माण के बहुत पहले

अल्जीरिया की सरकार का गठन कर दिया गया था। पोलैंड, फ्रांस इत्यादि देशों को जब नाजी जर्मनी ने जीत लिया था, तो इन देशों की सरकारें विदेशों में स्थित थी।

राज्य तथा अन्य समुदाय

मैकीवर तथा अन्य समाजशास्त्री तीन प्रकार के सामाजिक संगठनों की चर्चा करते है: जनसमुदाय, समुदाय और संस्था। देश, नगर, गांव, कबीला, जाति और राष्ट्र जनसमुदाय के उदाहरण हैं। जनसमुदाय का आधार व्यापक और सर्वांगीण एकता है। जनसमुदाय क्षेत्रीय भी होते हैं और सदस्यीय भी। सदस्यीय जनसमुदायों के उदाहरण कबीले, जातियां आदि हैं।

समुदाय ऐसे ऐच्छिक संगठन है जिन्हें मनुष्य किसी सामान्य उद्देश्य को पूरा करने के लिए बना लेते है। संस्था से हमारा तात्पर्य किसी परंपरा या सिद्धांत से होता है जो किसी समुदाय के संचालन में सहायक होता है। मैकीवर के कथनानुसार यदि परिवार एक समुदाय है तो विवाह इस समुदाय के संचालन मे मदद देने वाली संस्था है। साधारण बोलचाल में संस्था और समुदाय के इस समाजशास्त्रीय अंतर को ध्यान मे नही रखा जाता। परिवार, चर्च, वर्ग, राजनीतिक दल, मजदूर संघ आदि समुदायों के उदाहरण है। उत्तराधिकार, धार्मिक संस्कार, पार्टी की मशीन, वर्गभेद, बाजार आदि संस्थाओ के उदाहरण है। मैकीवर राज्य को न तो जनसमुदाय मानते हैं और न संस्था।[8] उनके अनुसार राज्य एक समुदाय ही है। उदाहरणार्थ साइप्रस मे रहने वाले यूनानी वंशधर यूनानी जनसमुदाय के सदस्य हैं किंतु वे साइप्रस राज्य के नागरिक होने के नाते साइप्रस राजनीतिक समुदाय के सदस्य भी हैं।

मनुष्य के जीवन का एक अंश ही किसी समुदाय के अंतर्गत बीतता है किंतु उसका संपूर्ण जीवन जनसमुदाय की परिधि से घिरा होता है। प्रारंभ मे कबीला या गांव ऐसा ही जनसमुदाय था। प्राचीन यूनान का नगर भी ऐसा ही जनसमुदाय था। मैकीवर के अनुसार राज्य ने भी ऐसे जनसमुदाय होने का अकसर दावा किया है किंतु कुछ सर्वाधिकारवादी अधिनायकतंत्रों के अलावा राज्य इस दावे को कार्यान्वित करने मे असमर्थ रहा है। आदर्शवादी लेखक हीगल और बोसांके राज्य को जनसमुदाय मानते हैं। रूसो, ग्रीन और क्रोस भी राज्य को जनसमुदाय मानते हैं। इसके विपरीत बार्कर, मैकीवर और लास्की राज्य को समुदाय मानते हैं।

मैकीवर का कथन है: 'हमे न केवल इस बात से इनकार करना चाहिए कि राज्य एक जनसमुदाय या जनसमुदाय का रूप है, बल्कि हमें निश्चित रूप से घोषणा करनी चाहिए कि यह परिवार तथा चर्च की कोटि का समुदाय है। इनकी तरह ही यह सदस्यों का एक समूह है जिसे एक निश्चित ढंग से संगठित किया गया है और इसीलिए इसके सीमित उद्देश्य हैं। राज्य का संगठन संपूर्ण सामाजिक संगठन के बराबर नही हैं; राज्य के लक्ष्य मानवता के लक्ष्य नही है; और यह बिलकुल स्पष्ट है कि राज्य जिन तरीकों से अपने उद्देश्यों को प्राप्त करता है, समाज उन तरीकों का प्रयोग कुछ ही अवसरो पर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए करता है।'[9]

राज्य को जनसमुदाय मानने की भ्रांति का एक ऐतिहासिक कारण है। यह कारण परिवार और चर्च पर भी लागू होता है क्योंकि कुछ लोग इन्हें भी जनसमुदाय का दरजा देते है। मनुष्य जन्म से ही किसी परिवार, धर्मसंगठन या राज्य की सदस्यता प्राप्त कर लेता है। राज्य तो स्वाभाविक रूप से अपने निर्धारित भूभाग मे निवास करने वाले प्रत्येक मनुष्य को अपनी सदस्यता प्रदान कर देता है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य मनुष्यकृत समुदाय नही है।

राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र मे बहुलवादियो के अतिरिक्त अन्य सभी लेखक राज्य को राष्ट्र की तरह जनसमुदाय मानते है। आजकल अधिकाश राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर संगठित हैं। इसलिए राज्य समुदाय है अथवा जनसमुदाय, यह प्रश्न अब व्यावहारिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नही रहा है। मैकीवर भी राष्ट्र को जनसमुदाय मानने के लिए तैयार है। अत. राष्ट्रीय राज्य भी राष्ट्र के रूप मे एक जनसमुदाय माना जा सकता है। राज्य तथा अन्य समुदायो मे अतर निम्नलिखित आधारो पर किया जाता है :

1. नागरिकों के लिए राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है किंतु परिवार या धार्मिक समुदाय को छोड़कर अन्य समुदायों की सदस्यता वैकल्पिक होती है। मजदूर के लिए यह आवश्यक नही कि वह किसी मजदूर सघ का सदस्य बने और न छात्र के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी छात्र सघ की सदस्यता प्राप्त करे।

2. नागरिक एक समय मे केवल एक राज्य के सदस्य हो सकते हैं। किसी दूसरे राज्य मे स्थाई रूप से निवास करने पर वे उस राज्य के सदस्य बनाए जा सकते है, परंतु उन्हे अपने पूर्ववर्ती राज्य की सदस्यता छोड़नी पड़ेगी। नागरिक अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार अनेक समुदायो का सदस्य बन सकता है। वह मनोरंजन के लिए फिल्म-सोसायटी का, खेल के लिए क्रिकेट क्लब का, राजनीति के क्षेत्र मे कांग्रेस दल का और धार्मिक विश्वास के कारण आर्यसमाज का सदस्य बन सकता है।

3. राज्य के पास संप्रभुता या बलप्रयोग करने की शक्ति होती है। समुदाय केवल सद्भावना और नैतिक प्रभाव के उपयोग द्वारा सदस्यो पर अनुशासन रखते हैं। राज्य नागरिक को अपराध करने पर मृत्युदंड तक दे सकता है। समुदाय अधिक से अधिक सदस्य को उसकी सदस्यता से वंचित करने का दंड दे सकता है।

4. आजकल अधिकाश राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर संगठित हैं। साम्राज्यवाद के अंत के बाद एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो गई है। समुदाय स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आधारों पर समान रूप से संगठित किए जा सकते हैं। कम्युनिस्ट संगठन या कैथोलिक चर्च अंतर्राष्ट्रीय समुदाय है। रेडक्रास सोसायटी भी एक अंतर्राष्ट्रीय समुदाय है। कांग्रेस दल, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस आदि राष्ट्रीय समुदाय हैं। खेल, मनोरंजन, साहित्य और कला मे रुचि रखनेवाले व्यक्ति स्थानीय समुदायों और क्लबो का निर्माण कर सकते हैं।

5. राज्य के लिए निश्चित क्षेत्र होना आवश्यक है किंतु समुदाय के लिए क्षेत्रीयता की शर्त नहीं है। उदाहरणार्थ राज्य की संकल्पना के लिए निर्धारित भूभाग होना अनि-
है किंतु समुदाय बिना किसी निर्धारित भूभाग के ही अपना कार्य कर सकता है।

रेडक्रास सोसायटी, कांग्रेस दल या कैथोलिक चर्च को भूभाग के नियंत्रण की जरूरत नहीं है।

6. राज्य का उद्देश्य अन्य समुदायों की तुलना में अधिक व्यापक होता है। समुदाय अपने सीमित और विशिष्ट उद्देश्य को पूरा करने में व्यस्त रहते हैं। उदाहरणार्थ राज्य नागरिकों की आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक उन्नति के लिए समान रूप से सक्रिय होता है किंतु समुदाय किसी संकीर्ण उद्देश्य से, जिसका संबंध धर्मप्रचार, खेल-कूद, मनोरंजन आदि से होता है, प्रेरित होकर, केवल अपने सदस्यों के संतोष और सुख के लिए कार्य करते हैं। कुछ समुदाय सीमित स्तर पर परोपकार और लोककल्याण के कार्य भी करते हैं।

7. राज्य समुदायों की तुलना में अधिक स्थाई होते हैं। समुदाय आवश्यकतानुसार बनते और बिगड़ते रहते हैं। कुछ समुदाय राज्य की भांति ही दीर्घजीवी होते है। उदाहरणार्थ कैथोलिक चर्च यूरोप के अनेक राज्यों से अधिक स्थाई सिद्ध हुआ है। भारत का कांग्रेस दल भारतीय राज्य से भी पहले बना था और आज तक कायम है।

राज्य की बदलती हुई धारणाएं

अर्नेस्ट बार्कर ने राज्य की बदलती हुई धारणाओं की चर्चा करते हुए बताया है कि पश्चिमी जगत में सबसे पहले यूनानी दार्शनिकों ने यूनानी नगरराज्य के आधार पर 'समाज-राज्य' की संकल्पना प्रस्तुत की। तदुपरात ईसाई विचारकों ने चर्च और राज्य की समानांतर सत्ता का सिद्धात प्रस्तुत किया। उसके बाद सामंती राजवंशीय राज्य का युग आया। सोलहवीं सदी से राष्ट्रीय राज्य का युग शुरू हुआ। अगला चरण फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप लोकतंत्रीय गणराज्य का माना जा सकता है। उसकी प्रतिक्रिया के रूप में जर्मन रोमांटिक राष्ट्रवादी राज्य का उदय हुआ। इंग्लैंड मे व्यक्तिवादी राज्य की संकल्पना विकसित हुई। अत में मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने पूंजीवादी समाजराज्य की समाजवादी-साम्यवादी आलोचना प्रस्तुत की। श्रमिक संघवादी और अराजकतावादी विचारकों ने तो शक्तिव्यवस्था पर आधारित राज्यप्रणाली को समाप्त करने का ही प्रस्ताव रख दिया।

यूनानी समाजराज्य की संकल्पना : यूनानी नगरराज्य हमारे लिए आज भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि प्लेटो तथा अरस्तू की कृतियों मे राज्य की जो संकल्पना प्रस्तुत की गई है, वह हमारे विचारों को आज भी प्रभावित करती है। नगरराज्य को यूनानी 'पोलिस' कहते थे परंतु यह केवल राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं था, वह सामाजिक व्यवस्था भी था। वह राज्य और समाज का संयुक्त रूप था। यह एक धार्मिक संघ और नैतिक व्यवस्था भी था। बार्कर के शब्दों में वह इसके आलावा उत्पादन और व्यापार की संस्था भी था और एक ऐसा सांस्कृतिक समुदाय भी था जो सौंदर्य और सत्य की साधना करता था। प्लेटो की 'रिपब्लिक' ईश्वर की सच्ची संकल्पना, नैतिक आचरण के नियम, शिक्षा के द्वारा कला और विज्ञान के संचालन, आर्थिक जीवन के विनियमन आदि से समान रूप से संबद्ध थी। अरस्तू इस सीमा तक राज्य को महत्व नहीं देते। फिर भी वे मनुष्य को एक

राजनीतिक प्राणी मानते है, राजनीति को विज्ञानों में सर्वोच्च बताते हैं और समाजराज्य के रूप में 'पोलिस' के प्रति निष्ठा को प्राथमिकता देते हैं।

आज के युग मे समाज और राज्य की यह एकरूपता संभव नही है। यूनानी 'पोलिस' की तुलना मे आज का राज्य सिर्फ एक आयाम (डाइमेंशन) वाला समुदाय है। बार्कर के कथनानुसार आज के राज्य का सामर्थ्य यूनानी 'पोलिस' की तुलना में सीमित है। यह आर्थिक, सांस्कृतिक या धार्मिक समुदायों एवं व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों की घोषणा करता है किंतु वह स्वयं आर्थिक प्रणाली, धर्म संघ या सांस्कृतिक समुदाय नही है।[10]

चर्च और राज्य की प्रतिद्वंद्विता : रोमन काल में विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई परंतु विचारधारा के क्षेत्र मे 'पोलिस' पर आधारित सिद्धांतों को ही मान्यता मिलती रही। जब ईसाई चर्च ने रोम के शासकों को ईसाई बना लिया तो पहली बार यूरोप के इतिहास मे दो समानांतर सत्ताओ की स्थापना हुई। सम्राट मे लौकिक सत्ता का निवास माना गया और चर्च के मुख्य पुरोहित पोप मे धार्मिक सत्ता निहित कर दी गई। लौकिक क्षेत्र मे जनता की निष्ठा सीजर यानी सम्राट के प्रति थी किंतु धार्मिक क्षेत्र मे जनता की निष्ठा पोप के प्रति थी। यद्यपि सत्ताएं दो थी, किंतु जनसमुदाय एक ही था। सभी ईसाई एक विशाल अंतर्राष्ट्रीय जन-समुदाय के सदस्य थे जो सीजर और पोप के प्रति समानांतर निष्ठाएं रखते थे। इस प्रकार एक ही समाज मे दो समानांतर सरकार काम करती थी। चर्च भी राज्य की तरह कर वसूल करता था और अपनी कचहरियों के द्वारा अपराधियो को दंड देता था। सेंट अगस्टीन और सेंट ऐक्विनास ने राज्य की तुलना मे चर्च को ऊपर माना। अधिकांश ईसाई विचारकों ने राज्य की सर्वोपरिता, प्राथमिकता या व्यापकता को स्वीकार नही किया। बार्कर के अनुसार समाज ने राज्य को अपना अंग बना लिया।[11]

सामंती राज्य और विकेंद्रीकरण : ग्यारहवी सदी मे तेरहवी सदी तक यूरोप अशांति एवं नई संस्थाओ की शुरुआत का स्थल रहा। सिद्धांत मे सार्वभौम साम्राज्य और सार्वभौम चर्च की संकल्पना प्रचलित रही किंतु व्यवहार में सामंती सीढ़ी के अनुसार सत्ता का विकेंद्रीकरण हो गया। प्रादेशिक राज्य व्यवहार में पोप और सम्राट के नियंत्रण से मुक्त हो गए। बार्कर के शब्दो में अर्धराष्ट्रीय राजवंशीय राज्यों की स्थापना होने लगी। राज्य के तीन प्रमुख तत्व : पादरी वर्ग, जागीरदार वर्ग, और व्यापारी-जमींदार वर्ग इस अर्धराष्ट्रीय राजवंशीय राज्य के तीन स्तंभ थे। सामंतों की ऊंच-नीच के आधार पर अनेक श्रेणियां थी और परंपरा के अनुसार भिन्न भिन्न श्रेणी के सामंत अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते थे। राजा और उसकी अदालतों की सत्ता एक कोने मे सिमट कर रह गई। धर्मसंगठन, वर्ग और पेशे समाज में अपने अधिकारों की रक्षा के लिए स्वावलंबी बनने के लिए मजबूर हो गए। बार्कर के अनुसार मध्ययुग के सामंती समाज ने राज्य के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया। जमींदार अपनी रियासत मे, पादरी चर्च की जागीर मे और व्यापारी अपने नगर के प्रशासन मे आत्मनिर्भर बन गया। राजनीतिक सत्ता छोटे छोटे क्षेत्रों मे बिखर गई और राजनीतिक प्रणाली का पूरी तौर से विकेंद्रीकरण हो गया।[12]

सोलहवीं सदी के बाद राष्ट्रीय राज्य की शुरुआत : बार्कर के अनुसार पश्चिमी यूरोप में सोलहवी सदी मे राष्ट्रीय राज्य की धारणा के लोकप्रिय होने के कई कारण थे। इसका राजनीतिक कारण सामंती युद्धों का विनाशकारी प्रभाव और विदेशी आक्रमणों का सदैव उपस्थित खतरा था, जिसकी वजह से जनता और व्यापारी वर्ग राजा के एकाधिकारी मंसूबों का समर्थन करने लगे। इसका आर्थिक कारण व्यापार और वाणिज्य का विस्तार था जिसकी सफलता के लिए कानून और प्रशासन के केंद्रीयकरण की जरूरत थी। इसका तीसरा कारण बौद्धिक था। यूनान के 'समाज राज्य' और रोम के प्रशासनिक केंद्रीकरण को मिलाकर मैकियावेली, बोदा तथा हाब्स ने आधुनिक राष्ट्रीय राजवंशीय राज्य की संकल्पना का विकास किया। चौथा कारण धार्मिक था। धर्मसुधार आंदोलन के माध्यम से यूरोप के प्रोटेस्टेंट शासकों ने पोप और केंद्रीय सम्राट की सर्वोपरिता को पूरी तौर से अस्वीकार कर दिया और अपने देशों मे न केवल स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य की घोषणा कर दी अपितु स्वतंत्र राष्ट्रीय चर्च का निर्माण भी कर लिया। नई सामाजिक व्यवस्था मे चर्च राज्य के अधीन हो गया और राज्य की संप्रभुता का ऐलान कर दिया गया। कुछ समय बाद कैथोलिक राजवंशो ने भी राष्ट्रीय राज्य की सकल्पना को स्वीकार कर लिया।[13]

फ्रांसीसी क्रांति और लोकतंत्रीय गणराज्य : अठारहवी सदी तक यूरोप में निरंकुश राजवंशीय राज्यों का बोलबाला रहा। बार्कर के अनुसार फ्रांसीसी क्रांति ने सर्वव्यापक संप्रभु राज्य की संकल्पना के राजतंत्रीय आधार को समाप्त कर उसे लोकतंत्रीय रूप दे दिया। राजा के स्थान पर राष्ट्र को संप्रभु घोषित किया गया। रूसो के अनुसार सप्रभुता का निवास जनता या सामान्य इच्छा मे माना गया। व्यवहार मे इस सामान्य इच्छा का उपयोग जनता के प्रतिनिधियो, जनमतसंग्रह के आधार पर निर्वाचित राष्ट्रपति या लोकप्रिय सम्राट को ही सौंप दिया गया। इस प्रकार फ्रांसीसी क्रांति ने एक नई निरंकुशता को जन्म दिया।

फिर भी इस क्रांति ने इस महान लोकतंत्रीय विचार को स्वीकार किया कि सरकार का निर्माण जनता के समर्थन के आधार पर किया जाना चाहिए। इसी प्रकार यह माना गया कि सरकार के अधिकारो को संविधान के द्वारा सीमित करने की आवश्यकता है। पहली बार मनुष्य के मूल अधिकारों का ऐलान किया गया। बार्कर का कथन है कि फ्रांसीसी क्रांति ने केवल व्यक्तियो के अधिकारों की चर्चा की, समुदायों के अधिकारों की ओर ध्यान नही दिया। इन वैयक्तिक अधिकारों की तुलना मे उसने राज्य की एकता को भी प्राथमिकता दी। बार्कर का मत है कि फ्रांसीसी क्रांति ने वस्तुतः एक संप्रभु और *सर्वाधिकारी राज्य की संकल्पना का ही अनुमोदन किया था।*[14]

जर्मनी का रोमांटिक राष्ट्रवादी आदर्श राज्य : जर्मनी के आदर्शवादी विचारको ने रोमांटिक राष्ट्रवादी राज्य की धारणा प्रस्तुत की। यह अंशतः फ्रांसीसी क्रांति के लोकतंत्रीय विचारों की प्रतिक्रिया थी और अंशतः जर्मन लोकसंस्कृति की रोमांटिक शब्दावली मे प्रस्तुत प्रशंसा थी। हीगल और हर्डर जर्मन राष्ट्र और जर्मन राज्य की विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक थे। हीगल ने राज्य को राष्ट्रीय मस्तिष्क की अभिव्यक्ति

माना जो वस्तुतः ईश्वरीय गुण की अभिव्यक्ति है। हीगल की विचारधारा में 'राज्य और समाज की एकता की घोषणा कर दी गई परंतु यह 'राज्य समाज' की संकल्पना थी न कि यूनानी 'पोलिस' की तरह 'समाज-राज्य' की। 'पोलिस' मूलतः सामाजिक व्यवस्था; यह कबीलाई समाज का विकसित नागरिक संस्करण था; और उसमें प्रशासन का क्षेत्र सीमित था। हीगल का आदर्श राज्य ऐसा राष्ट्रीय राज्य है जिसमें समाज पूरी तौर से राज्य के अधीन है; जिसमें निरंकुश राजवंशीय सरकार एक विशाल नौकरशाही की मदद से शासन करती है; और नागरिकों के वैयक्तिक अधिकारों को राज्य के हित में कुचला जा सकता है। यह एक अनुदार, नैतिक रूप से सर्वोपरि, सर्वाधिकारवादी राज्य की संकल्पना है। इसकी स्वाभाविक परिणति फासिस्टवाद और नाजीवाद के विकृत समग्रवादी अधिनायकतंत्रीय राज्य की संकल्पना में हुई।

बार्कर का विचार है कि हीगल का राजनीतिक सिद्धांत उदारवादी राज्य की संकल्पना का विरोधी है किंतु उसके दार्शनिक दृष्टिकोण मे उदारवाद के प्रति वैसा विरोध नही पाया जाता। वैचारिक क्रिया, प्रतिक्रिया और अंत.प्रक्रिया को वे प्रगति का साधन मानते हैं जो उदारवादी समाज में ही संभव है क्योंकि वहां विचारों के प्रकाशन पर कोई प्रतिबंध नही होता। हीगल की द्वंद्वात्मक पद्धति और बुर्जुआ समाज के आर्थिक विश्लेषण ने मार्क्सवाद के विकास मे मदद दी।[13]

इंग्लैंड का उदारवादी व्यक्तिवादी राज्य : *अर्नेस्ट* बार्कर का विचार है कि इंग्लैंड में राज्य की व्यक्तिवादी और उदारवादी संकल्पना का सबसे अधिक विकास हुआ। इसके कई कारण थे। सामान्य कानून की परंपरा के कारण इंग्लैंड के न्यायालयों ने कानून के शासन के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। सबसे पहले इंग्लैंड मे ही स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायालयों को मान्यता दी गई। कानून के शासन के आधार पर नागरिकों के वैयक्तिक अधिकारों को सुरक्षा प्रदान की गई। विचारधारा के क्षेत्र में पहले लाक ने व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का ऐलान किया। फिर बेंथम, जान स्टुअर्ट मिल और आस्टिन ने इन वैयक्तिक अधिकारों का उपयोगितावादी आधार पर समर्थन किया।

उदारवादी विचारों का दूसरा कारण पार्लियामेंट की उपस्थिति के कारण उत्तरदायी शासन का क्रमिक विकास है। निरंकुश राजा भी पार्लियामेंट की अनुमति से कर लगाना और अपनी नीतियों का निर्धारण करना लाभदायक समझते थे। धीरे धीरे यही संसद ब्रिटिश जनता की संप्रभुता का प्रतीक बन गई। फ्रांस की तरह यह वैधानिक संप्रभुता सर्वाधिकारी राज्य की संकल्पना का समर्थन नही करती थी। इंग्लैंड मे व्यक्तियों के साथ साथ समुदायों की स्वाधीनता के सिद्धांत को शीघ्र मान्यता दे दी गई।

राज्य की व्यक्तिवादी धारणा के विकास का तीसरा कारण इंग्लैंड मे अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों की उपस्थिति है। इन अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों को सिद्धांत और संगठन के क्षेत्रों में शीघ्र ही पूर्ण रूप से स्वायत्तता दे दी गई और इसकी वजह से यूरोप के राज्यों की तरह इंग्लैंड में राज्य ने समुदायों की स्वाधीनता को छीनने का प्रयास नहीं किया।

उदारवादी व्यक्तिवाद की संकल्पना के विकास का अंतिम कारण इंग्लैंड की आर्थिक

प्रणाली मे स्वतंत्र व्यवसाय और स्वतंत्र श्रमिकसंघों के सिद्धांतों की स्वीकृति है। बेंथम, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो आदि ने निजी व्यवसाय और स्वतंत्र व्यापार के सिद्धातों का प्रतिपादन करते हुए राज्य के महत्व को घटाने का प्रयास किया। व्यक्तिवादी आर्थिक व्यवस्था को ब्रिटिश उदारवादी राजनीतिक प्रणाली का आधार मान लिया गया। मजदूरसंघों पर प्रारंभ मे व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार प्रतिबंध लगाए गए। परंतु कुछ समय बाद इंग्लेंड में राज्य ने मजदूरों के सामूहिक सौदेबाजी के आधार को कानूनी मान्यता दे दी। अतः यूरोप के मजदूरों की तरह इंग्लेंड के मजदूरों ने क्राति या हिंसात्मक आदोलनों का समर्थन नही किया। अतः इंग्लेंड मे एक नम्र मजदूर दल का निर्माण हुआ जिसने संसदीय शासन के उदारवादी नियमों को और बाजार अर्थव्यवस्था की प्राथमिकता को दिल से स्वीकार कर लिया।[16]

राज्य की मार्क्सवादी संकल्पना : मार्क्स तथा एंगेल्स ने सर्वप्रथम राज्य के वर्गचरित्र पर प्रकाश डाला और राज्य की सभी पूर्ववर्ती संकल्पनाओं की आलोचना करते हुए बताया कि उनका उद्देश्य राज्य के वर्गस्वरूप को छिपाना था। प्लेटो और अरस्तू के सिद्धांत वास्तव मे दासता पर आधारित नगरराज्य की संकल्पना का समर्थन करते थे। मध्ययुग के ईसाई विचारक चर्च और सामंतशाही द्वारा किसानों के शोषण को नैसर्गिक नियम या ईश्वर का विधान मानते थे। आधुनिक युग के बुर्जुआ लेखक, चाहे वे इंग्लेंड के उपयोगितावादी हों या जर्मनी के रोमांटिक आदर्शवादी, राज्य के पूजीवादी चरित्र का औचित्य सिद्ध करने की कोशिश मे लगे हुए थे।

लेनिन ने 'राज्य और क्राति' मे मार्क्सवादी संकल्पना के पाच महत्वपूर्ण बिंदुओं की चर्चा की है :

1. समाज, विशेष रूप से अर्थव्यवस्था के संदर्भ में, परस्पर विरोधी वर्गों के संघर्ष के कारण, राज्य की स्थापना करता है, जो देखने में वर्गनिरपेक्ष है और जो वर्गसंघर्ष को कानून और व्यवस्था की मदद से नियंत्रित करता है और कबीलाई समाज के आत्मनिर्भर जनतान्त्रिक सैनिक संगठन के स्थान मे राज्य द्वारा नियंत्रित पेशेवर सैनिकों के विशिष्ट वर्ग का निर्माण करता है।

2. चूकि राज्य वर्गयुद्ध का नतीजा है, इसलिए वह वस्तुतः वर्गसंघर्ष में संलग्न सबसे ज्यादा शक्तिशाली वर्ग का ही प्रतिबिंब है। आधुनिक युग मे यह वर्ग पूंजी इकट्ठा करने वाला वर्ग है। इसलिए राज्य समाज और वर्गो से ऊपर नहीं है बल्कि समाज की वर्ग-व्यवस्था का ही अभिन्न अंग है। व्यवहार मे यह शक्तिशाली पूजीपति वर्ग के संगठित प्रभुत्व का प्रतीक है, जिसका उद्देश्य सबसे ज्यादा दुर्बल मजदूरवर्ग के शोषण को कायम रखना है।

3. सार्वभौम वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्रीय [illegible] भी पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व का ही एक साधन है। पूजीवाद के लिए यह सबसे उचित राजनीतिक व्यवस्था है क्योंकि इसके द्वारा धन की सत्ता का [illegible] है। इसलिए वह सत्ता और भी ज्यादा सुदृढ हो जाती है। [illegible]
नौकरशाही के सदस्यों को रिश्वत देकर, समाचारपत्रों पर [illegible]

सत्ताधारी राजनीतिक दलों को भारी आर्थिक सहायता देकर पूंजीपतिवर्ग सरकार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है।

4. जहां यह लोकतन्त्रीय गणराज्य एक रूप से पूजीपतिवर्ग के लिए हितकर है, वहां यह पूंजीवादी आर्थिक विकास के कारण संख्या में लगातार बढ़ते हुए सर्वहारा मजदूर वर्ग को संगठित होकर राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में वर्गसंघर्ष के लिए नए उपयुक्त अवसर भी प्रदान करता है। मजदूरसंघों और समाजवादी साम्यवादी दलों में संगठित होकर मजदूर वर्ग अपने प्रतिद्वंद्वी पूंजीपति वर्ग से सत्ता छीनने के लिए अंतिम और निर्णायक युद्ध के लिए तैयारी करता है। इसलिए वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत सर्वहारा वर्ग के लिए भी लोकतंत्रीय गणराज्य सबसे अधिक सुविधाजनक राजनीतिक प्रणाली है।

5. जब सर्वहारा वर्ग की चेतना और संगठन का पर्याप्त विकास हो जाएगा तो एक दिन वह क्रांति और बलप्रयोग द्वारा पूंजीवादी राजतंत्र को छिन्न-भिन्न कर देगा जैसे सामंतशाही के राज्यतंत्र के पहले पूंजीपति वर्ग ने हिंसा और क्रांति द्वारा नष्ट किया था। इसलिए इतिहास मे राज्य और वर्गसंघर्ष अभिन्न रूप से जुड़े हुए है। केवल सर्वहारा वर्ग ही समाजवादी विकास के द्वारा वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना कर सकेगा। संक्रमणकालीन अवस्था मे समाजवादी राज्य भी शक्तिशाली और सत्ताधारी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र के रूप मे कार्य करेगा।[17]

राज्य की अराजकतावादी संकल्पना : बाकुनिन और क्रोपाटकिन राज्य की संकल्पना एक शक्ति व्यवस्था के रूप मे करते हैं। उनके अनुसार राज्य मनुष्य की स्वतंत्रता का विरोधी और वर्गशोषण का संरक्षक है। इसलिए वे क्रांति द्वारा न केवल पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का अंत करना चाहते है बल्कि राज्यतंत्र के सभी दमनकारी उपकरणों—फौज, पुलिस, नौकरशाही आदि को भी समाप्त करना चाहते है। आज के युग में चर्च और पूंजीवादी राज्य के सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं। विलियम गाडविन, प्रूधों और तोल्स्तोय हिंसात्मक क्रांति के विरोधी हैं। वे शांतिपूर्ण प्रचार द्वारा अराजकतावादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

सभी अराजकतावादी लेनिन द्वारा प्रस्तुत सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र की संकल्पना का विरोध करते हैं क्योंकि उनका विचार है कि जब तक राज्य कायम रहेगा, सर्वहारा वर्ग शोषित वर्ग ही रहेगा और नौकरशाही और साम्यवादी दल के अंदर से एक नए शोषक वर्ग का निर्माण हो जाएगा। मार्क्सवादियों का कथन है कि समाजवादी क्रांति के तुरंत बाद राज्य को समाप्त करने का परिणाम प्रतिक्रियावादियों की सत्ता की फिर से स्थापना में सहायता करेगा। श्रमिकसंघवादी और श्रेणीसमाजवादी भी राज्य की सत्ता के केंद्रीकरण के विरोधी हैं किंतु वे अराजकतावादियों की तरह राजनीतिक संगठन को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं करना चाहते। श्रेणी समाजवादियों की तुलना में श्रमिकसंघवादी विचारक सोरेल राज्य के अधिक कठोर आलोचक हैं। राज्य की अराजकतावादी, श्रमिक संघवादी और श्रेणी समाजवादी संकल्पनाएं राज्य के केंद्रीकरण की आलोचना के रूप में उपयोगी हैं किंतु अत्यधिक सिद्धांतवाद के कारण उन्हें किसी भी देश में कार्यान्वित नहीं किया जा सका है।[18]

मैकीवर और लास्की की बहुलवादी धारणा : मैकीवर और लास्की राज्य को अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय मानते हैं। वे राज्य की वैधानिक संप्रभुता के सिद्धांत को राजनीतिविज्ञान के लिए निरर्थक समझते हैं क्योंकि व्यवहार में कोई राज्य न तो समाज के अन्य समुदायों की स्वायत्तता को पूरी तौर से नष्ट करने में समर्थ हो सका है और न उसे ऐसा करने का प्रयास करना चाहिए। मैकीवर के अनुसार संप्रभुता का अभिप्राय केवल इतना है कि जब अन्य समुदाय या सामाजिक वर्ग कानून, शांति और व्यवस्था को भंग करने का प्रयत्न करें तो राज्य बलप्रयोग द्वारा उन्हें ऐसा करने से रोक दे। परंतु साधारण रूप से यदि राज्य अपनी सत्ता का उपयोग सभी समुदायों के आंतरिक जीवन के नियंत्रण के लिए करेगा, तो वह ऐसा सर्वाधिकारी राज्य बन जाएगा जिसमें नागरिकों की वैयक्तिक और सामुदायिक स्वतंत्रता पूर्ण रूप से नष्ट हो जाएगी।

लास्की संप्रभु राज्य की आलोचना तीन कारणों से करते हैं। पहला कारण यह है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी के रूप में अपनी निष्ठाओं की प्राथमिकता स्वयं निर्धारित कर सकता है और यदि राज्य, चर्च या श्रमिकसंघ की मांगों में विरोध हो तो वह अपने विवेक के अनुसार उनमें से किसी एक समुदाय की मांग को प्राथमिकता दे सकता है। दूसरा कारण ऐतिहासिक है। संप्रभु राज्य की स्थापना सोलहवीं सदी के बाद राष्ट्रीय राज्य को पोप के प्रभुत्व से मुक्त करने के लिए और सामंतों की विघटनकारी शक्ति का अंत कर राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए हुई थी। इसलिए संप्रभुता संकटकालीन संकल्पना है, जिसका शांतिकाल में कोई उपयुक्त योगदान नहीं हो सकता अपितु वह व्यक्तियों और समुदायों की आजादी के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकती है। तीसरा कारण संप्रभुता के सिद्धांत का अंतर्राष्ट्रीय पहलू है। संप्रभु राज्य अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना में सबसे विकट बाधा है। प्रत्येक संप्रभु राज्य युद्ध द्वारा राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति को अपना अधिकार समझता है। इसलिए संप्रभुता के सिद्धांत को समाप्त किए बिना युद्ध का अंत करना असंभव है।[19]

राज्य का ऐतिहासिक विकास

राज्य की उत्पत्ति मातृसत्ताक तथा पितृसत्ताक कबीलाई समाजों से हुई। इसके विषय में चर्चा आगे की जाएगी। यहां हम एक बार राज्य की स्थापना हो जाने के बाद उसके ऐतिहासिक विकास की चर्चा करेंगे। राज्य का प्रारंभिक रूप पितृसत्ताक राज्यों और साम्राज्यों का है। इनमें शक्तिशाली कुलों के नेता योद्धा या पुरोहितवर्ग के सदस्य के रूप में खेती करने वाले ग्रामीण जनसमुदायों पर शासन करते थे। ये राज्य चीन, भारत, ईरान, मिस्र, बेबीलोन, मैक्सिको और पेरू में विकसित हुए थे। तदुपरांत यूनान के नगर-राज्यों और रोम के साम्राज्य की स्थापना हुई। इन राज्यों में राजनीतिक सत्ता दासों के मालिक कुलीन वर्ग में निहित थी। उसके बाद यूरोप में सामंतशाही युग आया जब मैकीवर की आलंकारिक भाषा में राज्य का अंत हो गया। वास्तव में मध्ययुग में राज्य का रूप बदल गया। चर्च के पादरी और जागीरों के मालिक राजनीतिक सत्ता के अधिकारी बन गए। सोलहवीं सदी के बाद यूरोप में राष्ट्रीयता पर आधारित बुर्जुआ राज्य की स्थापना

हुई। प्रारंभ में इसका रूप निरंकुश राजतंत्र का था। धीरे धीरे संवैधानिक राजतंत्र के द्वारा या क्रांति द्वारा लोकतंत्रीय गणराज्य की स्थापना के बाद लोकप्रिय प्रतिनिधिशासन की स्थापना हुई। राष्ट्रीय बुर्जुआ राज्य, जिसका विकास पहले यूरोप में हुआ, आधुनिक राज्य का प्रतीक माना जाता है।

परंतु 1917 के बाद यह स्थिति तेजी से बदली है। रूस में समाजवादी क्रांति के बाद एक नए प्रकार के राज्य का आविर्भाव हुआ। इस राज्य में संप्रभुता सर्वहारावर्ग में निहित कर दी गई। इतिहास मे पहली बार शोषक वर्गों के हाथ से राजनीतिक सत्ता छीन ली गई और उन्हे अपने पारंपरिक विशेषाधिकारों और धन संपत्ति से भी हाथ धोना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दुनिया की एक तिहाई जनसंख्या समाजवादी राज्यों के अंतर्गत रहने लगी। यही नही बल्कि यूरोप के बुर्जुआ साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न होने लगे। भारत की तरह अन्य एशियाई और अफ्रीकी देशों में स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। एशिया और अफ्रीका में पारंपरिक राज्यों का अंत कर औपनिवेशिक शासन की स्थापना की गई थी। यूरोपीय साम्राज्यवादियो ने उपनिवेशों में औद्योगिक विकास मे बाधाएं डाली थी। फलत: अधिकांश स्वतंत्र एशियाई और अफ्रीकी राज्य व्यक्तिवादी पूंजीवाद के स्थान में राज्यपूंजीवादी नीतियां अपना रहे हैं।

नदी घाटी सभ्यताओं के पूर्वी साम्राज्य : चीन मे ह्वांग हो तथा यांग त्सी कियांग की घाटियो मे, भारत में सिंधु और गंगा की घाटियों में, मध्यपूर्व मे नील तथा दजला और फरात के मैदानो मे पूर्वी साम्राज्यों की नीव पड़ी। इनका निर्माण विजेता कबीलों ने विभिन्न कबीलों को अपने अधीन करके किया। उपजाऊ भूमि में कृषि के उत्पादन का अतिरिक्त भाग (सरप्लस) योद्धा और पुरोहित वर्ग वसूल करने लगा। कबीलों के रक्त-संबंध ढीले पड़ने लगे। किसानों ने ग्रामीण जनसमुदायों की स्थापना कर ली। योद्धा वर्ग ने नगरों को राजधानी बनाकर उनपर शासन शुरू कर दिया।[20]

मार्क्स के अनुसार प्रारंभिक एशियाई साम्राज्य मे राज्य के चार कार्य थे : युद्ध करना, व्यवस्था रखना, सिंचाई के लिए नहरें खोदना और टैक्स वसूल करना। इन साम्राज्यों की सत्ता भय और आतंक पर आधारित थी। इन राज्यों मे जातिप्रथा के आधार पर समाज को योद्धाओं, पुरोहितों, व्यापारियों और किसानों में बांट दिया गया। अधिकांश साम्राज्यों में स्थिरता और एकता का अभाव था। सत्ता के लिए कुलीन परिवारों में निरंतर संघर्ष चलता था। पूर्वी साम्राज्य प्राय: अर्धस्वतंत्र और कर देने वाले राज्यो का शिथिल गठबंधन होता था।

राजवंशों के उत्थान-पतन के बावजूद इन साम्राज्यों के जनजीवन में कोई मौलिक परिवर्तन न हो सके। मार्क्स का विचार है कि उत्पादन की एशियाई व्यवस्था मे एशिया के लंबे इतिहास में कोई आधारभूत परिवर्तन न हो सके इसीलिए पूर्वी साम्राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था मे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। एशिया और अफ्रीका में कबीले, जातियां, ग्रामीण जनसमुदाय व्यवस्था, भूमि का स्वामित्व, केंद्रीय सरकार पर निर्भर सामंतशाही, राजवंशीय निरंकुश शासन आदि आधुनिक युग तक जीवित रहे। एशिया और अफ्रीका की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक

व्यवस्थाओं में यूरोप जैसी गतिशीलता नहीं पाई जाती।

यूनान के नगरराज्य और रोम का साम्राज्य : राज्य के विकास का दूसरा चरण दासता पर आधारित राज्य या साम्राज्य है। यद्यपि दासप्रथा पूर्वी साम्राज्यों में भी प्रचलित थी, परंतु वहां उसे अर्थव्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त न था। यूनान के नगरराज्यों में उत्पादन का अधिकांश कार्य दास करते थे। खेती, दस्तकारी और खानों मे मजदूरी के काम दासों से कराए जाते थे। रोम के साम्राज्य मे भी दासों का लगभग वही योगदान था।

यूनान के नगरराज्यों में दासों के मालिकों और अन्य स्वतंत्र नागरिकों ने शासनप्रणाली के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए। राजतंत्र, कुलीनतंत्र, निरंकुश शासन और प्रजातंत्र समान रूप से इन नगरराज्यों मे स्थापित हुए और नष्ट हो गए। यदि स्पार्टा अनुदार कुलीनतंत्र का उदाहरण था तो एथेंस उदार प्रजातंत्र का। इन नगरराज्यों मे सामूहिक नागरिक जीवन का पहली बार विकास हुआ।[21]

रोम के राजनीतिक जीवन की शुरुआत भी एक नगरराज्य के रूप में हुई थी परंतु शीघ्र ही सैनिक विजय द्वारा उसने एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया और अंत में भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द समस्त दक्षिणी यूरोप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका को जीतकर पहले विश्वसाम्राज्य की स्थापना की। रोमन समाज मे एक ओर कुलीन पैट्रीशियन वर्ग था और दूसरी ओर साधारण प्लीबियन वर्ग था और एक बडी संख्या में दास वर्ग भी था। राजनीतिक सत्ता कुलीन वर्ग के हाथ में रहती थी।

रोम ने पश्चिमी संसार को विश्वव्यापी साम्राज्य का विचार दिया। अनेक जातियों को एक संप्रभु और कानूनी व्यवस्था के आधीन कर दिया गया। रोम के शासकों ने विजित जातियों के कुलीन वर्ग को नागरिक अधिकार तो दिए पर राजनीतिक अधिकार नहीं दिए। रोम में प्रारंभ मे राजतंत्र, फिर गणतंत्र और बाद मे सैनिक अधिनायकतंत्र की स्थापना हुई। इस व्यवस्था मे सीजर या सम्राट एकछत्र और निरंकुश शासक बन गया। सम्राट को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा। इस तरह शुरू का प्रजातांत्रिक नगरराज्य एकतंत्रीय साम्राज्य बन गया। रोम का साम्राज्य लगभग पांच सौ वर्ष तक कायम रहा।[22]

सामंतशाही पर आधारित मध्ययुगीन राज्य : आंतरिक वर्गसंघर्ष, शासक वर्ग की आपसी फूट, साम्राज्य के दुर्बल आर्थिक आधार, उपनिवेशो के विद्रोह, बर्बर जातियों के आक्रमण आदि के कारण रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। रोम पर उत्तर से हमला करनेवाली ट्यूटन जातिया अब भी कबायली समाज मे संगठित थी। इन कबायली युद्धनायकों ने रोमन साम्राज्य की एकता, व्यवस्था और केंद्रीकरण को छिन्न-भिन्न करके स्थानीय आधार पर सामंती रियासतों की नीव डाली। यह सामंतशाही कबायली समाज और रोमन साम्राज्य के सिद्धांतों के मेल पर आधारित थी।

अराजकता के युग में सामंतशाही ने फिर से स्थानीय आधार पर शांति और व्यवस्था की स्थापना की। दासप्रथा का अंत कर दिया गया। लेकिन किसानों की हालत अर्धदासों के समान ही रही। प्रत्येक सामंत अपने प्रदेश का मालिक बन गया। प्रधान

सामंत ने अपने अधीन प्रदेश को छोटे जागीरदारों में बांट दिया। जागीरदारों ने अपनी जमीन जमींदारों में, जमींदारों ने अपनी भूमि पट्टीदारों में, पट्टेदारों ने अपनी जमीन नौकरों और कर्मचारियों मे बांट दी। इस तरह किसानों की पीठ पर कई शोषक एक साथ सवार हो गए। भूमि पर क्रमिक स्वामित्व के आधार पर शक्तिशाली भूस्वामियों का वर्ग बन गया जिसने समाज की आर्थिक संपदा और राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लिया।

सामंती व्यवस्था मे प्रत्येक वर्ग को अपने ऊपर के निकटतम वर्ग के आधीन माना जाता था। राजा नीचे के वर्गों से प्रत्यक्ष आज्ञापालन का अधिकारी न था। इसलिए मध्ययुग मे संप्रभुराज्य की धारणा विकसित न हो सकी। कैथोलिक चर्च सामंती व्यवस्था का सहायक और भागीदार बन गया। सामंती व्यवस्था में चर्च के पादरी किसानों का शोषण उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार जागीरदार और जमीदार। राजनीति मे भाग लेने के कारण चर्च स्वयं एक लौकिक और राजनीतिक सत्ता बन गया।[23]

वर्तमान युग का पूंजीवादी राष्ट्रीय राज्य : मध्ययुग के नगरों में व्यापारी वर्ग ने सामंतों से चार्टर लेकर नागरिक स्वशासन की स्थापना की और फिर इन स्वतंत्र नगरों को सामंती सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का केंद्र बनाया। सामंती राज्य के जर्जर होने के कई कारण थे। आपसी युद्धों के कारण सामंतों की शक्ति क्षीण होने लगी थी। सामंती शोषण के खिलाफ होने वाले किसान विद्रोह भी सामंती प्रणाली को कमजोर बना रहे थे। सामंती अर्थव्यवस्था वाणिज्य और उद्योगों की उन्नति में बाधा पहुंचाती थी। अतः शहरों के बुर्जुआ वर्ग ने शोषित किसान वर्ग को एक नई नागरिक सेना में संगठित किया और राजा के नेतृत्व में सामंतीव्यवस्था पर हमला बोल दिया। यदि बुर्जुआ वर्ग का सहयोग प्राप्त करने मे असमर्थ रहा, तो उसने गणतंत्र का नारा बुलंद कर दिया।

1949 की अंगरेजी क्रांति और 1789 की फ्रांसीसी क्रांति का उद्देश्य अपने देशों में बुर्जुआ राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करना था। राष्ट्रीय राज्य की स्थापना व्यापार के विस्तार के लिए अनिवार्य शर्त थी। प्रशासनिक और वैधानिक एकता, राष्ट्रीय यातायात व्यवस्था और राष्ट्रीय बाजार की स्थापना के बिना उत्पादन और वाणिज्य की वृद्धि संभव नही थी। राष्ट्रीय राज्य के निर्माण मे यूरोप के पुनरुत्थान और धर्मसुधार आंदोलनों ने बौद्धिक और नैतिक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। भाषा, संस्कृति, भौगोलिक प्रदेश, धर्म, जातीयता आदि के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना को उत्तेजित किया गया। राष्ट्रीय चर्च, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय इतिहास आदि के नाम पर देशभक्ति के रूप में एक नए लौकिक धर्म का प्रचार किया गया।

प्रारंभ में व्यापारी बुर्जुआ वर्ग ने निरंकुश राजतंत्रीय राज्य के साथ सहयोग किया किंतु औद्योगिक विकास के बाद औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग ने उत्तरदायी प्रतिनिधिशासन की मांग की। इंग्लैंड में औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग संवैधानिक शासन के क्रमिक विकास से संतुष्ट हो गया किंतु फ्रांस में उसको गणतंत्रीय क्रांति के द्वारा जमीदारों की राजनीतिक सत्ता का अंत करना पड़ा।

यूरोप के बुर्जुआ राज्यों ने पहले अन्य महाद्वीपों में व्यापार के उद्देश्य से साम्राज्य

स्थापित किए। औद्योगिक क्रांति के बाद उपनिवेशों का उपयोग अनाज और कच्चे माल के स्रोत और तैयार माल के लिए 'बंद बाजार' के रूप में किया गया। इंग्लैंड के पूंजीपतियों ने जहां अपने देश में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की। वहा विश्वस्तर पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना भी की। यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के उदय का युग एशिया और अफ्रीका के लिए औपनिवेशिक शोषण और राजनीतिक पराधीनता और दासता का युग है। इग्लैंड की बढ़ती हुई पूजी का स्रोत अफ्रीका मे दासव्यापार, भारतीय किसानों के सामंती शोषण और भारतीय दस्तकारों के दमन और शोषण मे देखा जा सकता है।

विश्व के समुन्नत पूजीवादी राज्यों में आज पश्चिमी यूरोप के ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्यों की, एशिया में जापान की, अमरीका मे संयुक्त राज्य और कनाडा की गणना की जा सकती है। अपेक्षाकृत अल्पविकसित पूजीवादी राज्यों मे स्पेन, पुर्तगाल, ग्रीस, तुर्की, मैक्सिको, ब्राजील, अर्जेण्टिना, भारत आदि की गिनती की जा सकती है।

विकसित पूजीवादी राज्यों की राजनीतिक प्रणाली साधारण रूप से बुर्जुआ संसदीय लोकतंत्र पर आधारित रहती है। असाधारण परिस्थिति मे वहा फासिस्ट अधिनायकतंत्र की स्थापना भी हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले इटली और जर्मनी में समाजवादी आदोलन से डरकर पूजीपति वर्ग ने राजनीतिक सत्ता फासिस्ट तानाशाहो के हाथ में सौंप दी थी। फासिस्ट तानाशाही बुर्जुआ राष्ट्रीय राज्य का सबसे अधिक कठोर रूप है।

आधुनिक युग का समाजवादी राज्य : पूजीवादी राज्य दो वर्गों मे बंटा होता है : पूजीपति वर्ग तथा सर्वहारा मजदूर वर्ग। मजदूर वर्ग समाजवादी दल में संगठित होकर पहले अपने अधिकारों के लिए लडता है। यह अधिकारों की लड़ाई आगे चलकर राजनीतिक सत्ता की लडाई बन जाती है। 1917 मे जारशाही रूस के औद्योगिक मजदूर वर्ग ने शोषित किसान वर्ग से मिलकर पूजीवादी राज्य का अंत कर दिया।

समाजवादी राज्य मे उद्योगों, बैंकों, यातायात के साधनों आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। भूमि किसानों की सामूहिक संपत्ति बना दी गई। आर्थिक योजनाओं के द्वारा तेजी से आर्थिक विकास किया गया। राजनीतिक सत्ता सर्वहारा दल के प्रतिनिधि के रूप मे साम्यवादी दल मे निहित कर दी गई। जमींदारों और पूजीपतियों के दलों पर पाबंदी लगा दी गई। जमींदारो, पूजीपतियों और चर्च के पादरियों को मताधिकार नहीं दिया गया। शोषक वर्गों को समाप्त करने के बाद ही सार्वभौम वयस्क मताधिकार की स्थापना की गई।

सोवियत संघ को बहुराष्ट्रीय राज्य घोषित किया गया। रूसी साम्राज्य के शोषित औपनिवेशिक देशों को स्वायत्त शासन देकर उन्हे सोवियत संघ का सम्मानित सदस्य बनाया गया। सभी शोषित और दलित जातियों को समाजवादी राज्य में समान अधिकार दिए गए। नस्ल के आधार पर भेदभाव का अंत कर दिया गया। एशियाई रूस के अविकसित देशो मे तेजी से आर्थिक और सांस्कृतिक विकास किया गया।

स्त्रियों के शोषण को समाप्त कर दिया। उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिए गए। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों मे सोवियत नारियों ने

प्रगति की। प्रशासन, राजनीति, शिक्षा, चिकित्सा, अर्थव्यवस्था के संचालन आदि क्षेत्रों में सोवियत नारियां ऊंचे से ऊंचे पदों पर कार्य करने लगी। समान कार्य के समान वेतन का सिद्धान्त सोवियत महिलाओं पर भी लागू किया गया।

इस प्रकार समाजवादी राज्य ने चार प्रकार के शोषणों का अंत कर दिया। पूंजीपतियों के पूंजीवादी शोषण से शहरी मजदूरों को मुक्ति मिल गई; जमींदारों के सामंती शोषण से ग्रामीण किसान मुक्त हो गए; रूसी पूंजीपतियों के साम्राज्यवादी शोषण से एशियाई औपनिवेशिक जातियों को स्वतंत्रता दी गई; और पुरुषों द्वारा नारियों के शोषण का अंत कर दिया गया। इस प्रकार समाजवादी, क्रांति द्वारा जारशाही रूस की पितृसत्ताक, सामंतवादी, पूंजीवादी और साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं का एक साथ अंत कर दिया गया।

सोवियत समाजवादी क्रांति से प्रभावित होकर जर्मनी, हंगरी, इटली आदि देशों में मजदूरवर्ग ने समाजवादी क्रांति द्वारा राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया। इन देशों में समाजवादी क्रांति सफल न हो सकी। जर्मनी, इटली और हंगरी बुर्जुआ शासकों ने समाजवादी क्रांति की संभावना से डरकर फासिस्ट अधिनायकतंत्र स्थापित किए। 1945 में सोवियत सेनाओं ने पूर्वी और मध्यवर्ती यूरोप के देशों को नाजी साम्राज्यवादी प्रभुत्व से मुक्त किया और वहां नए समाजवादी राज्यों की स्थापना की। इस प्रकार पूर्वी जर्मनी, पोलैंड, चेकोस्लावाकिया, युगोस्लाविया आदि देशों में नए समाजवादी राज्य विकसित हुए।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण घटना चीन और वियतनाम में समाजवादी राज्यों की स्थापना है। चीन के किसानों, मजदूरों, निम्न बुर्जुआ वर्ग, राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने चीन के जमींदारों और पूंजीपतियों एवं जापानी और अमरीकी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध सैनिक और राजनीतिक संघर्ष किया और 1949 में साम्यवादी दल के नेतृत्व में जनवादी गणराज्य की स्थापना की। सन 1956 तक जनवादी चीन में सभी उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो गया और चीन एक समाजवादी राज्य बन गया। चीन की जनवादी और समाजवादी क्रांति एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अल्पविकसित देशों के लिए एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। सोवियत सेना ने 1945 में उत्तर कोरिया को जापानी साम्राज्यवाद से मुक्त किया। फलस्वरूप वहां भी समाजवादी राज्य की स्थापना हुई।

वियतनाम, कंबोडिया और लाओस की जनता ने जापानी, फ्रांसीसी और अमरीकी साम्राज्यवादियों और अपने देशों के जमींदारों-पूंजीपतियों के खिलाफ तीस वर्षों तक जबरदस्त संघर्ष और युद्ध किया। अंत में वे अपने साम्यवादी दलों के नेतृत्व में विदेशी साम्राज्यवादियों और स्वदेशी प्रतिक्रियावादियों को हराकर अपने देशों में समाजवादी क्रांतियां लाने में सफल हुए। इस प्रकार वियतनाम, लाओस और कंबोडिया में भी समाजवादी राज्यों की स्थापना हो गई। लैटिन अमरीका में क्यूबा के क्रांतिकारियों ने अमरीकी साम्राज्यवाद और स्वदेशी प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध संघर्ष कर वहां समाजवादी राज्य की स्थापना की। इथियोपिया की सेना के प्रगतिशील तत्वों ने मध्ययुगीन

सामंतशाही पर आधारित प्रतिक्रियावादी सरकार को उखाड़ फेंका और अपने देश को समाजवादी राज्य घोषित किया। इसके विपरीत मलाया, इंडोनेशिया, फिलिपीन, चिली आदि देशों में प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग जनवादी और समाजवादी आंदोलनों को दबाने में सफल हो गया है।

राष्ट्रीय राज्य की यूरोपीय परंपरा : अल्पविकसित देशों में राष्ट्रवादी आंदोलन और राष्ट्रीय राज्य के विकास को समझने के लिए पहले राष्ट्रीय राज्य की यूरोपीय परंपरा पर विचार करना जरूरी है। जान काट्स्की का कथन है कि भूगोल, नस्ल, धर्म या समान संस्कृति और परंपरा के आधार पर राष्ट्रवाद की व्याख्या करना ठीक नहीं है क्योंकि ये विशेषताएं इतिहास मे राष्ट्रीय राज्य के निर्माण के बहुत पहले से मौजूद रही है। उपर्युक्त कारक राष्ट्रवाद के विकास मे बाधक या सहायक हो सकते हैं किंतु इसके विकास का मुख्य और मूल कारक हमें यूरोपीय इतिहास के आधुनिक युग के परिवर्तनों में खोजने चाहिए। ये मूल कारक व्यापार, यातायात और उद्योगों के विकास में निहित हैं, जिन्होंने परंपरागत ग्रामीण जनसमुदायों और प्रादेशिक सीमाओं का विघटन और अंत कर लोगों के आर्थिक जीवन और अर्थव्यवस्था का एकीकरण कर दिया।[24]

इस आर्थिक प्रक्रिया के अंतर्गत वे सभी भाषाएं और बोलिया, जिनकी लिपियां नही थी, आसानी से नष्ट कर दी गई। आर्थिक विकास के साथ शिक्षा और साक्षरता में वृद्धि हुई और एक केंद्रीय भाषा का विस्तृत क्षेत्रों मे प्रयोग होने लगा। यूरोप मे इस प्रकार कुछ महत्वपूर्ण भाषाएं इतिहास के रंगमंच पर प्रकट हुईं और साहित्य, संस्कृति, विज्ञान आदि के प्रसार का साधन बनी।

पश्चिमी यूरोप में, विशेष रूप से फ्रांस मे, आर्थिक एकता ने राजनीतिक एकीकरण को मजबूत किया और फिर राजनीतिक एकता ने अर्थव्यवस्था के एकीकरण को और आगे बढाया। यह प्रक्रिया राजवंशीय निरंकुश शासन द्वारा सामंतशाही के विकेंद्रीकरण के अंत की स्वाभाविक परिणति थी। वाणिज्य और सरकारी प्रशासन ने जैसे जैसे अधिकाधिक लोगों के जीवन को प्रभावित किया, वे सरकारी भाषा के ज्ञान के लिए उत्सुक और बाध्य हो गए। राजधानी के आसपास बोली जाने वाली भाषा को राज्य की अधिकृत भाषा का दरजा मिल गया। इस प्रकार प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का अंत हो गया।

ब्रिटेन में सत्रहवी सदी की क्रांति के बाद और फ्रांस मे अठारहवी सदी की क्रांति के बाद जनता का अधिक व्यापक वर्ग और विशेष रूप से मध्यम वर्ग सरकार और अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा। 'जनता' की सरकार स्थापित हुई। जनता का अर्थ एक भाषा-भाषी जनसमुदाय था। बूर्बन राजवंश के शासन के समय फ्रांस मे लोग अनेक भाषाएं और बोलिया बोलते थे किन्तु नेपोलियन बिलकुल एक जैसी फ्रेंच भाषा बोलने वाले फ्रांसीसियों का राष्ट्रीय सम्राट था। इस प्रकार यूरोप की राजनीति मे राज्य और राष्ट्रीयता का निकट संबंध स्थापित हो गया और भाषा की एकता को राष्ट्रवाद का मुख्य आधार मान लिया गया।

फ्रांस और ब्रिटेन में कुलीन वर्ग और जनता ने, राजधानी और प्रांतों ने राष्ट्रभाषा

को समान रूप से अपना लिया। परंतु स्पेन, आस्ट्रिया-हंगरी जारशाही रूस और तुर्की के साम्राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों का विकास पहले हुआ और आर्थिक विकास और एकीकरण की गति बहुत धीमी रही। जब इन देशों की सरकारों ने साम्राज्य पर एक भाषा लादने का प्रयास किया तो अल्पसंख्यक जातियों ने उसे जातीय उत्पीड़न कहा और उसका विरोध किया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इन साम्राज्यों का विघटन हो गया और उनके स्थान पर भाषा द्वारा निर्धारित राष्ट्रीयता के आधार पर नए स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। राजवंशीय स्वार्थों, बुर्जुआ हितों आदि के साथ साथ भाषा पर आधारित राष्ट्रीय राज्य की संकल्पना ने इटली और जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण में मदद दी। स्विटजरलैंड, बेल्जियम और स्पेन मे आज भी भाषाई एकता स्थापित नहीं हो सकी है पर वहां क्रमशः जर्मन, फ्रेंच और स्पैनिश बहुसंख्यक नागरिकों की भाषाएं हैं।

सोवियत संघ में प्रादेशिक स्तर पर मातृभाषा को राजभाषा घोषित किया गया और प्रत्येक जाति को भाषा और संस्कृति के आधार पर संघ की इकाई बनाकर उसे प्रादेशिक स्वायत्तता दे दी गई। सोवियत संघ वस्तुतः भाषा पर आधारित सांस्कृतिक रूप से स्वतंत्र जातियों का राजनीतिक संघ है। यद्यपि सभी जातियां रूसी भाषा भी सीखती हैं, किंतु प्रादेशिक स्तर पर अपनी भाषा के प्रयोग और विकास की उन्हें पूरी सुविधा प्राप्त है।

यूरोपीय परपरा के अनुसार राष्ट्रवाद ऐसी विचारधारा और आदोलन है, जिसका उद्देश्य एक भाषा बोलने वाले और उस भाषा पर आधारित समान संस्कृति को स्वीकार करने वाले लोगों को एक स्वाधीन राज्य मे संगठित करना और राष्ट्रभाषा के माध्यम से प्रशासन करने वाली एक सरकार के प्रति उन्हें निष्ठावान बनाना है। केवल सोवियत संघ, स्विटजरलैंड, संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा मे अनेक भाषाओं के बावजूद बहुजातीय राष्ट्रवाद का विकास संभव है।[25]

अल्पविकसित देश और राष्ट्रीयता का सवाल : जान काट्स्की का विचार है कि एशिया और अफ्रीका का राष्ट्रवाद यूरोपीय परंपरा के राष्ट्रवाद से मौलिक रूप से भिन्न है। औपनिवेशिक शासन के कारण वहा ऐसा कोई स्वतंत्र राज्य नही था जिसके प्रति उस देश के निवासी निष्ठा विकसित कर सकते। औपनिवेशिक प्रभाव के कारण वहां औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग भी बहुत कमजोर था और वह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का एकीकरण करने में असमर्थ था। आर्थिक पिछड़ेपन के कारण इन देशों में अनेक भाषाओं और बोलियों के स्थान पर एक सामान्य भाषा का विकास भी संभव नहीं था। साम्राज्यवादियों ने अपनी भाषा को ही इन उपनिवेशों की राज्य भाषा बनाकर किसी स्वदेशी भाषा को राष्ट्रभाषा नहीं बनने दिया। केवल लैटिन अमरीकी और आयरिश राष्ट्रवाद के उदाहरण, जहा भाषा राष्ट्रीयता का आधार नही थी, एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रवाद के विश्लेषण में कुछ सीमा तक उपयुक्त माने जा सकते हैं।

अधिकांश एशियाई-अफ्रीकी देशो मे भाषा की विभिन्नता लोगों के आपसी संपर्क और संचार के विकास में बाधक है। उदाहरणार्थ चीन में केवल चित्रलिपि की एकता है, किंतु विभिन्न प्रांतों में अलग अलग एक दूसरे के समझ में न आने वाली बोलियां बोली

जाती हैं। भारत और इंडोनेशिया में भी लगभग एक दर्जन प्रमुख भाषाएं बोली जाती हैं। यही बात नाइजीरिया आदि अफ्रीकी देशों के बारे में सच है। पश्चिमी प्रेक्षक भाषा-संबंधी विभिन्नता को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं। उदाहरणार्थ चीन में पीकिंग बोली लगभग दो तिहाई चीनियों की भाषा है और भारत में लगभग दो तिहाई भारतीय हिंदी बोल और समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त अरबी, स्वाहिली, फारसी आदि अनेक भाषाएं विस्तृत क्षेत्रों मे बोली और समझी जाती हैं। भारत में भाषा के अधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग को कार्यान्वित किया गया और इस तरह भारत भाषा के आधार पर गढ़ित जनसमुदायों का संघ बन गया। स्पेनिश, पुर्तगाली, अंगरेजी, फ्रेंच आदि औपनिवेशिक भाषाओं ने भी राष्ट्रीय बुद्धिजीवी वर्ग के निर्माण में योगदान दिया। फिर भी इस कथन में कुछ सचाई है कि अधिकांश अफ्रीकी और कुछ एशियाई देशों में जाति, संस्कृति, भाषा और कबीले के आधार पर स्वतंत्र राज्यों का पुनर्गठन नही हुआ। उनकी सीमाएं औपनिवेशिक शासन की सुविधा के अनुसार निर्धारित की गई थीं, जो स्वतंत्रता के बाद भी उसी रूप में कायम रहीं। अतः अरबी और स्वाहिली बोलने वाले कई स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो गए। लैटिन अमरीका में स्पेनिश बोलने वाले लगभग बीस स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य अस्तित्व में आ गए।

तीसरे विश्व के देशों मे राष्ट्रवाद का मुख्य आधार विदेशी शासकों को हटाकर स्वयं अपनी सरकार स्थापित करना है, किंतु 'विदेशी' की परिभाषा क्या है? एक द्रविड़ जाति का भारतीय अंगरेज वायसराय को विदेशी किंतु कश्मीरी आर्य जाति के प्रधान मंत्री को स्वदेशी क्यों मानता है? सूडान में अरब नागरिक यूरोपीय को विदेशी किंतु नीग्रो को स्वदेशी क्यों समझता है? क्यूबा या ब्राजील का गोरी नस्ल का नागरिक उसी नस्ल के अमरीकी को विदेशी और नीग्रो या इंडियन नागरिक को स्वदेशी क्यों मानता है? मिस्र या लेबनान के ईसाई अरब राष्ट्रवाद के सवाल पर मुसलमान अरबों से क्यों मिल जाते हैं? जान काट्स्की का विचार है कि सिर्फ नस्ल, धर्म, जाति, भाषा आदि के आधार पर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देशों के राष्ट्रीयवाद की व्याख्या करना संभव नही है। यह न तो गोरी नस्ल के खिलाफ अश्वेत जातियों का नस्लवादी आंदोलन है, न ईसाई धर्म के विरुद्ध मुसलमानों, बौद्धों और हिंदुओं का धर्मयुद्ध है, और न ही यह राष्ट्रीयता के नाम पर विदेशी भाषा को हटाकर किसी स्वदेशी भाषा को अनिवार्य रूप से राजभाषा बनाता है। तीसरे विश्व का राष्ट्रवाद वास्तव में एक साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन और विचारधारा है।[26]

साम्राज्यवाद विरोध के रूप में राष्ट्रवाद : जान काट्स्की का कथन है कि अल्पविकसित देशों के राष्ट्रवाद का मुख्य आधार औपनिवेशिक शासन के प्रति घृणा है। इस राष्ट्रवाद का मुख्य उद्देश्य औपनिवेशिक शासको को हटाना है। इसलिए प्रत्येक उपनिवेश का राष्ट्रीय आंदोलन वर्तमान औपनिवेशिक सीमाओं के अंतर्गत ही सभी जातियों को संगठित करने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ इंडोनेशिया के राष्ट्रवादी पश्चिमी न्यू गिनी को डचशासित प्रदेश होने के कारण अपने राज्य का अंग समझते है किंतु उत्तरी बोर्नियो और सारावाक, जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अधीन थे, संस्कृति और

वेशिक समाज के आर्थिक अल्पविकास के कारण औद्योगिक मजदूर वर्ग संख्या में महत्वपूर्ण नही होता। फिर भी नगरों में रहने के कारण बुद्धिजीवी इस वर्ग से संपर्क स्थापित करते है और धीरे धीरे उसे राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने के लिए तैयार कर लेते हैं। प्रत्येक उपनिवेश में कारखानों, खानों और बगानों में विदेशी पूजी भी लगी होती है। इनमें काम करने वाले मजदूरों के लिए वर्गसंघर्ष भी राष्ट्रीय आंदोलन का रूप धारण कर लेता है।[27]

आधुनिक वर्गों में तीसरा वर्ग मध्यम श्रेणी के बुद्धिजीवियो का है। इस वर्ग मे वे सभी व्यक्ति आते हैं जिन्होने साहित्य, कला, विज्ञान, कानून, चिकित्सा और सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्रों मे आधुनिक ज्ञान प्राप्त किया है। अधिकाश बुद्धिजीवियों को अपनी शिक्षा और प्रतिभा के अनुकूल औपनिवेशिक शासन मे नौकरिया नही मिलती और व्यवसाय और उद्योग मे उन्नति करने के लिए उपयुक्त अवसर नही मिलते। इसके अलावा ये बुद्धिजीवी पश्चिम की उन्नति, शिक्षा और औद्योगीकरण से प्रभावित होकर अपने देश मे भी वही उन्नति, शिक्षा की सुविधाएं और औद्योगिक विकास लाना चाहते हैं। उनका अपना वर्गहित वास्तव मे राष्ट्रीय हित बन जाता है। इसलिए न केवल भारत के राष्ट्रीय आदोलन मे अपितु सभी देशों के राष्ट्रीय आदोलनो मे बुद्धिजीवी वर्ग ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ये बुद्धिजीवी न केवल राष्ट्रीय आदोलनों को नेतृत्व प्रदान करते हैं अपितु स्वतंत्रता प्राप्त करने पर नए राष्ट्रीय राज्यो के राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के रूप मे शासन का उत्तरदायित्व भी संभालते हैं।

जान काट्स्की के अनुसार अल्पविकसित भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों के राष्ट्रवादियों का मुख्य लक्ष्य तेजी से औद्योगिक विकास करना है। आधुनिकीरण और राष्ट्रवाद उद्योगीगरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। पश्चिमी यूरोप में जब पूजीपति उद्योगीकरण मे लगे हुए थे, तो बुद्धिजीवियों का मुख्य कार्य उस पर आधारित उदारवादी विचारधारा का विकास करना था। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका का पूजीपति वर्ग कमजोर और अल्पविकसित होने के कारण अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास करने में असमर्थ है। इसलिए बुद्धिजीवी वर्ग ही सरकारी पूजी की सहायता से औद्योगिक विकास करने का इच्छुक है। राष्ट्रवादी आंदोलनों में 'समाजवादी' विचारधारा के प्रवेश का वही कारण है। विकासशील देशों में निजी पूजी उद्योगीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ है। इसलिए 'राज्य पूजीवाद' के माध्यम से अर्थव्यवस्था का विकास करना जरूरी हो जाता है।[28]

साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रवाद की एकता और विभिन्नता : अल्पविकसित देश का राष्ट्रवादी इस्पात के कारखानों में राष्ट्रवाद की तस्वीर देखता है। पहले वह साम्राज्यवाद को आधुनिकीकरण के संघर्ष मे अपना सहायक समझता है परंतु शीघ्र ही वह समझ जाता है कि साम्राज्यवाद राष्ट्र के उद्योगीकरण में सबसे बड़ा बाधक है। इस प्रकार वह राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ साथ आर्थिक स्वतंत्रता का समर्थक हो जाता है। वह देखता है कि लैटिन अमरीका के राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होने पर भी अमरीकी आर्थिक साम्राज्यवाद के कारण वहां औद्योगिक उन्नति नही हो सकी है। अत: वह

6

संप्रभुता और बहुलवाद

हम पहले मप्रभुता की संकल्पना के ऐतिहासिक विकास की चर्चा करेंगे और कानूनी, वास्तविक तथा लोकप्रिय संप्रभुता की धारणाओं के अंतर को बताएंगे। उसके बाद यह समझाने का प्रयास करेंगे कि आधुनिक राज्य मे राज्य का भौतिक और विचारधारात्मक तंत्र किस प्रकार इस संप्रभुता को क्रियान्वित करता है। अंत में हम मैकीवर और हेरोल्ड लास्की के विचारों के विशेष संदर्भ में सप्रभुता के सिद्धात की बहुलवादी आलोचना पर विचार करेंगे औरसप्रभुता की संकल्पना के विषय में आज की स्थिति पर प्रकाश डालेंगे।

संप्रभुता की संकल्पना का ऐतिहासिक विकास

राज्य के आवश्यक तत्वों में आजकल संप्रभुता की भी गणना होती है। राज्य तथा अन्य समुदायों में अतर का मुख्य आधार यही है कि राज्य के पास संप्रभुता है जबकि अन्य समुदाय संप्रभु राज्य के अधीन हैं। यह राज्य का एकसत्तावादी सिद्धांत कहलाता है, जिसके मुख्य प्रतिपादक बोदां, हाब्स और आस्टिन हैं। एकसत्तावादी सिद्धांत के बहुलवादी आलोचक बार्कर, मैकीवर और लास्की संप्रभुता को न तो राज्य का आवश्यक तत्व मानते हैं और न अन्य समुदायों को राज्य की अधीनता में रखना उचित समझते हैं। आधुनिक युग से पहले संप्रभुता की संकल्पना कुछ ऐतिहासिक कारणों से विकसित न हो सकी। आज भी यह राजनीतिविज्ञान की अत्यंत विवादास्पद धारणा बनी हुई है।

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में तथा अरस्तू ने 'पालिटिक्स' में राज्य की सर्वोपरिता की चर्चा की है परंतु इसका अर्थ केवल समाजराज्य की नागरिकों पर सर्वोपरिता तथा प्राथमिकता है। यूनानी नगरराज्य में धर्म, समाज, आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक संगठन इस तरह एकाकार हो गए थे कि उनमें अंतर करना असभव था। समाज ने राज्य को अपना अभिन्न अंग बना लिया था। अतः यूनानी दार्शनिक राज्य को एक पृथक संस्था के रूप में न देख सके और न उन्होंने राज्य की वैधानिक संप्रभुता की आवश्यकता महसूस की।

रोमन साम्राज्य की स्थापना के बाद रोमन कानून के अंतर्गत संप्रभुता का सिद्धात के प्रतिपादन की संभावना थी किंतु कुछ ऐतिहासिक कारणों से रोमन विधिशास्त्री भी संप्रभुता की धारणा का विकास करने मे असमर्थ रहे। रोम के शासक, रोमन

चर्च की तरह ही, एक विशाल विश्वसमुदाय और विश्वव्यवस्था के संदर्भ में सोचते थे जिसके निर्माण में राज्यों की संप्रभुता का सिद्धांत बाधक सिद्ध हो सकता था। इसके अलावा स्थानीय स्तर पर वे यूनानी नगरराज्य के नागरिक स्वशासन की प्रणाली को भी कार्यान्वित करते थे। अतः रोमन राज्य अधीनस्थ प्रांतों और स्वायत्तशासी नगरों का शिथिल संघ बन गया था। रोमन साम्राज्य के विस्तार का आधार सैनिक बल था। वे उसे कानूनी सप्रभुता का आधार न दे सके।

मध्ययुग में संप्रभुता के सिद्धांत का विकास बिलकुल असंभव था। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद यूरोपीय राज्य प्रादेशिक सामंती जागीरों और रियासतों में बिखर गए और समाज में सर्वोपरि स्थान पाने के लिए चर्च राज्य का मुख्य प्रतिद्वंद्वी बन गया। केंद्रीय स्तर पर राजा की स्थिति प्रथम सामत से अधिक न थी और प्रादेशिक स्तर पर सभी सामंत लगभग स्वाधीन थे। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्च के प्रधान के रूप में पोप राजाओं पर अंकुश रखता था। मध्ययुगीन राज्य में नैसर्गिक कानून की धारणा का बोलबाला था। अन्य सभी अधिकारी—राजा, बिशप, सामंत आदि इस नैसर्गिक कानून को केवल कार्यान्वित करते थे। अतः राजसत्ता कानून का स्रोत नहीं हो सकती थी।

स्टैनले बेन तथा रिचार्ड पीटर्स का कथन है: 'आधुनिक युग में राज्य को दी गई प्रधानता और मध्ययुगीन दृष्टिकोण में तीव्र भेद है। सामंती जगत में प्राथमिक धारणा राज्य की न होकर कानून की थी। इस कानून को राजनीतिज्ञ नहीं बनाते थे। वह तो सनातन और सार्वभौम व्यवस्था का अंग था जिसे परंपरा और रीतिरिवाज में खोजा जाता था। राजा, परिषदें और न्यायाधीश उसकी खोज और व्याख्या तो कर सकते थे, निर्माण नहीं कर सकते थे।...राजनीतिक सत्ताधारी अर्थात बलप्रयोग की शक्ति द्वारा कानूनी सत्ता का प्रयोग करनेवाले उसी तरह कानून के अधीन थे जिस तरह अन्य संगठित संस्थाओं के सदस्य क्योंकि कानून राजनीतिक व्यवस्था द्वारा निर्मित नहीं था।'[1] इस स्थिति में संप्रभु राज्य की संकल्पना का विकास नामुमकिन था।

आधुनिक युग में मैक्यावेली ने सबसे पहले एकसत्तावादी राज्य और उसकी सर्वोपरिता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। मैक्यावेली के अनुसार राजसत्ता राजा में निहित होनी चाहिए और यही यूरोप का उदीयमान बुर्जुआ वर्ग भी चाहता था। सैबाइन का कथन है: 'प्रत्येक दृष्टिकोण से बुर्जुआ वर्ग ने सैनिक शक्ति और न्यायिक प्रशासन को अधिक से अधिक राजा के हाथ में केंद्रित करने में ही अपना लाभ समझा। सब कुछ मिलाकर व्यवस्थित और कार्यकुशल सरकार की स्थापना में इससे बहुत मदद मिली। राजा की शक्ति अवश्य ही निरंकुश और प्रायः अत्याचारी हो गई किंतु राजतंत्रीय सरकार सामंती कुलीनों के शासन से हर तरह से अच्छी थी।'[2] मैक्यावेली राज्य की संप्रभुता के वास्तविक पहलू से परिचित थे और वे सर्वशक्तिमान विधायी सत्ता की आवश्यकता भी महसूस करते थे। परंतु वे हमारे सम्मुख वैधानिक संप्रभुता के सिद्धांत को प्रस्तुत न कर सके।

फ्रांसीसी विचारक बोदां ने सर्वप्रथम वैधानिक संप्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने संप्रभुता को एक ऐसी असीमित शक्ति माना जिस पर कानूनों का कोई

अंकुश नहीं होता। उनके अनुसार नागरिकता का अर्थ संप्रभु की आधीनता है। राज्य संप्रभु और प्रजा का सामूहिक नाम है, जिसका अभिप्राय सामाजिक, नैतिक और धार्मिक संबंधों को राजनीतिक सिद्धांत की परिधि से बाहर निकालना है। कानून, भाषा, धर्म और परंपरा की एकता राष्ट्रीय राज्य के लिए जरूरी हो सकती है किंतु बोदां के अनुसार ये तत्व राज्य के लिए अनिवार्य नहीं। समान संप्रभु की उपस्थिति किसी भी जनसमुदाय को राजनीतिक समाज बनाने के लिए काफी है और ऐसा राजनीतिक समाज ही राज्य है।

बोदां के अनुसार राजसत्ता असीमित, स्थाई और अदेय है। यह कानूनों का स्रोत है और संप्रभु की आज्ञा ही कानून हैं। धार्मिक संस्थाएं, स्वायत्तशासी नगर और व्यापारिक कंपनियां संप्रभु के आधीन हैं। परंतु बोदां संप्रभुता की कुछ सीमाओं का भी उल्लेख करते हैं। पहली सीमा ईश्वरीय तथा नैसर्गिक कानून है। संप्रभु राज्य का कानून भी नैसर्गिक कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता था। दूसरी सीमा राज्य का संवैधानिक कानून है। संवैधानिक कानून प्राचीन परंपराओं पर आधारित होता है जिसे संप्रभु राज्य को भी बदलने का अधिकार नहीं है। तीसरी सीमा व्यक्तिगत संपत्ति है जिस पर प्राचीन परंपरा के अनुसार केवल परिवार का अधिकार है। बोदां के अनुसार संप्रभु राज्य परिवार और व्यक्ति के संपत्ति संबंधी अधिकार को नहीं छीन सकता।[3]

संप्रभुता के सिद्धांत की उपर्युक्त तार्किक असंगतियों को अंगरेज विचारक हाब्स ने दूर किया। यदि संप्रभुता असीमित, स्थायी और अदेय है तो उस पर कोई सीमाएं नहीं लगाई जा सकतीं। राज्य की स्थापना एक सामाजिक इकरारनामे के द्वारा हुई जिसके अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति ने अपने नैसर्गिक अधिकार एक संप्रभु शासक को सौंप दिए। उस दिन से नैसर्गिक कानून के स्थान में संप्रभु के कानून लागू होने लगे। साधारण कानून की तरह सांविधानिक कानून भी संप्रभु राज्य की आज्ञा मात्र है। नागरिक बिना शर्त संप्रभु की आज्ञाओं का पालन करते हैं। व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार नागरिक का कानूनी अधिकार है जिसे संप्रभु अपने आदेश द्वारा प्रदान करता है। यह अधिकार संप्रभुता को किसी प्रकार सीमित नहीं करता। हाब्स के अनुसार संप्रभुता का विरोध करना अनैतिक और अवैध है, किंतु यदि क्रांति द्वारा नए संप्रभु की स्थापना कर दी जाए, तो नागरिकों को नए संप्रभु के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए और उसके आदेशों का पालन करना चाहिए। अतः हाब्स के अनुसार वास्तविक संप्रभु ही कानूनी संप्रभु है। उनके अनुसार वास्तविक और वैधानिक संप्रभुता में अंतर नहीं है।

प्रारंभ में वैधानिक संप्रभुता और निरंकुश राजतंत्र की धारणाओं को मिला दिया गया था। संवैधानिक राजतंत्र के समर्थक लाक को यह पसंद नहीं था। अत. लाक ने संप्रभुता को वैधानिक और राजनीतिक क्षेत्रों में बांट दिया। वैधानिक संप्रभुता को राजा तथा संसद में सामूहिक रूप से निहित माना और राजनीतिक संप्रभुता को मतदाताओं में निहित किया। राजनीतिक संप्रभुता वह शक्ति है, जो लोकतंत्रीय प्रतिनिधिशासन में वैधानिक संप्रभुता के पीछे रहकर उसे प्रभावित और प्रेरित करती है।

तदुपरांत रूसो ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनके

संप्रभुता का निवास जनता की सामान्य इच्छा में होता है। सामान्य इच्छा एक नैतिक और विवेकपूर्ण इच्छा है जिसका उद्देश्य सामूहिक हित के लक्ष्य को कार्यान्वित करना है। छोटे जनसमुदायों का प्रत्यक्ष लोकतंत्र सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करने की दृष्टि से सर्वोत्तम राजनीतिक प्रणाली है। अन्य राज्यों में भी जन आंदोलनों, विद्रोहों और क्रांतियों के द्वारा जनता अपनी संप्रभुता और सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करती है। रूसो के बाद सभी लोकतंत्रीय और जनवादी क्रांतिकारियों ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत का समर्थन किया है।

बेंथम और आस्टिन ने लाक के राजनीतिक संप्रभुता के सिद्धांत और रूसो के लोकप्रिय संप्रभुता के विचार को अस्वीकार करते हुए वैधानिक संप्रभुता संबंधी हाब्स की धारणा को नया रूप देकर उसे लोकतंत्रीय राजनीतिक प्रणाली के अनुकूल बनाया। उनके अनुसार वैधानिक संप्रभुता किसी भी निर्धारित व्यक्ति या व्यक्तियों की संस्था में निहित की जा सकती है। इस व्यक्ति या संस्था की आज्ञाओं का सभी नागरिक और समुदाय स्वाभाविक रूप से पालन करते हैं। इस संप्रभु के आदेश ही कानून हैं। संप्रभु और नागरिकों को मिलाकर ही राज्य बनता है। संप्रभु की सत्ता असीमित, स्थाई, अदेय और अविभाज्य है। ब्रिटेन में यह संप्रभुता राजा तथा संसद में निहित है किंतु राजा केवल नाममात्र का और संसद वास्तविक संप्रभु है।

संप्रभुता की परिभाषाएं

बोदा ने संप्रभुता की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह 'नागरिकों और प्रजाजनों के ऊपर ऐसी सर्वोपरि शक्ति है जिस पर कानून का कोई नियंत्रण नहीं है।' ग्रोशयस का कथन है कि संप्रभुता किसी व्यक्ति में निहित वह सर्वोपरि राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य किसी दूसरे के आधीन न हों जिसकी इच्छा को कोई दूसरा न बदल सके।' जेलिनेक के अनुसार : 'संप्रभुता राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या बाह्य शक्ति के आदेश का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है।' बर्जेस के अनुसार संप्रभुता 'प्रत्येक नागरिक और उसके समुदायों पर राज्य की मौलिक, निरंकुश और असीमित शक्ति है।' बिलोबी के अनुसार 'संप्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा है।' पोलक संप्रभुता की व्याख्या करते हुए कहते हैं : 'संप्रभुता वह शक्ति है जो न तो क्षणिक है, न प्रदत्त है, न ऐसे नियमों के अधीन है, जिन्हें वह बदल न सके और न इस धरती पर वह किसी अन्य सत्ता के प्रति उत्तरदायी है।'

लास्की का कहना है : 'आधुनिक राज्य एक संप्रभु राज्य है। यह अन्य जनसमुदायों के सामने स्वतंत्र होता है।' उनके अनुसार संप्रभुता की संकल्पना भ्रांतिमूलक है और राजनीतिविज्ञान में उसका कोई उपयोग नहीं है। हां, वह वैधानिक धारणा के रूप में ठीक मानी जा सकती है। दुग्वी, जो लास्की की तरह ही संप्रभुता की धारणा को भ्रांतिमूलक मानते थे, कहते है कि संप्रभुता का अर्थ 'राज्य की उस शक्ति से है जिसके बल पर राज्य आदेश देता है। यह राज्य के रूप में सुसंगठित राष्ट्र की इच्छा है। यह राज्य के भूभाग में बसे सभी व्यक्तियों से बिना शर्त आज्ञापालन कराने का अधिकार है।'

मैकीवर संप्रभुता के तीन अंग मानते हैं : सामान्य इच्छा, अंतिम संप्रभुता और विधायी संप्रभुता। उनके अनुसार संप्रभुता का सारांश निर्णायक परिस्थिति में बलप्रयोग करने की शक्ति है। सोल्टाऊ के अनुसार भी संप्रभुता राज्य की अंतिम कानूनी दमनकारी शक्ति है। बहुलवादी लेखकों बार्कर, मैकीवर और लास्की के अनुसार राजनीतिक दृष्टि से राज्य को संप्रभुतासंपन्न नहीं माना जा सकता है। अन्य समुदायों की तुलना में उसकी सर्वोपरिता केवल कानून के दायरे मे या बलप्रयोग की स्थिति में स्वीकृत होती है। दैनिक राजनीतिक जीवन में यह आवश्यक नही कि किसी समुदाय और राज्य की इच्छा में अंतर होने पर प्रत्येक स्थिति मे राज्य की इच्छा ही सर्वोपरि सिद्ध हो।

आस्टिन की परिभाषा और सिद्धांत : आस्टिन परंपरागत संप्रभुता के सिद्धात के मुख्य प्रतिपादक माने जाते हैं। वे राज्य तथा संप्रभुता की परिभाषा इस प्रकार करते है : 'यदि कोई निर्दिष्ट श्रेष्ठतर व्यक्ति, जो उसी प्रकार के किसी अन्य व्यक्ति की आज्ञाओं के पालन करने का आदी नही है और जिसकी आज्ञाएं समाज के अधिकांश लोग स्वाभाविक रूप से मानते है, तो वह व्यक्ति उस समाज का सप्रभु है और वह समाज संप्रभु को मिलाकर एक राजनीतिक और स्वतंत्र समाज है।' कानून ऐसे संप्रभु की आज्ञा है। कानून की संहिता उन नियमों का संकलन है जिसे राजनीतिक रूप से श्रेष्ठतर व्यक्ति या व्यक्तियों की संस्था राजनीतिक रूप से अपने आधीन नागरिकों या प्रजाजनों के लिए निर्माण करती है।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार राज्य की सप्रभुता के निम्नलिखित लक्षण है :

1. संप्रभुता निर्दिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों की संस्था मे निहित होती है। यह राजा या संसद मे निहित हो सकती है, किंतु संविधान, लोकमत या सामान्य इच्छा जैसी अनिश्चित वस्तु में निहित नहीं हो सकती।

2. संप्रभुता दूसरों को आदेश देने और दूसरों से आज्ञापालन कराने की शक्ति है। इस शक्ति पर आंतरिक या बाहरी नियंत्रण नहीं है। सभी नागरिक और समुदाय स्वाभाविक रूप से संप्रभु की आज्ञाओ का पालन करते है।

3. कानून संप्रभुता के आदेश है। रीति-रिवाज संप्रभु की अनुमति से ही कानून का दरजा प्राप्त करते हैं। पुराने कानूनों मे परिवर्तन करना या बिलकुल नए कानूनों का निर्माण संप्रभु का विशेषाधिकार है। अंतर्राष्ट्रीय कानून और संधिया उसी सीमा तक कानून हैं, जिस सीमा तक कोई संप्रभु राज्य उन्हें अपनी इच्छा से स्वीकार कर ले।

4. राज्य की वैधानिक संप्रभुता का अर्थ है कि राज्य आवश्यकता पडने पर अपने आदेशों का पालन कराने के लिए सैनिक बल का प्रयोग कर सकता है और यह बलप्रयोग कानून के अनुकूल समझा जाएगा। राज्य में किसी अन्य समुदाय को बलप्रयोग का कानूनी अधिकार नही है।

आस्टिन की संप्रभुता संबंधी धारणा में शक्ति को ही उसका आधारभूत तत्व स्वीकार किया गया है। उनके विचार में आदर्शवादी आलोचकों के अनुसार औचित्य, कानून या न्याय आदि का संप्रभुता के सिद्धांत में कोई स्थान नहीं है। रूसो 'इच्छा' और 'सहमति' पर जोर देते हैं तो आस्टिन 'आज्ञापालन' और 'बलप्रयोग' पर। बोसांके के विचार के

अनुसार भी आस्टिन का सिद्धांत एकमात्र शक्ति पर आधारित है, जबकि आदर्शवादी लोकसम्मति को संप्रभुता का आधार समझते हैं। टी एच ग्रीन ने रूसो और आस्टिन की धारणाओ में सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया है। ग्रीन की मान्यता है कि आस्टिन का विचार ठीक है कि प्रभुसत्ता एक ऐसे निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों में निहित होती है, जिसमें कानूनों को लागू करने और नागरिको द्वारा उनका पालन की सामर्थ्य होती है और जिस पर कोई कानूनी नियंत्रण नही होता। इसके विपरीत रूसो ने प्रभुसत्ता का निवास एक अस्पष्ट लोकसम्मति मे बताकर उसकी संकल्पना को निरर्थक और भ्रांतिपूर्ण बना दिया है। हां, रूसो का यह कथन सत्य है कि प्रभुसत्ता की आज्ञाओं के पालन का मुख्य आधार भय नहीं है बल्कि यह विचार है कि आज्ञापालन लोकहित के लिए जरूरी है और वैयक्तिक हित लोकहित में ही शामिल है। संप्रभु की आज्ञा इसलिए मानी जाती है क्योकि जनता उसे सामान्य हित के उद्देश्य से प्रेरित मानती है। प्रभुसत्ता केवल दबाव डालने की शक्ति के उपयोग पर आधारित नही होती। ग्रीन के अनुसार 'सामान्य हितों के संबंध में जनता की सुनिश्चित धारणाओं के साथ समन्वय ही तो अंतिम रूप से उसकी शक्ति का आधार है।'[4]

आस्टिन की संकल्पना की आलोचना : सर हेनरी मेन का कथन है कि आस्टिन जिस 'निर्दिष्ट श्रेष्ठतर मनुष्य' की चर्चा करते हैं, पूर्व के अनेक साम्राज्यों में वह कहीं भी दिखाई नही पड़ता। उदाहरण के लिए पंजाब के सिखराज्य के शासक रणजीत सिंह निरंकुश शासक थे परंतु वे भी समाज की परंपराओ और रीति रिवाजों से बंधे हुए थे। कोई भी 'निश्चित व्यक्ति या सस्था' प्रथाओं का निर्माण नही करती। इसलिए जिस प्रभुसत्ता की चर्चा आस्टिन करते हैं वह राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है। यह कहना व्यर्थ है कि अगर कही आस्टिन की कल्पना का संप्रभु नही है, तो वहां अराजकता है या प्राकृतिक अवस्था है।

ब्रिटेन मे एक निर्दिष्ट श्रेष्ठतर व्यक्ति या संस्था प्रभुसत्ता का उपयोग अवश्य करती है परंतु संयुक्त राज्य अमरीका या अन्य किसी संघीय व्यवस्था में आस्टिन की संकल्पना का संप्रभु निर्धारित करना असभव है। संघीय व्यवस्था में प्रभुसत्ता संविधान में निहित होती है, जो निर्दिष्ट व्यक्ति या व्यक्ति समूह नही है।

आस्टिन का सिद्धांत अमूर्त और बिलकुल वैधानिक है और इसमें प्रभुसत्ता के दार्शनिक या नैतिक पक्ष पर विचार नहीं किया जाता। गार्नर का कथन है कि इस सिद्धांत के अनुसार प्रभुसत्ता का सामान्य इच्छा, जनमत, जनता, निर्वाचक मंडल, नैतिक भावना, राजनीतिक प्रभाव आदि से कोई सरोकार नहीं है।[5]

इस सिद्धात मे एक विसंगति यह भी है कि यदि नागरिक स्वाभाविक रूप से प्रभुसत्ता के आदेशों का पालन करते हैं तो उसे वैधानिक रूप से असीमित घोषित करने की क्या आवश्यकता है। या तो यह माना जाए कि लोग स्वभावत: संप्रभु के आदेशो का उल्लंघन करना चाहते हैं। इसीलिए उसे असीमित शक्ति की वैधानिक रूप से जरूरत है। या यदि आज्ञापालन मनुष्यो का स्वभाव है तो संप्रभु को वैधानिक निरंकुशता का दावा करने की कोई जरूरत नही है।

आस्टिन की यह मान्यता कि संप्रभु के आदेश ही कानून है, सही नही है। प्रत्येक समाज में आदेशात्मक कानूनों के अलावा अनेक परंपराओं और रीति-रिवाजों का पालन किया जाता है। क्या ये प्रथाएं आदेश हैं ? आस्टिन का कथन है कि प्रथाएं संप्रभु की अनुमति से ही प्रचलित रहती हैं और यह अनुमति भी आदेश ही है। ब्रिटेन के सामान्य कानून का अस्तित्व प्रथाओं पर ही है, जिनकी व्याख्या न्यायालयों ने की है। वस्तुत: ससद बिना अपनी स्थिति को खतरे में डाले सामान्य कानून में मनमाना संशोधन नही कर सकती। अत: आस्टिन के सिद्धांत की गलती यह है कि वे सभी कानूनों को आदेश मान लेते हैं और ऐसे कानूनों पर ध्यान नही देते जो प्रथाओं पर आधारित होने की वजह से आदेशात्मक नही है।

दूग्वी तो यह भी कहते हैं कि राज्य कानूनों को नहीं बनाता बल्कि कानून ही राज्य का निर्माण करता है। उनके अनुसार 'कानून तो केवल सामाजिक जरूरतों की अभिव्यक्ति है।' लास्की का कथन है कि कानूनशास्त्र के लेखकों का यह दावा कि प्रत्येक कानून आज्ञा है, शिष्टता की सीमा का उल्लंघन कर जाता है। उदाहरणार्थ मताधिकार के कानून को या विधवाविवाह कानून को संप्रभु की आज्ञा नही माना जा सकता क्योंकि यह कानून प्रत्येक मतदाता को वोट देने को या प्रत्येक विधवा को पुनर्विवाह करने का आदेश नहीं दे सकता, जिसका पालन अनिवार्य माना जाए।

संप्रभुता को प्रत्येक स्थिति में अविभाज्य नही समझा जा सकता। संघीय राज्य मे शक्तियों का विभाजन एक प्रकार से प्रभुसत्ता का ही विभाजन है, क्योंकि कुछ निर्दिष्ट विषयों पर संघ और राज्यों का एकमात्र अधिकार होना सिद्ध करता है कि अपने अपने अधिकार क्षेत्र मे दोनों ही प्रभुसत्ता का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार लार्ड के शब्दों में ब्रिटेन मे तीन सप्रभु है—सम्राट और मन्त्रिमडल कार्यपालक संप्रभु हैं, संसद विधायी संप्रभु है तो सर्वोच्च न्यायालय के रूप मे काम करनेवाले न्यायाधीश न्यायिक संप्रभु है। आस्टिन का उत्तर यह है कि राज्य मे कार्यों और शक्तियों का विभाजन सर्वोच्च शक्ति का विभाजन नही है। संघीय व्यवस्था में सर्वोपरि शक्ति केंद्र के पास रहती है। ब्रिटेन मे संसद विधायी संप्रभु होने के कारण न्यायालयो और मंत्रिमंडल से ऊपर है।

संप्रभुता के विशेष गुण : संप्रभुता की पहली विशेषता उसकी असीमितता या निरंकुशता है। यह असीमितता आतरिक तथा बाह्य दोनों क्षेत्रो में लागू होती है। राज्य के अंदर रहने वाले सभी व्यक्तियो और समुदायो को संप्रभु के अधीन माना जाता है। संप्रभु स्वयं अपनी शक्ति की सीमाएं निर्धारित कर सकता है, जिन्हे वह स्वय वैधानिक तरीके से हटा सकता है। गेटेल का कथन है कि अपरिवर्तनीय कानून एक वैधानिक असंभवता है।[6] राज्य की बाह्य संप्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य पर दूसरे राज्य न तो किसी प्रकार का दबाव डाल सकते हैं और न उसकी नीतियों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सकते हैं। राज्य अपनी इच्छा के अनुसार संधिया, युद्ध इत्यादि कर सकता है। अंतर्राष्ट्रीय समझौते ऐच्छिक होते है। किसी संप्रभु राज्य को उन्हें सदा मानने के लिए मजबूर नही किया जा सकता। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या ही कर सकते, उसे कार्यान्वित नही कर सकते। संयुक्त राष्ट्र संघ की

सदस्यता से भी राज्य की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण नहीं होता।

संप्रभुता की दूसरी विशेषता अविभाज्यता है। यह उसकी निरंकुशता या असीमितता का परिणाम है। गेटेल का कथन है, 'यदि संप्रभुता निरंकुश नहीं है, तो वहां किसी राज्य का अस्तित्व भी नहीं माना जा सकता, यदि संप्रभुता खंडित है तो वहां एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व हो जाता है।'[7] संप्रभुता को खंडित करना उसको नष्ट करने के बराबर है। अमरीकी संविधान की मिसाल देते हुए लार्ड ब्राइस कहते हैं कि वैधानिक संप्रभुता 'दो संबद्ध समशक्तियों में विभाजित की जा सकती है।' लावेल का भी मत है कि, 'एक ही भूभाग में ऐसे दो संप्रभुओं की स्थिति संभव है, जो एक ही प्रजावर्ग को भिन्न भिन्न विषयों पर अपने अपने पृथक आदेश देते हों।' संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय द्वारा अधिकारक्षेत्र के बंटवारे को संप्रभुता का बंटवारा माना था। इसके विपरीत कैल्हून का विचार है कि संप्रभुता एक अविभाज्य इकाई है जो कुछ मामलों में राष्ट्रीय सरकार एवं कुछ अन्य मामलों में राज्य सरकारों द्वारा अपने को अभिव्यक्त करती है। जिस तरह आधे त्रिभुज की कल्पना असंगत है, उसी तरह आधी संप्रभुता की कल्पना भी हास्यास्पद है। अतः अधिकारक्षेत्र का विभाजन सर्वोच्च सत्ता का विभाजन नहीं है।

प्रभुसत्ता की तीसरी विशेषता अदेयता है। एक अमरीकी लेखक लीबर के अनुसार जिस प्रकार वृक्ष अपने उगने के अधिकार को और मनुष्य अपने शारीरिक एवं चरित्र के विकास के अधिकार को अपना विनाश किए बिना छोड़ नहीं सकता। उसी प्रकार कोई राज्य भी अपना विनाश किए बिना अपनी प्रभुसत्ता त्याग नहीं सकता। एक राज्य जब अपने भूभाग का कुछ अंश किसी दूसरे राज्य को देता है, तो पहले राज्य की भूभाग के उस अंश पर प्रभुसत्ता भी समाप्त हो जाती है। इसके बावजूद शेष प्रदेश पर उसकी संप्रभुता पूर्ववत बनी रहती है। हाब्स, रूसो, आस्टिन आदि लेखक संप्रभुता की अदेयता के सिद्धांत के समर्थक हैं।

सार्वभौमिकता प्रभुसत्ता की चौथी विशेषता है। प्रभुसत्ता राज्य के अंतर्गत सभी समुदायों, व्यक्तियों और वस्तुओं पर सर्वोच्च अधिकार का दावा करती है। वह इच्छानुसार अपने अधिकारक्षेत्र का विस्तार घटा-बढ़ा भी सकती है। परंतु कोई मनुष्य या संस्था संप्रभुता के प्रभाव या नियंत्रण से अपने अधिकारक्षेत्र को मुक्त नहीं रख सकता। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं भी जिस राज्य में कार्य करती हैं, वहां वे उस राज्य की संप्रभुता के अधीन रहकर ही कार्य कर सकती हैं। गिलक्राइस्ट के अनुसार दूसरे राज्यों के राजदूतावास ही इस नियम के अपवाद समझे जा सकते हैं।[8]

संप्रभुता की पांचवीं विशेषता स्थायित्व है। जब तक राज्य का अस्तित्व कायम रहता है। संप्रभुता का अस्तित्व भी कायम रहता है। संप्रभुता उतनी ही स्थाई है जितना कि स्वयं राज्य क्योंकि संप्रभुता के नाश के बाद राज्य भी अपना अस्तित्व खो बैठता है। किसी राजा, रानी, प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति की मृत्यु या पदच्युति या सरकार के त्यागपत्र का अर्थ संप्रभुता की समाप्ति नहीं है। संप्रभुता तुरंत उनके बाद सत्तारूढ़ शासक या सरकार में निहित हो जाती है। शासन के परिवर्तन से राज्य और उसकी संप्रभुता के

आशीर्वादम का विचार है : 'लोकमत, लोकसम्मति, निर्वाचकों की इच्छाएं, क्रांति की संभावनाएं आदि सभी वैधानिक संप्रभु के निश्चयों पर असर डालती हैं। लेकिन न तो वे वैधानिक संप्रभु की भांति निश्चित होती हैं और न संगठित ही। एक सुव्यवस्थित राज्य के लिए आवश्यक है कि उसमे वैधानिक संप्रभु की सर्वोच्च सत्ता हो जिसकी आज्ञाओं का पालन अधिकांश नागरिक स्वभावतः करते हों। साथ ही साथ जनता द्वारा मनोवांछित परिवर्तनों को कानूनी तरीकों से लागू करने के लिए, जहां तक संभव हो, अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिए।'[10]

'लोकप्रिय संप्रभुता' से हमारा तात्पर्य ऐसी शक्ति से है जो आम जनता में निहित है। यह सिद्धांत राजनीतिक संप्रभुता का स्वाभाविक विकास है। इसका प्रतिपादन मध्य युग में मार्सिलिओ आफ पदुआ और विलियम आफ आकम ने किया। फ्रांस की राज्यक्रांति के पूर्व रूसो ने भी अपनी विचारधारा का आधार बनाया। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी की क्रांतियों में क्रांतिकारियों ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत का उपयोग सत्ताविरोधी कार्यों के लिए किया। वैधानिक संप्रभु अगर जानबूझकर लगातार जनता की आकांक्षाओं को दबाए तो वह ज्यादा समय तक कायम नहीं, रह सकता। अंत में जनता बलप्रयोग द्वारा वैधानिक संप्रभु को हटा कर नया शासन स्थापित कर सकती है।

राजनीतिविज्ञान में लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत को अस्वीकार करने का मुख्य कारण यह है कि यह व्यवस्थाविरोध का औचित्य सिद्ध करती है जब कि अधिकांश लेखक व्यवस्थापरिवर्तन के विरोधी और रूढ़िवादी होते हैं। आशीर्वादम के अनुसार यह सिद्धांत अनिश्चित और भ्रामक है और राजनीतिक संप्रभुता की सभी आलोचनाएं इस पर भी लागू होती हैं। लोकप्रिय संप्रभुता की परिभाषा करते समय 'जनता' शब्द के दो अर्थ किए जाते हैं—निर्वाचक-समुदाय और असंगठित अनिर्धारित समस्त जनता। गार्नर का कथन है : 'असंगठित लोकमत चाहे कितना बलवान क्यों न हो वह उस समय तक संप्रभु नहीं बन सकता जब तक उसे कानूनी रूप न दे दिया जाए।' व्यावहारिक दृष्टिकोण से लोकप्रिय संप्रभुता का अर्थ शांतिकाल में 'लोकमत' और युद्ध या अशांति के समय क्रांति की शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

परिभाषा संबंधी वादविवाद के बावजूद लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा में कुछ महत्वपूर्ण विचार अंतर्निहित है। ये विचार इस प्रकार हैं। राज्य का अस्तित्व जनता के कल्याण के लिए है। सरकार को लोकमत के अनुसार कार्य करना चाहिए। यदि वह जनता की आकांक्षाओं की अवहेलना करेगी, तो क्रांति की संभावना बढ़ जाएगी। समय पर चुनाव, लोकमतसंग्रह, उपक्रम, प्रत्यावर्तन इत्यादि तरीकों से जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति लाभदायक है। शासकों को संविधान के प्रति आदर की भावना रखनी चाहिए और स्वेच्छाचारी नीति नहीं अपनानी चाहिए।

'वैध या औचित्यपूर्ण' (डि-जुरे) संप्रभुता से हमारा तात्पर्य ऐसी सर्वोच्च शक्ति से है जो जायज तरीके से अस्तित्व में आई हो। इसे कानूनी, जायज या वैध संप्रभुता कहते हैं। वास्तविक (डी-फैक्टो) संप्रभुता से हमारा तात्पर्य ऐसी सर्वोपरि शक्ति से है जो अनुचित, गैरकानूनी या अवैध तरीके से राज्यशक्ति पर कब्जा कर ले। ऐसी संप्रभुता

बार्कर का विचार है कि कोई भी राजनीतिक धारणा आज इतनी निर्जीव और निरर्थक नहीं हो गई, जितनी की संप्रभुता की धारणा। लिंडसे का भी यही मत है कि राज्य के संप्रभुता के सिद्धात की उपयोगिता खत्म हो चुकी है। लास्की ने 'ग्रामर आफ पालिटिक्स' में यही सुझाव दिया कि संप्रभुता के सिद्धांत को राजनीतिविज्ञान से निकाल देना ही लाभदायक है।

राज्य की संप्रभुता की तीन आधारों पर आलोचना की गई। पहला आधार 'समुदायों की स्वायत्तता' तथा राज्य को एक समुदाय मान लेना है। पहले आधार के अनुसार यह माना जाता है कि राज्य समाज के अन्य समुदायो से न तो श्रेष्ठतर है और न ही प्राथमिक। इसलिए संप्रभुता का विभाजन सभी संघो के मध्य हो जाना चाहिए। दूसरा आधार अतर्राष्ट्रीय समाज की धारणा से प्रेरित है। जहां तक एक राज्य का अन्य राज्यों मे संबंध है, वह न तो पूर्ण स्वतंत्रत है और न पूर्ण स्वतंत्रता राज्य और मनुष्य समाज के लिए उपयोगी है। आलोचना का तीसरा आधार वे विधिवेत्ता प्रस्तुत करते हैं, जो राज्य को कानून की रचना समझते है और कानून को राज्य से ऊपर मानते हैं।

समुदायों की स्वायत्तता : एफ डब्लू कोकर का मत है : 'बहुलवादियों का विश्वास है कि मनुष्य के सामाजिक स्वभाव की अभिव्यक्ति विभिन्न समुदायों में कार्य करने से होती है। इन समुदायों के लक्ष्य धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक आदि होते हैं। इनमे से कोई भी एक समुदाय नैतिक या व्यावहारिक दृष्टि से एक दूसरे समुदाय से श्रेष्ठतर नही है' अतः बहुलवादी विचारक मांग करते हैं कि सभी समुदायों को राज्य के समकक्ष दरजा मिलना चाहिए। उनके अनुसार न तो राज्य सर्वव्यापी है और न ही सर्व शक्तिमान और यदि वह ऐसा दावा करता है तो हमें उसका यह दावा असत्य सिद्ध करने का प्रयास करना चाहिए।

बहुलवादी लेखक मध्ययुग की गिल्ड व्यवस्था से प्रेरणा लेते हैं। उस समय की सामंती व्यवस्था में शिल्पी और व्यापारी गिल्ड संगठन के माध्यम से अपना व्यवसाय चलाते थे और धीरे धीरे सामंती प्रभुत्व से आजाद हो गए थे। राष्ट्रीय राजतंत्रों की स्थापना और आधुनिक ढंग के व्यापारिक और औद्योगिक संगठनों के निर्माण के कारण गिल्ड व्यवस्था का पतन हो गया। जर्मनी में गियार्क और ब्रिटेन में मेटलेंड इस मध्ययुगीन शिल्पसंगठनों से बहुत प्रभावित हुए और आधुनिक काल में ऐसे संगठनों और निगमों की स्थापना की मांग करने लगे। इन लेखकों का विचार है कि समुदायों और निगमों की अपनी चेतना और अपनी इच्छा होती है और समुदायों की यह चेतना और इच्छा सदस्यों की वैयक्तिक चेतना और इच्छा से भिन्न होती है। ये समुदाय भी कानूनों के निर्माण में भाग लेते हैं। गियार्क और मेटलेंड राज्य को ही एकमात्र कानूनों का स्रोत नहीं मानते। वे राज्य की व्यावहारिक सर्वोपरिता को तो अस्वीकार करते हैं, किंतु उसकी कानूनी दृष्टि से उच्चतर स्थिति को मानते हैं। उनके अनुसार राज्य का कार्य समुदायों के विवादों पर निर्णय देना और उनमें संतुलन रखने तक ही सीमित रहना चाहिए।

समुदायों के 'वास्तविक व्यक्तित्व' के सिद्धांत का समर्थन फिगिस भी करते हैं और चर्च का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। चर्च में एक व्यक्ति की भांति ही आत्मविकास की

सामर्थ्य होती है। उसका संस्थानात्मक चरित्र न तो राज्य ने उसे दिया है और न ही वह उससे छीन सकता है। फिजिस के अनुसार संप्रभुता का पारंपरिक सिद्धांत एक अंध-विश्वास है। वे कहते हैं: मानव-समाज व्यक्तियों का कोई ऐसा रेत का ढेर नहीं, जो केवल राज्य द्वारा एकत्रित किया गया हो; बल्कि समाज में तो नीचे से लेकर ऊपर तक क्रमश: एक के बाद एक अनगिनत समुदाय होते हैं। इसी प्रकार के विचार दुर्खाइम तथा पाल बोंकूर ने आर्थिक और व्यावसायिक समुदायों के लिए प्रस्तुत किए हैं।

हेरोल्ड लास्की ने भी एक ऐसी बहुलवादी व्यवस्था का अनुमोदन किया है जिसमें धार्मिक, आर्थिक, व्यावसायिक और सांस्कृतिक समुदायों को स्वायत्त शासन के पूर्ण अधिकार प्राप्त हों और राज्य को एकमात्र अनिवार्य समुदाय और मनुष्यों के सार्वजनिक हितों का एकमात्र प्रतिनिधि न माना जाए। लास्की का मत है: 'निरंकुश और अनुत्तर-दायी राज्य का सिद्धांत मानवता के हितों से मेल नहीं खाता। जिस प्रकार राजा-रानियों के दैवी अधिकार आज समाप्त हो गए, उसी प्रकार, लास्की के विश्वास के अनुसार, आजकल प्रचलित संप्रभुता की धारणा भी निकट भविष्य मे विलीन हो जाएगी। लास्की संप्रभुता की धारणा को वैधानिक शब्द जाल मानते हैं। वे राज्य को एक मजदूर संघ से अधिक महत्व नहीं देते और राज्य की वर्तमान संप्रभुता को सामाजिक समुदायो मे बांट देना चाहते हैं। वे भी राज्य के कार्यों को समुदायों के बीच सामंजस्य स्थापित करने तक सीमित रखना चाहते हैं। राज्य को सर्वाधिकारी बनने का प्रयास नही करना चाहिए। सभी समुदायों के अधिकार क्षेत्रों का निर्धारण होना चाहिए और राज्य को समुदायों के अधिकार क्षेत्रों के अंतर्गत हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं मिलनी चाहिए। सत्ता का विभाजन संघीय सिद्धांत के आधार पर किया जाना चाहिए। लास्की के अनुसार संघीयता एक क्षेत्रीय धारणा ही नही बल्कि एक सामाजिक और आर्थिक धारणा भी है।

लास्की चाहते हैं कि उत्पादकों को स्थानीय और राष्ट्रीय संगठनों में सुसंगठित होना चाहिए। सरकार को इन संगठनों को कानून बनाने तथा उन्हें कार्यान्वित करने की प्रक्रिया में उचित भूमिका प्रदान करनी चाहिए। फिर भी वे जी डी एच कोल की तरह आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्षेत्र के विभाजन का समर्थन नही करते। अपनी पुस्तक 'ग्रामर आफ पालिटिक्स' में लास्की आर्थिक समुदायों को केवल परामर्श देने का अधिकार देते हैं और निर्णयकारी शक्ति राजनीतिक शासकों और अधिकारियों मे ही निहित रहती है। लास्की के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि वे अपने चिंतन के तीसरे चरण मे बहुलवादी विचारधारा मे दूर हटकर मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हो गए और उन्होंने राज्य की संप्रभुता के सिद्धांत की आलोचना बंद कर दी।

मैकीवर भी एक महत्वपूर्ण बहुलवादी विचारक हैं। अपनी पुस्क 'माडर्न स्टेट' में उन्होंने भी बहुलवादी संकल्पना के प्रति अपना लगाव प्रदर्शित किया है। वे भी राज्य को अन्य समुदायों के समकक्ष दरजा देते हैं। यद्यपि राज्य के कुछ कार्य समुदायों के कार्यों से मौलिक रूप से भिन्न हैं, तो भी उसे अन्य संस्थाओं की तुलना में ऊंचे [illegible] विठाना उचित नहीं है। राज्य में वे सभी गुण होते हैं जो किसी सुसंगठित संस्था

हैं। राज्य की सीमाएं, उसकी शक्तियां और उसके उत्तरदायित्व सभी निर्धारित होते हैं। संस्था के रूप में राज्य के भी अधिकार और कर्तव्य होते हैं। इसी प्रकार समाज की अन्य सभी संस्थाएं समाज के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितना कि स्वयं राज्य। इसलिए राज्य को अन्य सभी संस्थाओं का निर्माता मान लेना ठीक नहीं है।[11]

यह सही है कि राज्य व्यक्तियों और समुदायों के कल्याण के लिए बना है, परंतु सभी लोककल्याण के कार्य राज्य की परिधि के अंतर्गत नहीं आते। सैकड़ों सांस्कृतिक और आर्थिक समुदाय भी लोककल्याण के कार्यों में लगे हुए है। राज्य को उन्हे ऐसा करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है और न अन्य संस्थाओं के स्वीकृत कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। केवल अंतिम रूप से, मैकीवर के शब्दों में, राज्य का वास्तविक कर्तव्य सामाजिक संबंधो की संपूर्ण व्यवस्था में संतुलन तथा एकता स्थापित करना है।

मैकीवर भी संप्रभुता के संबंध में आस्टिन की वैधानिक धारणा को गलत और राज्य के रूप के विश्लेषण करने में असमर्थ मानते हैं। उनका मत है कि यह सिद्धांत केवल औपचारिक है जिसका तथ्यों से कोई संबंध नहीं है। कानूनी तौर पर राज्य निरंकुश है क्योंकि वह स्वयं कानून के निर्माण का स्रोत है। यही बात धार्मिक नियमों के संबंध में चर्च के विषय में कही जा सकती। राज्य जिस तरह धार्मिक नियमों का स्रोत नहीं, उसी तरह चर्च राजनीतिक कानूनों का स्रोत नही। परंतु इस आधार पर हम न तो राज्य को चर्च से या चर्च को राज्य से उच्चतर मान सकते है।

संप्रभुता की वैधानिक धारणा मे, मैकीवर के अनुसार, दूसरी त्रुटि यह है कि इसमें राज्य की शक्ति और अधिकारों पर एकांगी रूप से जोर दिया जाता है और यह भुला दिया जाता है कि आधुनिक राज्य जनता के कल्याण और सेवा के लिए बना है। सेवा और कल्याण ही राज्य का प्रमुख लक्ष्य है। शक्ति या बल का प्रयोग तो सेवा और कल्याण के कार्यों को करने के लिए ही होना चाहिए। फिर राज्य की सेवाएं भी असीमित नहीं हैं क्योंकि अनेक समुदाय सेवाकार्य में राज्य के प्रतिस्पर्धी है। इसलिए निरंकुश और असीमित संप्रभुता का सिद्धांत एक खतरनाक झूठ से अधिक कुछ नहीं है।[12]

मैकीवर तथा लास्की का विचार है कि सामाजिक समुदायों पर राज्य का नियंत्रण उसी सीमा तक होना चाहिए जितना नियंत्रण नागरिक राज्य को देने के लिए सहमत हों। बार्कर तथा लिंडसे की भांति लास्की और मैकीवर मानते हैं कि राज्य के व्यक्तित्व की धारणा तर्कसंगत नहीं है और यही बात वे सामाजिक समुदायो के बारे में भी कहते है। 'समुदायचेतना' या 'समुदाय की इच्छा' भी उसी तरह की कल्पना है जिस तरह रूसो और हीगल ने 'राज्यचेतना' या 'राज्य की इच्छा' की कल्पना कर ली है।

लास्की तथा मैकीवर के अनुसार राज्य तो 'समुदायों का समुदाय' है जिसकी सदस्यता हर नागरिक के लिए अनिवार्य है जबकि अन्य समुदायो की सदस्यता वैकल्पिक होती है। परंतु लिंडसे, लास्की और मैकीवर का विचार है कि अनिवार्य सदस्यता की विशेषता की वजह से ही हम राज्य की संप्रभुता के सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकते। बार्कर की भांति ही लास्की और मैकीवर दुग्वी तथा क्रैब के इस दावे को स्वीकार करते हैं कि राज्य से पहले भी समाज में स्थाई समुदाय विद्यमान थे और इनका अपना निश्चित

चरित्र तथा कार्यक्षेत्र था। मैकीवर, लास्की तथा बार्कर का मत है राज्य को चाहिए कि वह अपने और अन्य समुदायों के संबंधों को, समुदायों के आपसी रिश्तों को तथा समुदायों और उनके सदस्यों के संबंधों को संतुलित रखें। कानून के सम्मुख समुदायों के अधिकारों की समानता सुरक्षित रखने के लिए, राज्य की निरंकुशता से समुदायों को बचाने के लिए और समुदायों की निरंकुशता से वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए बहुलवादी सिद्धांत के अनुसार संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता है।

मिस फालेट ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तक 'दि न्यू स्टेट' में मैकीवर, लास्की आदि द्वारा प्रतिपादित बहुलवादी सिद्धात के निम्नलिखित गुण बताए है : बहुलवादियों ने सप्रभुता संपन्न राज्य की धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया। उन्होंने आज के सामुदायिक जीवन की विविधता और स्वायत्तता को राजनीतिक मान्यता देने का आग्रह किया। वे स्थानीय जीवन के जर्जर शरीर मे प्राण फूकने की माग करते हैं। वे मानते है कि राज्य और सामाजिक समुदायों के हित हमेशा एक जैसे नहीं होते। बहुलवादी असंगठित और असहाय जनता को सामुदायिक संगठनो के माध्यम से शक्ति प्राप्त करने का उपाय बताते है। उन्होंने राज्य, समुदाय और व्यक्ति के अधिकारों में सामंजस्य तथा संतुलन करने का रास्ता दिखाया है।

संप्रभुता और अंतर्राष्ट्रीयता : लास्की और मैकीवर का विश्वास है कि मानवता और विश्वशांति के हित में भी संप्रभुता को सीमित करना आवश्यक है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि संप्रभुतासंपन्न राज्यों की आपसी प्रतिस्पर्धा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शांति के लिए स्थाई खतरा है। लास्की का मत है : 'निश्चित रूप से एक ऐसे स्वतंत्र और सर्वशक्तिशाली राज्य की धारणा मानवता के हितों के विरुद्ध है, जो अपने सदस्यों से शासन के प्रति पूरी निष्ठा की मांग करता है और जो अपने बलप्रयोग से लोगों को वफादारी का सबक सिखाता है। हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि हम मानवता के हितों को ब्रिटेन के हितों के अनुकूल बनाएं; समस्या यह है कि हम किस प्रकार कार्य करें कि ब्रिटेन की नीतियों में ही मानवता का हित समाविष्ट हो जाए।'[13]

अंतर्राष्ट्रीय कानून के संबंध में मैकीवर का विचार है कि यद्यपि उसे अभी तक यथार्थ कानून का दर्जा नहीं मिला है और उसमें कानून भंग करने वाले के लिए दंड देने की कोई उपयुक्त व्यवस्था भी नहीं है, तो भी उसके पीछे अंतर्राष्ट्रीय जनमत की बहुत बड़ी शक्ति है। अब इस बात का प्रयास किया जा रहा है कि कुछ क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय कानून को यथार्थ कानून का रूप देकर दंडव्यवस्था का प्रावधान कर दिया जाए। मैकीवर बाह्य संप्रभुता के सापेक्ष रूप पर जोर देते हैं और अर्धसंप्रभु राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की मांग करते हैं। उनका विचार है कि राज्य को आंतरिक मामलों में स्वायत्तता मिलनी चाहिए पर बाहरी मामलों में स्वेच्छाचारी व्यवहार की अनुमति नहीं होनी चाहिए। राज्य को युद्ध छेड़ने के अधिकार से वंचित कर देना चाहिए। सयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र की दूसरी धारा के चौथे और सातवें अनुच्छेदों में और चौबीसवी धारा के पहले अनुच्छेद मे राज्यों की संप्रभुता पर प्रतिबंधों का उल्लेख है। परंतु इन प्रतिबंधों को कार्यान्वित करने की शक्ति अभी संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास नहीं है।

हेरोल्ड लास्की एवं मैकीवर बाह्य संप्रभुता पर की जाने वाली आपत्तियों को बहुलवादी सिद्धांत के अनुकूल मानते हैं। असीमित और निरंकुश बाह्य संप्रभुता को बनाए रखने की आलोचना वे इस प्रकार करते हैं : 'अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतंत्र संप्रभुता-संपन्न राज्य का सिद्धांत मानवकल्याण के लिए घातक है। एक राज्य को दूसरे राज्यों के साथ किस तरह रहना चाहिए, इसके निर्णय का अधिकार केवल उसी राज्य को नहीं दिया जा सकता।' राज्यों के पारस्परिक जीवन के विषय में अंतर्राष्ट्रीय समाज के सभी सदस्य-राज्यों में समझौते की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ अमरीका या ब्रिटेन के लिए स्वयं इस बात का निर्णय करना अनुचित है कि वे किस प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करेंगे या वे किस नस्ल के लोगों को अपने देशों में बसने और नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार देंगे। लास्की का कथन है : 'इन समस्याओं का प्रभाव सपूर्ण विश्व की जनता के जीवन पर होता है और उनकी व्यवस्था के लिए एक सुदृढ़ विश्व संगठन की स्थापना की जरूरत है। एक विश्व-राज्य में, उसका गठन चाहे जिस तरह से हो और उसमें चाहे जितना अधिक विकेंद्रीयकरण हो, अलग संप्रभुता के लिए कोई जगह नहीं है।'[11]

आशीर्वादम लास्की और मैकीवर के उपर्युक्त विचारों से सहमत है। उनके अनुसार बाह्य संप्रभुता उतनी आवश्यक नहीं जितनी कि आंतरिक संप्रभुता। अब वह समय आ गया है जब एक शक्तिशाली, निष्पक्ष और सर्वमान्य विश्व-संस्था स्थापित की जाय और सामान्य हितों के संबंध में उसके निर्णय को सभी राज्य बाध्यकारी मानें। 'लीग आफ नेशंस' और हेग न्यायालय इसी दिशा में उठाए गए पहले कदम थे। अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी दिशा में दूसरा कदम है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखा जाए तो विश्व-राज्य की संकल्पना व्यावहारिक नहीं मालूम पड़ती। आज संसार विचारधारा के आधार पर पूंजीवादी और साम्यवादी राज्यों में विभक्त है और आर्थिक विकास के आधार पर समृद्ध उत्तर के और निर्धन दक्षिण के राज्यों में बंटा है। एशिया, अफ्रीका, और लैटिन अमरीकी राज्य विश्व-राज्य के नाम पर अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता का अंत करने को राजी नहीं हो सकते क्योंकि विश्वराज्य के अंतर्गत उन पर महाशक्तियों का नियंत्रण और दबाव स्थापित हो जाएगा। महाशक्तियां ऐसे विश्व-संगठन की अधीनता स्वीकार नहीं करेंगी जिसमें दुनिया के बहुसंख्यक निर्धन देश और उसकी जनता को सही लोकतंत्रीय आधार पर निर्णय करने का अधिकार मिल जाए।

संप्रभुता और कानून : लास्की और मैकीवर के विचारों पर फ्रांस के विधानशास्त्री दुग्वी और हालैंड के विधिवेत्ता क्रैब के विचारों का भी प्रभाव पड़ा था। कोकर ने दुग्वी के विचारों को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि कानून राजनीतिक व्यवस्था से मुक्त, उससे श्रेष्ठतर और अधिक प्राचीन होता है। यह स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित न होकर सामाजिक तथ्यों और आवश्यकताओं पर निर्भर है। कानून के बिना सामाजिक बंधन और एकता संभव नहीं है। कानून सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं को ही परिलक्षित करता है। मनुष्य कानून को इसलिए मानते हैं क्योंकि वे उसे अपने समाज की दृढ़ता कायम रखने के लिए उपयोगी मानते हैं न कि इसलिए कि उन्हें किसी तथाकथित संप्रभुता-

संपन्न शक्ति ने उन पर आरोपित कर दिया है। उनका पालन नागरिक इसलिए करते हैं क्योंकि वे सर्वस्वीकृत सामाजिक नियमों और परंपराओं को अभिव्यक्त करते हैं। राज्य समाज द्वारा स्वीकृत नियमो को बल प्रदान करता है, वह उनका निर्माण नही करता। कानून राज्य को सीमित करता है, राज्य कानून को सीमित नही करता। इसलिए हमें राजनीतिविज्ञान में राज्य के कर्तव्यो पर जोर देना चाहिए न कि उसकी शक्ति पर। राज्य का मूलतत्व जनसेवा होना चाहिए न कि तथाकथित प्रभुसत्ता।

गेटेल का कथन है कि दुग्वी के बहुलवादी सिद्धात का मुख्य उद्देश्य विभिन्न सामाजिक समुदायों की स्वतंत्रता स्थापित करना नही है बल्कि राज्य के समाज के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धात पर जोर देना है। दुग्वी सामाजिक एकता और दृढ़ता के आधार पर ऐसा नैतिक समाज स्थापित करना चाहते है, जिसमे राज्य को अपने कार्यों के लिए न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी बना दिया जाता है और न्यायालय संप्रभु द्वारा निर्मित कानूनों के स्थान में समाज द्वारा सर्वस्वीकृत कानूनों को न्याय का आधार मानते हैं। क्रैब के विचार भी दुग्वी के विचारों से मिलते-जुलते हैं। उनका कथन है: 'राज्य एक कानूनी समाज से अधिक कुछ नही है; वह मानव-समाज का एक ऐसा अंग है, जिसकी कानूनी संबंधों की अपनी स्वतंत्र व्यवस्था है। इसलिए राज्य कुछ हितों को कानूनी चरित्र देने के अलावा कोई अन्य कार्य नही करता।' वे इसी विचार को अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करना चाहते है और कहते है कि अतर्राष्ट्रीय समाज को सप्रभुता की मनोभावना से ऊपर उठकर प्रगति करनी होगी। क्रैब के सिद्धात का सारांश राज्य को एक कानूनी संस्था के रूप मे संकुचित कर देना और न्यायालय को समाज मे उच्चतम आसन देना है। क्रैब, दुग्वी, लास्की तथा मैकीवर द्वारा कानून की श्रेष्ठता के गीत गाना वस्तुत: मध्ययुग के प्राकृतिक और विवेकशील कानून की धारणा की पुनरावृत्ति है।

राज्य की तुलना में कानून को उच्चतर मानना एक अस्पष्ट और भ्रांतिमूलक विचार है। कानून का स्रोत सामाजिक परंपरा या नियम अवश्य है किंतु जब तक किसी नियम को राज्य अपनी स्वीकृति न दे, वह कानून का दरजा प्राप्त नही कर सकता। किसी भी राज्य के कानूनों की संहिता को सामाजिक संगठनों ने निर्मित नहीं किया। कानून विधायिका या सरकार का कोई अन्य अंग ही बनाता है। कोकर का कथन है: 'कानून केवल वह नही है जो हमारी सामान्य बुद्धि को ठीक जान पड़ता है या जो समाज चाहता है। यह सही है कि एक निश्चित व्यक्ति या विधायिका के अलावा हम कानून की भावना, लोक सम्मति आदि की बात कर सकते है; लेकिन हम सामान्य रूप से स्वीकृत अर्थ मे कानून की बात नही कर सकते। सामाजिक दृढता, एकता और विवेक हमें ऐसे सुनिश्चित कानून नही दे सकते जिन्हें न्यायाधीश लागू कर सकें।'

बहुलवादी सिद्धांत का मूल्यांकन : बहुलवाद के संबंध में सैबाइन का निष्कर्ष है: 'मैं यथासंभव अद्वैतवादी (माइस्ट) बने रहने का अपना अधिकार सुरक्षित रखता हूं, किंतु विवश होने पर बहुलवादी (प्लुरलिस्ट) बन सकता हूं।' बहुलवाद मे सचाई का अंश है पर उसे अतिरंजित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। राज्य की अत्यधिक प्रशंसा और पूजा के विरुद्ध यह एक सही प्रतिक्रिया थी। आस्टिन के सिद्धांत की कठोरता और हीगल के

विचार के हठवाद के विरोध में लास्की और मैकीवर का संप्रभुता-विरोध तर्कसंगत सिद्धात प्रतीत होती है। बहुलवादी सिद्धांत की निम्नलिखित आलोचना की जा सकती है:

1. बहुलवाद के तर्कों का अनिवार्य नतीजा अराजकतावाद का पुष्टि करना है। संप्रभुता को विभाजित करने का अर्थ राज्य को नष्ट करना है। इसलिए लास्की और मैकीवर भी संप्रभुता का विभाजन करने के बाद भी राज्य को समुदायों के बीच मे संतुलन और सामंजस्य लाने का कार्य सौंपना चाहते हैं। सर्वोच्च शक्ति के अभाव में राज्य ऐसा करने में असमर्थ रहेगा या बहुलवादियों को राज्य को पिछले दरवाजे से पुन: संप्रभुता की शक्ति सौंपनी पड़ेगी। इसी कारण बाद मे चलकर लास्की ने बहुलवादी सिद्धात को त्याग दिया।

2. बहुलवादियों की यह मान्यता कि समाज के अंतर्गत समनांतर रूप से कार्य करने वाले विभिन्न समुदाय बिना एक-दूसरे से टकराए काम कर सकते हैं, सच नही है। हम समुदायो से दैनिक जीवन में निष्ठाओं और हितों का अंतर्विरोध और संघर्ष देखते हैं। निष्ठाओ और हितों के संघर्ष को सीमित रखने के लिए संप्रभुतासंपन्न राज्य की मौजूदगी अनिवार्य हो जाती है।

3. आजकल कोई भी एकात्मवादी हीगलवाद को स्वीकार नही करता। आस्टिन भी वैधानिक एकात्मकवाद के समर्थक थे, न कि राजनीतिक निरंकुशता के। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुलवादी जिस एकात्मवादी शत्रु से लड़ते है, वह बहुत कुछ उनकी कल्पित धारणा है।

4. मिस फोलेट, जो स्वयं बहुलवादी हैं, राज्य के विषय मे कहती हैं: 'राज्य समुदायों का संगठन नही माना जा सकता क्योकि किसी भी समुदाय या समुदायों के समूह मे संपूर्ण व्यक्ति का समावेश नही होता; और आदर्श राज्य व्यक्ति की पूर्णता की माग करता है। व्यावसायिक समुदाय की तुलना मे नागरिकता बहुत बड़ी वस्तु है। राजनीति मे हमे पूर्ण मनुष्य की आवश्यकता होती है। आदर्श संगठित राज्य सबको खा जाने वाला नही होता। वह सबको एकत्र करने वाला होता है। सच्चे राज्य को अपने अंतर्गत सभी हितों को मिलाना चाहिए। राज्य को हमारी विभिन्न निष्ठाओ को मिला-कर एकाकार कर देना चाहिए। हमारी आत्मा राज्य मे ही निवास करती है।'[15] यह एक संयत विचार वाली महिला, जो बहुलवादी विचारधारा से स्वयं आकर्षित थी, के द्वारा उग्र बहुलवादी मनोवृत्ति की आलोचना है।

बार्कर, लिंडसे, मैकीवर और लास्की भी अप्रत्यक्ष रूप से समुदायों पर राज्य की संप्रभुता की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। अब संप्रभुता के विषय में एकात्मवादियों और बहुलवादियों का वादविवाद समाप्त हो गया है क्योकि धीरे धीरे बहुलवादी लेखकों ने स्वयं अपने अनुभव द्वारा अपने दृष्टिकोण की अपूर्णताओ को समझ लिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'बहुलात्मक लोकतंत्र' के संबंध मे बहुलवादी दृष्टिकोण की चर्चा ने जोर पकड़ा। यह वादविवाद संप्रभुता की वैधानिक धारणा के संबंध में होकर पश्चिमी पूंजीवादी देशों की लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था और प्रक्रियाओं के बारे में है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। रावर्ट डाल के अनुसार 'बहुलात्मक लोकतंत्र'

एक ऐसी राजनीतिक प्रणाली है, जिसके अंतर्गत सामाजिक विशिष्ट वर्ग राजनीतिक प्रणाली पर हितसमूहों के संगठन द्वारा अधिक से अधिक प्रभाव डालने के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं।[16]

संदर्भ

1. एम आई बेन ऐंड आर एस पीटर्स : 'सोशल प्रिंसिपिल्स ऐंड दि डेमोक्रैटिक स्टेट', पृ०-256.
2. जार्ज सैबाइन . 'ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियरी', पृ० 333.
3. वही, पृ० 405-6
4. टी एच ग्रीन : 'लेक्चर्स आन दि प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल लेजिस्लेशन', पृ० 96.
5. जे डब्ल्यू गार्नर : 'इंट्रोडक्शन टू पोलिटिकल साइंस', पृ० 179-80.
6. आर जी गेटेल : 'इंट्रोडक्शन टू पोलिटिकल साइंस', पृ० 94.
7. वही, पृ० 95.
8. आर एन गिलक्राइस्ट : प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल साइंस', पृ० 110.
9. ए वी डायसी . 'दि ला आफ दि कांस्टीट्यूशन', पृ० 66.
10. ई आशीर्वादम् : 'राजनीति विज्ञान', पृ० 325.
11. आर एम मैकीवर : 'दि माडर्न स्टेट', पृ० 473.
12. वही, पृ० 476.
13. हेरोल्ड लास्की : 'ए ग्रामर आफ पोलिटिक्स', पृ० 64.
14. वही, पृ० 55-56.
15. ई आशीर्वादम् : 'राजनीति विज्ञान' में पृ० 292 पर उद्धृत.
16. राबर्ट ए डाल : 'माडर्न पोलिटिकल एनेलिसिस', पृ० 68-71.

7

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत

इस अध्याय में राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांतों पर विचार किया जाएगा। पहले हम राज्य की उत्पत्ति के संबंध में उदारवादी सिद्धांतों की विवेचना करेंगे। उदारवादी सिद्धांतों में राजनीतिक चिंतन के इतिहास में दो सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं—सामाजिक समझौते का सिद्धांत, जिसका प्रतिपादन हाब्स, लाक तथा रूसो ने किया, और विकासवादी सिद्धांत जिसका प्रतिपादन बेजहाट, स्पेंसर, गिडिंग्स, लोवी आदि लेखकों ने किया। आज सभी उदारवादी लेखक, जिनमे गार्नर और मैकीवर भी शामिल है, राज्य की उत्पत्ति के संबंध में विकासवादी सिद्धांत को ही सही मानते हैं। सामाजिक समझौते के सिद्धांत को अधिकांश उदारवादी लेखक अब गलत समझते हैं। इसके विपरीत एंगेल्स, मार्क्स, लेनिन, ग्रामशी आदि साम्यवादी लेखक राज्य की उत्पत्ति के संबंध मे वर्गव्यवस्था के सिद्धात को मानते हैं। उदारवादियों मे मैकीवर के विचार राज्य की उत्पत्ति के विषय में कई बिंदुओं पर एंगेल्स के विचारों के अनुरूप है किंतु कुछ बिंदुओं पर उनका मतभेद भी है। वस्तुतः अब उदारवादी और मार्क्सवादी समान रूप से राज्य को एक विकासजन्य संस्था मानते हैं। राज्य की उत्पत्ति मे रक्त-वंशीय संबंधों, धर्म, शक्ति, आर्थिक कारणों और राजनीतिक चेतना के महत्व को कम या अधिक मात्रा में मैकीवर और एंगेल्स दोनो ही स्वीकार करने के लिए तैयार हैं।

सामाजिक समझौते का सिद्धांत

इस सिद्धात के अनुसार राज्य का जन्म मनुष्यों द्वारा जानबूझकर किए गए इकरारनामे के द्वारा हुआ। यह सामाजिक समझौता आदिम जातियों ने उस समय किया जब वे असभ्य अवस्था से निकलकर सभ्यता के पहले चरण में प्रवेश कर रही थी। इस सिद्धांत के प्रवर्तक हाब्स, लाक तथा रूसो मानते है कि पूर्व राजनीतिक युग मे कानून या शासन का अस्तित्व नहीं था। कुछ लेखक पूर्वसामाजिक युग की चर्चा भी करते है। इस प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों के आपसी संबंध प्राकृतिक नियमों के अनुसार निर्धारित होते थे। हाब्स प्राकृतिक अवस्था को बर्बर और संघर्षमय मानता है; लाक उसे शांतिपूर्ण किंतु असुविधाजनक समझता है; परंतु रूसो उसे पारस्परिक प्रेम और भ्रातृत्व पर आधारित आदर्श स्थिति

बताता है। कुछ भी हो, तीनों ही भिन्न कारणों से मानते हैं कि लोग प्राकृतिक अवस्था से असंतुष्ट हो गए और उन्होने आपसी समझौते द्वारा राजनीतिक समाज या राज्य की स्थापना कर डाली।

सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की स्थापना के फलस्वरूप प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता से कुछ सीमा तक या पूरी तौर से वंचित होना पड़ा किंतु इसके बदले उसे कानून द्वारा प्राप्त होने वाली जीवन एवं संपत्ति संबंधी सुरक्षा प्राप्त हुई। लाक के अनुसार सामाजिक समझौते के उपरांत एक राजनीतिक समझौता भी हुआ जिसके द्वारा सरकार की स्थापना हुई। यह समझौता राजा और प्रजा के बीच में इकरारनामे के जरिए हुआ। लाक समझौते को एक राजनीतिक घटना के रूप में देखता है। इसके विपरीत जर्मन दार्शनिक इमेनुअल कांट उसे एक 'युक्तिसंगत विचार' के रूप मे ही देखता है। कांट इकरारनामे को ऐतिहासिक तथ्य नही मानता। समझौते के परिणामस्वरूप जिस राज्य की स्थापना हुई, उस राज्य के चरित्र के विषय मे भी हाब्स, लाक तथा रूसो मे मतभेद है। रूसो इसे प्रत्यक्ष लोकतंत्र और लोकप्रिय संप्रभुता के समर्थन में उपयोग करते हैं; हाब्स इसे निरंकुश राजतंत्र या अधिनायकतंत्र एवं असीमित वैधानिक संप्रभुता के समर्थन के लिए प्रयोग मे लाते है; और लाक उसका उपयोग संवैधानिक राजतंत्र तथा संप्रभुता को वैधानिक व राजनीतिक रूपों मे विभाजित करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिए करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि सामाजिक समझौते का सिद्धांत 'विचारधारा' है, जो राज्य की उत्पत्ति का युक्तिसंगत विश्लेषण करने के बजाय पहले से निश्चित 'राजनीतिक मान्यताओं' के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत करता है, जिसकी मदद से हाब्स निरंकुश शासन की, लाक 1688 मे स्वीकृत ब्रिटिश संविधान की और रूसो प्रत्यक्ष लोकतंत्र पर आधारित नगरराज्य की वकालत कर सकें।

हाब्स का सिद्धांत : हाब्स ने प्राकृतिक अवस्था का बड़ा दर्दनाक चित्रण किया है। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है और हमेशा संघर्ष मे लगा रहता है। प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य अकेला, दरिद्र, गंदा, असभ्य और अल्पजीवी है। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का शत्रु है। वह सुख चाहता है और सुख पाने के लिए दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है लेकिन वह ऐसा करने मे सफल नही होता क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्तियां परस्पर लगभग बराबर है। वातावरण भय से प्रभावित रहता है। लोग एक दूसरे से डरते है। ऐसी अवस्था में उद्योग नही पनप सकते। मार-पीट और छीना-झपटी साधारण बात है, इसलिए संपत्ति की कोई सुरक्षा नही है। कानून, व्यवस्था, सरकार जैसी चीज की ऐसी स्थिति में कल्पना करना भी असंभव है। प्राकृतिक कानून का आधार चतुरता और दूरदर्शिता है, जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपने हित को प्राप्त करना चाहता है। मनुष्य की प्राकृतिक शक्ति ही उसके प्राकृतिक अधिकार हैं। प्राकृतिक अवस्था में न तो कोई नैतिकता हो सकती है और न ही उत्तरदायित्व की भावना।

अंत में जब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था के संघर्ष से तंग आ जाता है तो वह आपस में

एक इकरारनामा करता है। यह इकरारनामा सभी व्यक्ति आपसी वार्तालाप के द्वारा करते हैं। हाब्स के चिंतन में यह इकरारनामा एक ऐतिहासिक कल्पना मात्र है, जिसके द्वारा वह संकेत करना चाहता है कि राज्य की उत्पत्ति बलप्रयोग द्वारा नही हुई बल्कि इसका वास्तविक आधार जनता का अपना निर्णय है। हाब्स के शब्दो में यह समझौता कुछ इस तरह से हुआ : 'प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से कहता है कि मैं अपने ऊपर शासन करने का अपना अधिकार अमुक व्यक्ति या अमुक समिति को सौंपता हूं और उसे अपने ऊपर शासन करने का अधिकार देता हूं, बशर्ते कि तुम भी अपना अधिकार उसे सौंपो और उसे अपने ऊपर शासन करने का अधिकार दो।'[1] इस तरह सभी मनुष्य अपने सारे प्राकृतिक अधिकार एक शासक को सौंप देते हैं।

शासक स्वयं समझौते में भाग नही लेता। वह तो इस समझौते का परिणाम है। एक बार उसे अधिकार सौंपकर जनता उससे इन्हें वापस नही ले सकती। इसलिए जनता को विद्रोह करने का अधिकार नही है। शासक पूर्ण रूप से निरंकुश है। एक ही समझौते से मनुष्य सभ्य समाज और राजनीतिक समाज की स्थापना कर लेता है। हाब्स के विचार के अनुसार राज्य और सरकार मे भी कोई भेद नही है। सरकार के उलटने का अर्थ राज्य का नाश होना एवं अराजकता की स्थिति पैदा होना है। ब्रिटेन में गृहयुद्ध से उत्पन्न स्थिति को हाब्स अराजकता की स्थिति मानता था, जो प्राकृतिक अवस्था का ही दूसरा नाम है। इसलिए हाब्स सरकार को निरंकुश बनाने के पक्ष में है और राज्य की संप्रभुता को असीमित, अविभाज्य और अदेय मानते हैं।

लाक का सिद्धांत : प्राकृतिक नियमों और प्राकृतिक अवस्था के विषय में लाक के विचार हाब्स से बिलकुल विपरीत हैं। वह उसे अशांति और संघर्ष की स्थिति नही मानता। यह अवस्था वस्तुतः सद्‌भावना, आपसी सहयोग, शांति और सुरक्षा की अवस्था है। यह स्वतंत्रता की अवस्था है किंतु उच्छृखलता की नही। लोग स्वाभाविक रूप से विवेक और अंतश्चेतना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। परंतु थोड़े से हठी और उत्तरदायित्व-हीन व्यक्ति दूसरे लोगों के लिए असुविधाएं उत्पन्न कर देते हैं। नतीजा यह होता है कि अधिकांश शांतिप्रिय लोग विवश होकर प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करने का निर्णय कर लेते हैं। प्राकृतिक अवस्था की विशेष कठिनाई यही है कि उसमें कानून और न्याय की कोई स्वीकृत पद्धति नहीं है। जो थोड़े से व्यक्ति अनैतिक या अविवेकशील आचरण करते है, उन्हे सजा देने की कोई व्यवस्था नहीं है। इन कमियों को दूर करने के उद्देश्य से लोग सामाजिक समझौते के माध्यम से सभ्य समाज या नागरिक समाज का निर्माण कर लेते हैं। हाब्स के सिद्धांत की तुलना में लाक द्वारा प्राकृतिक व्यवस्था का उपर्युक्त चित्रण अधिक अस्वाभाविक और अवास्तविक प्रतीत होता है।

लाक ने जिन दो इकरारनामों की चर्चा की है, उनमें पहले इकरारनामे से नागरिक समाज की और दूसरे सरकार की स्थापना होती है। पहला समझौता सिर्फ जनता के बीच में हुआ और दूसरा जनता तथा शासक के बीच में हुआ। लाक के अनुसार राज्य और सरकार में भेद है। सरकार को उखाड़ने का अर्थ नागरिक समाज को समाप्त करना नहीं है। अगर एक सरकार भंग होती है तो नागरिक समाज उसके स्थान में दूसरी सरकार

स्थापित कर सकता है। राजनीतिक समझौते के द्वारा नागरिक शासक को अपने सभी प्राकृतिक अधिकार नही सौंपते। वे अपने प्राकृतिक अधिकारों में से थोड़े से अधिकार शासक को इस शर्त पर सौंपते है कि वह उनके शेष अधिकारों का उल्लंघन न करे। यदि शासक इन अधिकारो की रक्षा नही कर सकता तो जनता उस शासक को पद से हटाकर दूसरा शासक नियुक्त कर सकती है। इस तरह लाक अपने सिद्धांत के आधार पर 1688 की ब्रिटिश सांविधानिक क्रांति के लक्ष्य का समर्थन करना चाहता है। लाक के अनुसार किसी भी शासक को जनता के प्राकृतिक अधिकारों की अवहेलना करने का अधिकार नही है। उसके अनुसार सबसे महत्वपूर्ण अधिकार संपत्ति का अधिकार है। लाक के अनुसार सप्रभुता जनता और सरकार में विभाजित रहती है।

रूसो का सिद्धांत : रूसो के अनुसार लोग प्राकृतिक अवस्था मे सामान्य रूप से सुखी, स्वावलंबी और संतुष्ट थे। वे प्राकृतिक मनुष्य को असभ्य किंतु सुशील और सच्चरित्र मानव के रूप में देखते थे। उनका जीवन सरल था; उनकी मागें सीमित थी जिनकी सहज पूर्ति हो जाती थी। सभ्यता के प्रारभ के साथ ही कलाओं और शिल्प का विकास होता है। श्रम का विभाजन शुरू होता है और लोगो के पास निजी संपत्ति एकत्र होने लगती है। निजी संपत्ति और आर्थिक असमानताओं के कारण धनी वर्ग को ऐसी औचित्य-पूर्ण सत्ता की स्थापना की जरूरत पड़ती है, जो उनके विशेषाधिकारों की निर्धन वर्ग के आक्रमण से रक्षा कर सके। रूसो का कथन है : 'सामाजिक समझौते से मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वच्छंदता को तथा अपनी प्रिय वस्तुओ को अपने अधिकार में कर लेने के असीमित हक को खो देता है। इसके बदले मे उसे नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और अपनी संपत्ति पर अधिकार मिलता है। हमे प्राकृतिक और नागरिक स्वतंत्रताओ का भेद और जबरदस्ती हथियाई वस्तु तथा संपत्ति के भेद को भी ध्यान मे रखना चाहिए जिससे दोनों के परीक्षण में गलती न हो। मनुष्य को अपनी ताकत की सीमा के अतिरिक्त प्राकृतिक स्वतंत्रता की कोई दूसरी सीमा नही होती, लेकिन नागरिक स्वतंत्रता सामान्य इच्छा द्वारा सीमित होती है। कब्जे का आधार किसी वस्तु को बलप्रयोग द्वारा अधिकार में करना है। संपत्ति का आधार एक सुनिश्चित हक है जिसे सब स्वीकार करते हैं।'[2]

रूसो के मत के अनुसार सामाजिक समझौता मनुष्यो के व्यक्तिगत स्वरूप तथा उनके सुसंगठित संस्थागत स्वरूप के बीच मे हुआ। रूसो इस समझौते को वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार नही करते। उसे वे केवल तर्क के फार्मूले के रूप मे मानते है जिसके द्वारा वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि राज्य सामान्य इच्छा पर आधारित एक ऐसी संस्था है जिसका लक्ष्य लोगों के सामान्य सामूहिक हितों के अनुसार कार्य करना है। मनुष्य जब समझौते द्वारा अपने अधिकार राज्य को सौंपते हैं तो वे किसी नुकसान मे नहीं रहते क्योंकि जो प्राकृतिक अधिकार वे व्यक्तिगत रूप से खोते हैं, उन्हीं अधिकारों को वे सामूहिक रूप में पुनः प्राप्त कर लेते हैं। अब उनके अधिकारों की रक्षा का दायित्व राज्य के कानूनों पर आ जाता है। रूसो की कल्पना का राज्य प्रत्यक्ष लोकतंत्र है जिसमें नागरिकों की संख्या एक सामान्य नगर राज्य से ज्यादा नहीं है। इस राज्य का आधार लोकप्रिय संप्रभुता और लोक सम्मति है। लोकसम्मति से रूसो का तात्पर्य जनता

के ऐसे संकल्प से है जिसका उद्देश्य समाज के सामान्य हित को प्राप्त करना है।

सामाजिक समझौते का मूल्यांकन : ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए कुछ लेखकों ने बताया है कि ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर हम इस सिद्धात को स्वीकार नही कर सकते। इतिहास से हमे कोई ऐसा उदाहरण नही मिलता जब कबीले में रहने वाले असभ्य मानवों ने किसी विशेष समय पर इकट्ठे होकर सभा की और सरकार का गठन किया या अपने प्रथम शासक का निर्वाचन किया। इकरारनामे का विचार असभ्यमानव की चेतना के बाहर है। जो लोग यूरोप से जाकर अमरीका मे बसने वाले प्रवासियों के मे फ्लावर या प्रोवीडेंस इकरारनामे की मिसालें देते हैं, वे सही उदाहरण नही देते क्योंकि इन इकरारनामों को करनेवाले सभ्य मानव थे जो यूरोप में राजनीतिक समाज के पहले से सदस्य रह चुके थे। जो भी शासकीय या राजनीतिक समझौतों की मिसालें इतिहास में मिलती है, वे प्रारंभिक राज्य से संबद्ध न होकर उस समय की मिसालें हैं जब शासनव्यवस्था काफी विकसित हो गई थी और इन इकरारनामों के अनुसार नई सरकार अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करना चाहती थी।

इस सिद्धांत के समर्थक मानते हैं कि मनुष्य आदिम अवस्था में ही व्यक्ति के रूप में अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करने लगा था किंतु मानवशास्त्रियों की खोज से पता चलता है कि आदिम मनुष्य कबीले, गोत्र और कुल से इस प्रकार बंधा और जुड़ा था कि उसकी कोई व्यक्तिगत स्वतंत्र सत्ता थी ही नही। कबीले के कानून भी सामूहिक प्रथाओं और रीतिरिवाजों पर निर्भर थे जिनका पालन करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य था। परिवारों को ही समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई समझा जाता था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक और संभव नही कि व्यक्ति स्वेच्छा से वंश, परिवार या कबीले पर आधारित निष्ठाओं से ऊपर उठाकर स्वेच्छा से इकरारनामा कर लें और एक क्षेत्रीय राजनीतिक संगठन के रूप में तुरंत राज्य की स्थापना कर डालें।

...अगर हम यह मान भी लें कि कबीलाई समाज के मनुष्यों की चेतना इतनी बढ़ गई थी कि वे इकरारनामा कर सकें तो भी यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ऐसे सामाजिक इकरारनामे का कानूनी महत्व नही के बराबर है। यह इकरारनामा राज्य और कानून के निर्माण के पहले हुआ, इसलिए उसके पालन कराने के लिए उसके पीछे कानून की शक्ति नही थी। टी एच ग्रीन का कथन है : 'अस्थाई नागरिक सत्ता की स्थापना करने वाला इकरारनामा वैध इकरारनामा नहीं हो सकता। ऐसे इकरानामे को करने वाले लोग इस स्थिति मे हैं ही नही कि वे कोई वैध इकरारनामा कर सकें।'[3] इस तरह अगर शुरू का इकरारनामा ही वैध नही है तो उसके आधार पर भविष्य में होने वाले इकरारनामे भी कानून के अनुकूल नही समझे जा सकते। इन इकरारनामों से प्राप्त अधिकारों का भी कोई औचित्यपूर्ण या जायज आधार नही माना जा सकता।

दूसरी वैधानिक आपत्ति यह है कि अगर हमारे पूर्वजों ने असभ्यता की अवस्था से सभ्यता के चरण में प्रवेश करते समय किया तो वही इकरारनामा कई शताब्दियों के बाद भी वर्तमान पीढ़ी पर किसी प्रकार उसी रूप मे लागू किया जा सकता है। इकरानामा उन्हीं लोगों पर लागू होता है, जिसे वे स्वेच्छा से स्वयं अपने हित को ध्यान में रखते हुए

करें। लाक का कथन है कि राज्य में रहने का अर्थ ही उस प्रारंभिक इकरारनामे की अंतर्निहित मौन स्वीकृति है। कानूनी दृष्टिकोण के अनुसार उपर्युक्त विचार गलत है।

आदर्शवादी लेखक सामाजिक समझौते की आलोचना दार्शनिक आधार पर करते हैं। उनका कथन है कि राज्य मनुष्य की कृत्रिम रचना नही है जैसाकि हाब्स तथा लाक समझते हैं। यदि राज्य एक ऐच्छिक समुदाय होता जैसे लोग स्वेच्छा से कंपनी या व्यापारिक संस्था बनाते हैं, तो व्यक्ति को यह आजादी होती कि वह जब चाहे राज्य का सदस्य बन जाए और जब चाहे उसकी सदस्यता छोड़ दे। अगर राज्य के प्रत्येक कार्य का औचित्य मनुष्यों के व्यक्तिगत फैसले पर निर्भर हो तो राज्य के लिए काम करना ही असंभव हो जाए। ऐडमंड बर्क के मत के अनुसार राज्य मिर्च, कहवा, तंबाकू या वस्त्रों के बेचने के व्यवसाय की साझेदारी का इकरारनामा नही है। राज्य की साझेदारी अत्यंत उच्च श्रेणी की साझेदारी है। यह साझेदारी सभी कलाओं की, सभी विद्याओं की और सभी प्रकार के सदाचार और आत्मिक उन्नति की साझेदारी है।

दार्शनिक दृष्टिकोण मनुष्य को इतिहास को दो कटे हुए भागों मे बाटना उचित नही है। यह मान लेना सही नही है कि इकरारनामे के द्वारा स्थापित राज्य के पहले मनुष्यजीवन पूर्णरूप से स्वाभाविक या प्राकृतिक था और उसके बाद वह एकदम कृत्रिम और अस्वाभाविक हो गया। सभ्य मनुष्य के लिए आज की सास्कृतिक और भौतिक उपलब्धियों के साथ बिताया हुआ जीवन उतना ही स्वाभाविक और प्राकृतिक है, जितना बर्बर मानव के लिए उसका अपना कबीलाई जीवन। उसी तरह कबीलाई जीवन के रस्मरिवाज उतने ही कृत्रिम माने जा सकते हैं जितने कि आधुनिक राजनीतिक जीवन के राज्य द्वारा लागू किए गए कानून।

यदि हम प्राकृतिक व्यवस्था के रूसो द्वारा प्रस्तुत अतिरंजित चित्रण को सही मान लें तो ऐसी हालत मे राज्य का निर्माण एक पतनशील परिवर्तन है। टी एच ग्रीन के शब्दों में: 'नैसर्गिक नियमों द्वारा शासित एक समाज को, जिसमें मनुष्य की अंतश्चेतना के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति के नियंत्रण की आवश्यकता न हो, छोडकर एक राजनीतिक समाज की ओर अग्रसर होना अवश्य ही पतन होगा। वह समाज तो ऐसा है कि उसके स्थान पर एक नागरिक शासन स्थापित करने की कोई वजह ही नहीं हो सकती।'[4]

सत्रहवी और अठारहवी सदी में इस सिद्धांत की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह था कि लास्का के शब्दों मे यह एक 'राजनीतिक फार्मूला' था जिसकी मदद से नया उदारवादी राजनीतिक विशिष्ट वर्ग प्रतिनिधिक शासन का औचित्य सिद्ध करना चाहता था। ये लेखक राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धात और शक्ति सिद्धांत का विरोध इसलिए करते थे क्योंकि इन सिद्धांतों के आधार पर निरंकुश शासक अपने स्वेच्छाचारी शासन का औचित्य सिद्ध करते थे। उसके स्थान पर सामाजिक समझौते के सिद्धात के समर्थकों ने इस महत्वपूर्ण नियम का प्रतिपादन किया कि राज्य का आधार सहमति है और प्रजा राज्य की आज्ञाओं का पालन इसीलिए करती है क्योंकि वह इकरारनामे के द्वारा उसकी उपस्थिति को पहले ही स्वीकृति दे चुकी है। इस नियम की स्थापना करके सामाजिक समझौते के सिद्धात ने वर्तमान युग की लोकतंत्रीय सरकार की प्रणाली को मजबूत बनाया।

लार्ड का कथन है : 'स्वतंत्रता के समर्थकों ने इसे पसंद किया क्योंकि इस सिद्धांत ने निरंकुश सत्ता के अधिकारो पर प्रतिबंध लगाने के तरीके बताए। जो लोग तर्क मे रुचि रखते थे, उन्होंने इस सिद्धात को पसंद किया क्योंकि इकरारनामा वादविवाद का विषय हो सकता है, उसकी आलोचना की जा सकती है, उसमें संशोधन किए जा सकते है, जबकि 'ईश्वरीय विधान' के विषय में कुछ करना असंभव है। यदि हम इस सिद्धांत के ऐतिहासिक पक्ष पर ध्यान न दें तो भी यह इसलिए आकर्षक है कि यह मानवीय अनुभव के एक महत्वपूर्ण पहलू पर जोर देता है।'[5]

मैक्स वेबर का कथन है कि सामंती पारंपरिक व्यवस्था का आधार पद के आधार पर ऊंच-नीच का भेद है। आधुनिक औद्योगिक समाज मे व्यवस्था का आधार कानूनी समानता पर आधारित इकरारनामे द्वारा निर्धारित संबंध है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मजदूर-मालिक संबंध इकरारनामे पर ही आधारित है जबकि सामंती व्यवस्था मे किसान और जमीदार का संबंध पारंपरिक प्रथा पर आधारित है। राजनीतिविज्ञान में राज्य को इकरारनामे पर आश्रित करना समाज में व्याप्त पूजीवादी विचारधारा का ही परिणाम है। मैकफर्सन ने हाब्स और लाक के चिंतन के बुर्जुआ चरित्र पर प्रकाश डालते हुए सामाजिक समझौते के सिद्धात के मूल्यांकन मे एक नया दृष्टि बिंदु प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार इकरारनामे का विचार पूजीवादी व्यवस्था के सर्वमान्य नियम पर आधारित है।

विकासवादी सिद्धांत

उदारवादियों के अनुसार आज राज्य की उत्पत्ति के संबंध मे ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धात ही सर्वमान्य है। यह सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति की सही विवेचना करता है। इसके अनुसार राज्य समाज के क्रमिक या ऐतिहासिक विकास का नतीजा है। राज्य की उत्पत्ति धीरे धीरे विभिन्न कारणो से विभिन्न स्थानों मे हुई। उसके लिए कोई ऐसा एक सामान्य कारण नही दिया जा सकता, जो संसार भर के राज्यों की उत्पत्ति की सही व्याख्या कर सके। राज्य को किसी ने किसी निश्चित समय पर नही बनाया। उसका विकास भाषा, मानवीय ज्ञान, संस्कृति या धर्म की तरह धीरे धीरे हुआ। यह समझा जाता है कि राज्य के जन्म के पूर्व राजनीतिक चेतना के विकास में काफी समय लगा होगा। बेजहाट, स्पेंसर, गिडिंग्स, लोवी, गार्नर आदि लेखकों ने, जो विकासवादी सिद्धात के समर्थक हैं, राज्य की उत्पति में तीन कारकों (फैक्टर्स) को विशेष महत्व देते हैं। ये तीन कारक हैं : कुल और गोत्र के संबंध, जादू टोना एवं धर्म तथा राजनीतिक चेतना।

प्रारंभ मे मनुष्य कबीलाई समाज में रहता था। ये कबीले कुछ स्थानों में मातृ-सत्ताक तो अन्य स्थानों मे पितृसत्ताक सिद्धांत पर संगठित थे। रक्तसंबंध, चाहे वह वास्तविक रहा हो या कल्पित, सामाजिक एकता की स्थापना मे बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इसके आधार पर परिवारों को मिलाकर गोत्र बने; गोत्रों को मिलाकर कबीले और जातियां बनी। कालांतर में ये कबीले और जातियां क्षेत्रीय समाजो में परिवर्तित हुए। क्षेत्रीय समाज के आधार पर ही प्रारंभिक राज्य की नीव डाली गई। कई क्षेत्रीय समूहों ने मिलकर सजातीयता के आधार पर राज्य की स्थापना की।

जेंक्स तथा मार्गन के अनुसार पहले कुलसंबंध माता के माध्यम से होता था। मनुष्य शिकारी और खानाबदोश था जिसमें संभवतः यूथविवाह और बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी। बालकों के पालन-पोषण के लिए पहला सामाजिक संबंध माता और उसकी संतान के बीच में स्थापित हुआ। पशुपालन, कृषि की शुरुआत, संपत्ति में वृद्धि, निजी संपत्ति के अधिकार के साथ समाज में पुरुष की प्रधानता स्थापित हुई। धीरे धीरे कुछ स्थानीय अपवादों को छोड़कर पितृसमाज कबीलों की स्थापना हो गई। पितृसत्ताक समाज का संगठन पुरुषों के माध्यम से निश्चित होने वाले संबंधों के आधार पर हुआ। स्त्रियों को अधिकांश पितृसत्ताक समाजों में पुरुष की निजी संपत्ति माना जाने लगा। बहुपत्नी प्रथा का चलन शुरू हुआ। कुलपति या परिवार के वयोवृद्ध व्यक्ति को अपने कुल के सदस्यों के शरीर और जीवन पर पूरा अधिकार प्राप्त हो गया। उसकी मृत्यु के बाद यह अधिकार उसके निकटतम वयोवृद्ध संबंधी को दिया जाने लगा। पितृसत्ताक कुलों को मिलाकर जनपद बने। कुलों के कुलपतियों ने जनपद के प्रधानों का चयन करना आरंभ किया। यह जनपद का प्रधान अपने कबीलाई समाज का सर्वमान्य नेता बन गया। कबीलाई सरदारों को सैनिक, न्यायिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त हुए। ये सरदार, प्रधान या शासक संपूर्ण जनपद या कबीले के कल्याण की भावना से प्रेरित न होकर कुछ इने-गिने व्यक्तियों के विशेषाधिकारों की रक्षा करने लगे।

पितृसत्ताक समाज में जनपति या सरदार का अधिकार रिवाजों और परंपराओं पर आधारित था। इन परंपराओं का इस व्यवस्था मे वही महत्व था जो कि आधुनिक राज्य में कानून का होता है। इस समाज में वैध-अवैध या नैतिक-अनैतिक का विचार नही था। न्यायाधीश के रूप में कुलपति और जनपति प्रथाओं का पालन कराते थे। वे ही स्वयं न्याय करते थे और अपराधियों को दंड देने के आदेशों को कार्यान्वित करते थे। धीरे धीरे इन्हीं कबीलाई परंपराओं ने कानून का रूप और कबीलाई सरदारों ने राजनीतिक शासक का रूप ग्रहण कर लिया। राज्य कबीलाई समाज से धीरे धीरे विकसित अवश्य हुआ किंतु कोई निर्दिष्ट कबीलाई समाज किस समय राज्य बन गया यह निश्चित रूप से निर्धारित करना कठिन कार्य है। वास्तव में कबीलाई समाज और राजनीतिक समाज के बीच मे एक लंबा संक्रमणकालीन चरण है जिसमें कबीलाई और राजनीतिक समाजों के मिले-जुले तत्व पाए जाते है। राज्य के पहले न्यायिक फिर विधायक और अंत मे प्रशासकीय तत्व विकसित हुए। मैकीवर का कथन है कि यह समझना बहुत बड़ी गलती है कि 'जिस किसी असभ्य जाति में हमें कोई सरदार दिखाई पडे, वहीं हम राज्य की स्थिति मान लें। हम यह नही बता सकते कि राज्य का कब और कहां प्रारंभ हुआ। नेतृत्व और अधीनता की विश्वव्यापी प्रवृत्ति में यह अंतर्निहित है। परंतु जब सत्ता शासन का रूप धारण कर लेती है और रीति-रिवाज कानून की शक्ल ग्रहण कर लेते हैं, तो राज्य उत्पन्न हो जाता है।[6]

कबीलाई समाज और राजनीतिक समाज में पहला अंतर यह है कि जहां कबीलाई समाज केवल वंशानुगत है और उसकी एकता का आधार सगोत्र बंधु-बांधवों का रक्त संबंध है, वहां राजनीतिक समाज का आधार निश्चित भूभाग और प्रादेशिक एकता है

के इरोक्वीस कबीलों के सामाजिक संगठन को कबीलाई समाज का सार्वभौमिक प्रतिमान मानकर चलते हैं। यह संगठन निम्नलिखित चित्र' की सहायता से समझा जा सकता है:
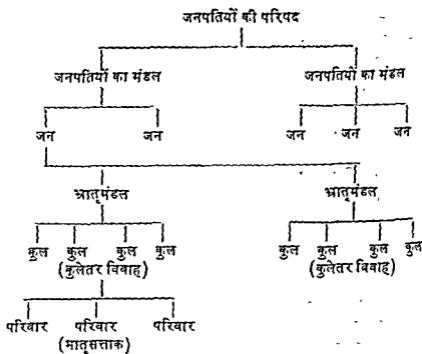
इरोक्वीस समाज का आधार मातृसत्ताक परिवार है। एक ही माता की संतान अपने को परिवार मानती है। कई मातृसत्ताक परिवारों को मिलाकर कुल बन जाता है। कुल की स्त्रियां अपने पतियों को कुल के बाहर से लाती हैं। कई कुलों को मिलाकर भ्रातृमंडल बनता है। भ्रातृमंडलो को जोड़कर जन या कबीला बनता है। इरोक्वीस पांच कबीलों में विभक्त है। कबीलों के सरदार या जनों के जनपति अपने मंडल को चुनते हैं। सबसे ऊपर इन मंडलों द्वारा चुनी हुई जनपतियों की परिषद है। इस परिषद की बैठक कबीलों के जनपतियों की प्रार्थना पर ही होती है और केवल महत्वपूर्ण परिस्थितियों में ही बुलाई जाती है।

मैकीवर के अनुसार प्रारंभिक कबीलाई समाज में स्त्री के माध्यम से संपत्ति का उत्तराधिकार निर्धारित होता था; परिवारों और जनों के संगठन का आधार भी मातृकुल था; परंतु इसमें सत्ता स्त्रियों के हाथ में नहीं थी। स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था पर वे पुरुषों पर शासन नहीं करती थी। शिकार, युद्ध आदि कार्यों में पुरुष ही समाज का नेतृत्व करते थे। हां, परिवार या कुल के प्रबंध में स्त्री के भाई को दूसरे कुल से आने वाले पति की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता था। (कुलेतर विवाह की प्रथा से वंश संबंधियों का दायरा बढ़ता था। इस प्रकार कबीलाई समाज विस्तृत हो सकता था। स्त्री पुरुष के लिंग संबंधों के विस्तार से समाज के आकार की वृद्धि हुई।

लिंग संबंध के अलावा आदिम समाज में नए सामाजिक संबंधों की स्थापना संपत्ति की उत्पत्ति के कारण हुई। संपत्ति भी प्रारंभ मे कुटुब, कुल या जन की संपत्ति के रूप में उत्पन्न होती है। व्यक्ति का उससे कोई सीधा संबंध नही होता। मैकीवर का कथन है कि इस संबंध में एंगेल्स की 'आदिम साम्यवाद' की धारणा भ्रम पैदा कर सकती है क्योंकि इस व्यवस्था मे उत्पादनप्रणाली या उत्पादनयंत्र का सामूहिक स्वामित्व नही है। इसमें तो केवल उपभोक्तावस्तुओं का सामूहिक उपयोग है। जैसे जैसे जन टूटकर कुलों में और कुल टूटकर कुटुंबों मे बिखरने लगे, संपत्ति का स्वामित्व भी सीमित होता चला गया।

अत: कबीलाई समाज परिवारों का बिखरा हुआ झुड बन गया। थोड़े से परिवारों के हाथों में संपत्ति इकट्ठी होने लगी और उसके साथ ही संपत्ति के उत्तराधिकार का नियम बदला और पितृसत्ताक कबीलों, कुलों और कुटुबों की उत्पत्ति हुई। अब स्त्रिया भी पुरुष की संपत्ति बन गई। मैकीवर के अनुसार इस पितृसत्ताक परिवार के तीन पहलू हैं: शरीर, मन और वातावरण। उनके शब्दों मे परिवार का शरीर है लिंगसंबंध, पितृत्व और रक्त की समानता, परिवार का मन और भाव हैं प्रवृत्तिया, भावनाएं भय, सुख की लालसा, प्रेम और स्नेह; और सुरक्षा, सत्ता और पारस्परिक सेवा की व्यवस्था ही इसका वातावरण है। परिवार के ये वस्तुपरक, भावपरक और पर्यावरणात्मक पहलू ही उसे सामाजिक संगठन की स्थापना के लिए प्रेरित करते हैं।[8]

कबीलाई समाज के लक्षणों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। मैकीवर के अनुसार भी यह समाज छोटा और एकाकी समाज है जिसमे प्रथा ही राज करती है। मनुष्यों का जीवनस्तर साधारण है किंतु उनके चरित्र मे बालसुलभ सरलता, ईमानदारी और साहस है। अफ्रीका के जलू और अमरीका के रेड इडियन कबीलों ने जिस वीरता और स्वातंत्र्य प्रेम के साथ यूरोपीय आक्रांताओं का मुकाबला किया, यह उनके समाज की नैतिक गरिमा का परिचायक है। विकासवादी सिद्धांत के सबंध में जिन तथ्यो की ऊपर चर्चा की गई है, मैकीवर भी उन्हे स्वीकार करते हैं।

राज्य इस कबीलाई समाज से निकलने वाला ऊपरी ढांचा है जो कुछ पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए स्थापित किया जाता है। राज्य के प्रारंभिक नमूने अपने लक्ष्यों और शक्तियों के क्षेत्र में अत्यंत संकुचित है। सुरक्षा, आक्रमण और सहज न्याय के कार्यों के अलावा उनका मुख्य उद्देश्य थोडे से शक्तिशाली लोगों की सत्ता और विशेषाधिकारों की रक्षा करना है। शासक विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति हैं जो अपनी वैयक्तिक सत्ता की भावना को प्रजा के साथ स्वेच्छाचारी व्यवहार द्वारा संतुष्ट करते हैं। मैकीवर राजनीतिक सत्ता की स्थापना वर्गव्यवस्था का महत्व भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं: 'सामाजिक संरक्षण और शक्ति की महत्वाकाक्षा—ये अत्यंत व्यापक और अत्यधिक मिश्रित मनोवृत्तियां हैं, जिन्होंने राज्य संस्थाओं के निर्माण को प्रेरणा दी।'[9]

अधिकाश लोग पारिवारिक और आर्थिक कारणों से समाज में शाति चाहते हैं। जो उन्हे शाति और संरक्षण दे सके, उसकी अधीनता मानने के लिए वे स्वाभाविक रूप मे तैयार हो जाते हैं। जब कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्ति युद्ध की कला सीखकर समाज के संरक्षक बन जाते हैं, तो आम लोग इस स्थिति का स्वागत ही करते हैं। यदि कुछ लोग इन योद्धा

संरक्षकों का विरोध भी करें, तो निःशस्त्र और युद्ध कला से, अनभिज्ञ होने की वजह से उन्हें कुचल दिया जाता है। यह योद्धा वर्ग संपत्ति और लिंगसंबंध के नियम निर्धारित कर देता है और उनका उल्लंघन करने वालों को दंड देता है। बाहरी शत्रुओं से लड़ाई कर योद्धा वर्ग अपनी प्रजा की प्रशंसा पाता है और इस प्रकार शासकों और प्रजा वर्ग की भावात्मक एकता स्थापित होती है।

इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं जब कुछ कबीले अपने सभी सदस्यों को युद्ध की कला मे दीक्षित कर देते है और अन्य कबीलों को युद्ध मे जीतकर अपनी प्रजा बना लेते है। राज्य को हम केवल सरकार और प्रजा में विभक्त करके नहीं समझ सकते। यह तो उसका वैधानिक पहलू है। 'उनका कथन है : 'राज्य केवल व्यवस्था को नहीं अपितु व्यवस्थाओं को उत्पन्न करता है। शक्ति का अर्थ कभी भी अनेक लोगों द्वारा एक व्यक्ति की अधीनता स्वीकार करना नहीं है। यह तो हमेशा ऊंच-नीच पर आधारित एक सीढ़ी है। उसका अभिप्राय तो वर्गव्यवस्था है।'[10] अकेला शासक भी अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए ऊंच-नीच पर आधारित श्रेणियो मे बंटे हुए वर्गों में से उच्चवर्गीय सहयोगियों का समर्थन चाहता है।

जब तक कबीलाई समाज में कुलीनता और संपत्ति के आधार पर श्रेणीविभाजन नही पनपता। राज्य की स्थापना नही हो सकती। राज्य की स्थापना के बाद भी श्रेणीविभाजन के रूपों में परिवर्तन होते रहते हैं और प्रभुत्व तथा अधीनता के नए संबंध उत्पन्न होते है। कबीले का सरदार प्रथा के आधार पर अपने कबीले के सदस्यो से सहयोग और आज्ञाकारिता की आशा कर सकता परंतु राज्य का शासक विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के समर्थन के अभाव में अपने आदेशों का शासित जनता के द्वारा पालन नही करा सकता। चूंकि योद्धा वर्ग स्वयं उत्पादनकार्य में भाग नही लेता, इसलिए उसे अपने वैयक्तिक खर्च के लिए और सरकारी कार्यों के लिए जनता से कर और लगान वसूल करने की जरूरत होती है। इस कार्य के लिए उसे अधिकारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है, जिनका चुनाव कुलीन तथा धनी श्रेणियों से ही किया जाता है।

मैकीवर का विचार है कि कबीलाई समाज अपेक्षाकृत लोकतंत्रीय और समतावादी होता है किंतु राजनीतिक समाज प्रारंभ से ही विषमतावादी और अल्पतंत्रीय होता है। यह सीजर और टैसिटस द्वारा गोल और जर्मन कबीलों की व्यवस्था के वर्णन से और आधुनिक मानवशास्त्रियों द्वारा एशियाई, अफ्रीकी और रेड इंडियन कबीलों की व्यवस्था के अध्ययन मे सिद्ध होता है। आधुनिक लोकतंत्रों से भी ये आदिम लोकतंत्र बिलकुल भिन्न हैं क्योंकि इनमें राजनीतिक नियंत्रण की प्रणाली का पूर्ण अभाव है जबकि आधुनिक लोकतंत्रों में राजनीतिक नियंत्रण का विकास अपनी चरम अवस्था में पहुंचा हुआ है।[11]

इस संबंध में मैकीवर के विचार निम्नलिखित हैं : 'मानवीय स्थितियों की असमानताओं में ही श्रेणीव्यवस्था के उद्गम वस्तुतः अंतर्निहित हैं। कुलव्यवस्था के भी आंतरिक और बाहरी दायरे हैं। वंशावली के भी अभिमानपूर्ण दावे हैं तुच्छता की अनुभूति से झुके हुए सिर हैं। अनुभव और वयोवृद्धता भी सत्ता समेटती है जब तक कि समय उन्हें कमजोर न कर दे। सफल योद्धा, अधिक पशुओ के मालिक या अधिक और उपजाऊ भूमि के स्वामी

को अधिक सम्मान और शक्ति प्राप्त हो जाती है। परिवारों और व्यक्तियों की श्रेष्ठता की गाथा प्रचलित हो जाती है, जिनको बडी ईर्ष्या की भावना से सुरक्षित रखा जाता है। कुछ मनुष्यो को उनकी चतुरता, कार्यकुशलता और भौतिक शक्तियो के कारण सम्मानित किया जाता है। इस प्रकार चुने हुए गुटों और मित्रमंडलियों का निर्माण होता है, जो मानवजाति के स्वाभाविक अल्पतंत्र को पैदा करते हैं। ये गुट विशेष और उच्चतर अधिकारों के दावे करते हैं। उदय होते हुए राज्य की शक्ति से अपने को जोड़कर वे अपने दावो को मजबूत करते हैं। इस प्रकार वे न केवल अपने लक्ष्यो को प्राप्त कर लेते है बल्कि सरकार को उसकी बढती हुई सत्ता के लिए अपेक्षित सामाजिक समर्थन भी देते है। इस प्रक्रिया में राज्य श्रेणीराज्य बन जाता है; कबीलाई रीति-रिवाज सिकुड़कर वर्ग के विशेषाधिकार बन जाते हैं; और राज्य की नीति सामान्य कल्याण के उद्देश्यों से दूर हट कर प्रभुत्व के लक्ष्यो की ओर तेजी से मुड जाती है।'[12]

राज्य के उदय होते ही सामाजिक जीवन अधिक पेचीदा हो जाता है। परंपरा पर आधारित सरल और अधिक लोकतंत्रीय शासन के स्थान मे अधीनता और नियंत्रण के आधार पर नई व्यवस्था उत्पन्न होती है। राज्य के लिए यह अत्यत सुखदाई स्थिति है। वह सामाजिक व्यवस्था के लिए अधिक अनिवार्य हो जाता है किंतु साथ ही अधिक नियंत्रणकारी भी। राज्य विशेषाधिकार प्राप्त श्रेणी के स्वार्थों से जुड़ जाता है। वह प्रभुत्व और आज्ञाकारिता के सिद्धांतों पर आधारित होता है। आस्टिन के अनुयायी आज भी राज्य की व्याख्या उपर्युक्त संकीर्ण विधानवादी भाषा मे करते हैं। मैकीवर का निष्कर्ष है: 'जिस सीमा तक राज्य एक श्रेणी का उपकरण बन जाता है, जिस मात्रा मे वह विशेषाधिकारों पर आधारित व्यवस्था से जुड़ जाता है, उसी मात्रा में वह शक्ति की अभिव्यक्ति भी बन जाता है।'[13]

एंगेल्स का वर्गव्यवस्था सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मार्क्सवादी सिद्धात के प्रतिपादन मे मुख्य योगदान फ्रेडरिक एंगेल्स का माना जाता है। उन्होंने अपने सिद्धांत का अपनी प्रसिद्ध कृति 'आरिजिन आफ फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी ऐंड दि स्टेट' मे विस्तार से वर्णन किया है। एंगेल्स के अनुसार मानवसभ्यता के उदय के पूर्व मनुष्य के विकास के तीन चरण है: जंगली अवस्था (सेवेजिरी), बर्बर अवस्था (बार्बेरिज्म), और सभ्यता विकसित होने से पहले का संक्रमणकाल (ट्राजिशनल स्टेज), जिन्हें सम्मिलित रूप से वे आदिम साम्यवादी युग कहते हैं। जीवनशैली और आर्थिक उत्पादन के स्तर के आधार पर भी एगेल्स ने जंगली और बर्बर अवस्थाओ को तीन तीन उपवर्गों मे बाटा है। समाज में स्त्रियों और पुरुषों की भूमिकाओं के आधार पर भी एंगेल्स मार्गन के विचारो से प्रभावित होकर इतिहास को दो पृथक चरणो मे विभाजित करते है, जिन्हे वे मातृसत्ताक और पितृसत्ताक युग कहते हैं। मैकीवर, जो स्वयं उदारवादी है, एगेल्स के राज्य की उत्पत्ति के विश्लेषण से काफी हद तक प्रभावित मालूम होते है। चूकि ऊपर हम मैकीवर के विचारो की चर्चा कर चुके है, यहा हम एगेल्स और मैकीवर के विचारों की भिन्नताओं पर ही विशेष ध्यान

देंगे। अधिकांश स्थलों पर एंगेल्स और मैकीवर के विचार समानांतर चलते हैं क्योंकि दोनों ही राज्य की उत्पत्ति में विकास और श्रेणीविभाजन के महत्व को स्वीकार करते हैं।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में एंगेल्स का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से भौतिकवादी है जबकि मैकीवर का दृष्टिकोण मुख्यतः चेतनावादी है। मैकीवर के अनुसार राज्य की उत्पत्ति में मुख्य योगदान एक वर्ग द्वारा शक्ति की आकांक्षा और दूसरे वर्ग द्वारा संरक्षण प्राप्त करने की इच्छा का है जिसमें समाज के भौतिक परिवर्तन साधन मात्र हैं। इसी प्रकार भौतिक परिवर्तनों में वे उत्पादन के तरीकों या श्रम के विकास के स्तरों की अपेक्षा परिवार, कुल, जन आदि में प्रचलित लिंगसंबंधों को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं।

एंगेल्स का दृष्टिकोण है : 'भौतिकवादी धारणा के अनुसार, इतिहास का निर्धारक कारक अंतिम रूप में तात्कालिक जीवन का उत्पादन और पुनः उत्पादन है। लेकिन यह स्वयं दो प्रकार का है। एक तरफ जिंदा रहने के साधनों, खाद्यपदार्थों, कपड़े, घरों और उनके लिए आवश्यक उपकरणों का उत्पादन है और दूसरी तरफ स्वयं मनुष्यों का उत्पादन है अर्थात मानवजाति की वंशवृद्धि। किसी भी ऐतिहासिक युग के और किसी भी निर्धारित देश की सामाजिक संस्थाएं, जिनके अंतर्गत मनुष्य रहते हैं, उपर्युक्त दोनों प्रकार के उत्पादनों पर आधारित होती हैं—एक ओर श्रम के विकास के स्तर द्वारा और दूसरी ओर परिवार के द्वारा। जितना कम श्रम का विकास हो और जितनी सीमित मात्रा में उत्पादन और फलस्वरूप समाज का धन हो, उतना ही अधिक प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर लिंगसंबंधों का पड़ता है। तथापि लिंगसंबंधों पर आधारित समाज के ढांचे के अंदर से ही श्रम की उत्पादकता शक्ति बढ़ती जाती है; उसके साथ निजी संपत्ति और विनिमय, धन की विषमताएं, दूसरे लोगों के श्रम की शक्ति के उपयोग की संभावनाएं और तदनुसार श्रेणी संघर्षों का आधार आदि भी बढ़ते हैं। फलतः नए सामाजिक तत्व उभरकर आते हैं जो कई पीढ़ियों तक समाज के पुराने ढांचे को बदलकर नई परिस्थितियों के अनुरूप लाने की कोशिश करते हैं किंतु अंत में दोनों के बीच की विसंगति पूर्ण क्रांति को जन्म देती है। लिंगसंबंधों के आधार पर संगठित यूथों का पुराना समाज नए रूप में विकसित सामाजिक वर्गों से टकराकर टूट जाता है; उसके स्थान में एक नए समाज की, जो राज्य नियंत्रण में रहता है, स्थापना होती है। इसके आधार और इकाइयां क्षेत्रीय गुट हैं, लिंग पर आधारित रक्तवंशीय गुट नहीं। यह एक ऐसा समाज है, जिसमें संपत्तिप्रणाली ने परिवारप्रणाली पर पूरी तौर से प्रभुत्व स्थापित कर लिया है और जिसमें वर्ग शत्रुताएं और वर्ग संघर्ष, जो अभी तक के लिखित इतिहास के मुख्य तत्व हैं, अब खुलकर विकसित होते हैं।'[11]

इस प्रकार एंगेल्स आदिम [illegible] क परिवर्तन को, जिसमें कुलप्रणाली के और जन [illegible] में होने वाले आर्थिक विकास के संदर्भ में देखते [illegible]
चरण—मानव जाति का बाल्यव [illegible]
रहते हैं; वे पेड़ों पर घर बनाते हैं [illegible]

का दूसरा चरण—वे मछली मारना, पत्थर के हथियार बनाना, पत्थर से आग जलाना आदि सीखते हैं।...जंगली अवस्था का तीसरा चरण—वे तीर कमान से भोजन के लिए पशुओं का शिकार करना सीखते हैं; लकडी के बरतन, घर और नाव बनाते हैं; जंगली समाज के लिए तीर कमान का वही महत्व है, जो बर्बर समाज में लोहे की तलवार का और सभ्य समाज के लिए बारूद की तोप का। इसी प्रकार बर्बर समाज के तीन चरणों मे क्रमशः पशुपालन, खेती, लोहे के हथियारों, लिपि और भाषा संबंधी ज्ञान का विस्तार होता है। तदनुसार कबीलों के रहन-सहन, कुल और परिवार के ढांचों और लिंगसंबंधों मे भी आवश्यक परिवर्तन होते हैं।'[15]

एंगेल्स और मैकीवर के विचारों मे दूसरा महत्वपूर्ण अंतर मातृसत्ताक समाज के चरित्र के विषय में है। एंगेल्स के अनुसार इस युग की स्त्रिया परिवार, कुल और जन की व्यवस्था पर अधिकार रखती थी। अतः मातृसत्ताक युग मे स्त्रियों की सत्ता वास्तविक थी। आदिम साम्यवादी परिवार पर स्त्रियों का ही शासन था और पितृत्व की पहचान न होने के कारण जननी के रूप में औरत श्रद्धा और आदर पाती थी। एंगेल्स का कथन है: "अठारहवी सदी की 'बौद्धिक चेतना' (एंलाइटनिमेट) के युग से कुछ अजीबोगरीब धारणाएं प्रचलित हो गई हैं, जिनमें एक यह है कि समाज मे प्रारंभ से ही औरत पुरुष की गुलाम थी। वस्तुतः जंगली अवस्था के तीनों चरणो में और बर्बर अवस्था के दोनों चरणो मे एवं तीसरे चरण के पूर्वार्ध में भी औरत न केवल स्वतंत्र थी बल्कि समाज में अत्यंत आदरणीय समझी जाती थी।"[16]

आदिम साम्यवादी कुल में स्त्रियां एक ही गोत्र की होती थीं अर्थात रिश्ते की बहिनें होती थी, जो अपने पतियो को दूसरे कुलो से प्राप्त करती थी। घर पर, अन्नभंडार पर स्त्रियो का नियन्त्रण था। उनके लिए पति पशुओ को चराने वाला, कंद मूल फल इकट्ठे करने वाला, खेती करने वाला नौकर था जिसे नाराज होने पर स्त्री अपने कुल से तुरंत बाहर कर सकती थी। एगेल्स के शब्दों मे 'न केवल कुल के अतर्गत अपितु प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रिया अत्यधिक शक्ति का उपभोग करती थी। अगर जरूरत हो तो वे सेनापति से उसके सीगों का मुकुट छीनकर उसे साधारण सिपाही बना देती थी और ऐसा करने में उन्हे कोई सकोच नही होता था।'[17] मैकीवर, एगेल्स के उपर्युक्त विचार से कि मातृसत्ताक युग में स्त्रियो के हाथ मे काफी शक्ति थी, सहमत नही हैं। स्त्री शक्ति और संपत्ति की स्वामिनी नही थी, सिर्फ स्त्री के माध्यम से पुरुप शक्ति और संपत्ति का उपभोग करते थे। वह कबीले की रानी हो सकती थी, परतु कबीले का नियंत्रण उसके भाइयों के हाथ में रहता था। एगेल्स इन आपत्तियों को सामंती तथा बुर्जुआ लेखकों की पितृसत्ताक धारणाओं की उपज मानते है जो स्त्री को तथाकथित आधुनिक समाज में भी बराबरी के अधिकार नही देना चाहते।

राज्य की उत्पत्ति मे मातृसत्ताक समाज के पतन, पितृसत्ताक समाज के उदय एवं व्यक्तिगत संपत्ति और दासता की प्रथा के आरंभ ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। एंगेल्स का मत है: 'मातृसत्ता का पतन विश्व के इतिहास में स्त्रीजाति की महान् पराजय थी। पुरुष ने घर का नियंत्रण भी अपने हाथ में ले लिया, औरत को अपमानित किया, दासी

बनाया, अपनी वासना को पूरी करने वाली बांदी बनाया, बच्चों को पैदा करने का यंत्र बनाया।'[18]

बर्बर सभ्यता के तीसरे चरण मे पशुपालन, कृषि, व्यापार, शिल्प, उद्योग आदि की उन्नति से समाज में इतना धन उत्पन्न होने लगता है कि एक वर्ग बहुसंख्यक श्रम करने वाले वर्ग के उत्पादन का एक हिस्सा लेकर स्वयं बिना श्रम किए जीवन बिता सकता है। इस समाज में योद्धा, पुरोहित और शासक स्वामी वर्ग से आते हैं जो दासों तथा अन्य अधीन वर्गों के श्रम का शोषण करते है। स्त्रियां भी दासवर्ग का अंग बन जाती हैं। स्वामी वर्ग दासों, स्त्रियो, खेतों, पशुओं, सदानों आदि को समान रूप से अपनी संपत्ति मानता है। यह शोषण की प्रक्रिया ही राज्य को जन्म देती है। एक वर्ग के द्वारा अन्य वर्गों का शोषण और परिवार में पुरुष द्वारा स्त्री को गुलाम बना लेना दासता के युग से शुरू होकर, सामंती युग से गुजर कर आज तक कायम है। आधुनिक परिवार के बारे मे मार्क्स का मत है : 'आधुनिक परिवार के गर्भ में न केवल दासता बल्कि मध्ययुग के किसानों की चाकरी (सर्फडम) भी अंतर्निहित है क्योंकि शुरू से इसका संबंध खेती संबंधी सेवाओं मे है। इसके अंतर्गत वे सभी शत्रुताएं छोटे आकार में निहित हैं, जिनका समाज और राज्य मे आगे चलकर बड़े पैमाने पर विकास होता है।'[19]

पतिव्रता पत्नी इस बात की गारंटी है कि पुरुष की संपत्ति का उत्तराधिकारी उसका अपना बेटा ही हो किंतु पितृसत्ताक परिवार में पुरुष अनेक स्त्रियो को पत्नियों या बांदियों के रूप मे रखने के लिए स्वतंत्र है। बहुपत्नीत्व प्रथा का लाभ व्यवहार मे केवल स्वामी वर्ग के सदस्य उठाते है। अतः पितृसत्ताक परिवार स्वामी वर्ग की संपत्ति के संस्करण की प्रणाली है।

इरोक्वीस कबीले तथा प्राचीन यूनान और रोम के इतिहास के विश्लेषण द्वारा एंगेल्स ने सिद्ध किया कि समाज में दास वर्ग का जन्म, भौतिक संपत्ति का विकास और मातृसत्ताक परिवार का पतन ही प्रारंभिक राज्य के उदय के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। यही निष्कर्ष जर्मन कबीलो द्वारा सामंती राज्य की स्थापना से निकाला जा सकता है। हां, जर्मन कबीलों का सामंती राज्य दासता के स्थान में किसानों की चाकरी (सर्फडम) पर आधारित है।

एंगेल्स ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तक 'आरिजिन आफ फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी ऍड दि स्टेट' में राज्य की उत्पत्ति और स्वरूप के विषय मे लिखा है : ''राज्य कोई समाज पर बाहर से लादी हुई शक्ति नही है; न यह 'नैतिक विचार की वास्तविकता' है और न यह 'बुद्धि का प्रतिबिंब और सत्य' है, जैसाकि हीगल का विचार था। यह तो समाज के विकास के एक निश्चित चरण की उपज है; यह इस बात की स्वीकृति है कि यह समाज एक ऐसे अंतर्विरोध का शिकार है जिसका कोई हल नही है, कि यह ऐसे संघर्षों से छिन्न-भिन्न हो गया है जिन्हें शांत करने की इसके पास शक्ति नही है। ये संघर्ष और वर्गों के विपरीत आर्थिक हित समाज और इन वर्गों को उद्देश्यहीन संग्राम में भस्म न कर दें, इसलिए प्रकट रूप से समाज के ऊपर स्थित एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता हुई जो इस संघर्ष पर नियंत्रण रख सके और उसे 'व्यवस्था' के अंतर्गत सीमित रख सके; यह शक्ति समाज से ही

उत्पन्न होती है, फिर समाज की पीठ पर सवार हो जाती है और निरंतर उससे अलगाव की भावना रखती है, यही राज्य है।"[20]

लेनिन का भी राज्य के संबंध में यही निष्कर्ष है : 'राज्य श्रेणीसंघर्षों की, जिनमें कोई समझौता संभव नहीं, उपज और अभिव्यक्ति है। राज्य वहां, तब और उस सीमा तक स्थापित होता है जहा, जब और जिस सीमा तक श्रेणीसंघर्ष व्यवहार में सुलझाए नहीं जा सकते और इसके विलोम के रूप मे राज्य का अस्तित्व सिद्ध करता है कि वहा श्रेणी संघर्षों को सुलझाना संभव नही है।'[21] अतः मैकीवर के विकासवादी सिद्धात तथा एगेल्स एवं लेनिन के मार्क्सवादी सिद्धात मे तीसरा अंतर यह है कि मार्क्सवादी सिद्धात में राज्य की उत्पत्ति का निर्णायक कारक दासता की प्रथा के कारण उत्पन्न वर्गसंघर्ष की तीव्रता है जबकि मैकीवर वर्गव्यवस्था को अन्य अनेक कारकों में से एक कारक मानते हैं। मार्क्स-वादियों के अनुसार राज्य वह ऊपरी ढांचा है जिसे पितृसत्ताक समाज मे उभरता हुआ दासो के स्वामियों का वर्ग दासो और स्त्रियों के श्रम के शोषण के लिए और अपनी पारिवारिक और सामाजिक संपत्ति के संरक्षण के लिए बनाता है। धार्मिक विचारों में भी तदनुसार परिवर्तन कर लिए जाते हैं। मातृसत्ताक युग की देवियों की पूजा के स्थान में पितृसत्ताक युग के देवताओं का पूजन शुरू होता है। राज्य मे राजा के निरंकुश प्रभुत्व की स्थापना के साथ साथ एक ईश्वर की उपासना शुरू होती है। राजा को इस ईश्वर का सासारिक प्रतिनिधि मान लिया जाता है। इस प्रकार धर्म वह विचारधारा है जो शासक-वर्ग, शासित वर्गों के आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन का औचित्य सिद्ध करने के लिए विकसित होती है।

संदर्भ

1. थामस हाब्स : 'लेवायथन', खंड दो, अध्याय 17.
2. जे जे रूसो : 'सोशल कंट्रैक्ट', खंड 1, अध्याय 13.
3 टी एच ग्रीन : 'लेक्चर्स आन दि प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल आब्लीगेशन', पृ० [illegible]
4 आर एन गिलक्राइस्ट : 'प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल साइंस', पृ० 72.
5. ए आर लार्ड : 'प्रिंसिपिल्स आफ पालिटिक्स', पृ० 43.
6. आर एम मैकीवर : 'दि माडर्न स्टेट', पृ० 42.
7. वही, पृ० 27.
8. वही, पृ० 33
9 वही, पृ० 46.
10. वही, पृ० 46
11. वही, पृ० 48.
12. वही, पृ० 48-49.
13. वही, पृ० 50
14. कार्ल मार्क्स ऐंड फ्रेडरिक एंगेल्स : 'सिलेक्टेड [illegible] प्राइवेट प्रापर्टी एंड दि स्टेट', पृ० 156.

15. वही, पृ० 169-74.
16. वही, पृ० 191
17. वही, पृ० 191.
18. वही, पृ० 198.
19. वही, पृ० 198, एंगेल्स द्वारा मार्क्स के मत का उद्धरण.
20. वही, पृ० 288-89.
21. लेनिन : 'सिलेक्टेड वर्क्स', खंड II, पृ० 144.

8

राज्य के कार्यक्षेत्र के सिद्धांत

इस अध्याय मे राज्य के कार्यक्षेत्र के सबंध मे दो प्रमुख सिद्धातो की विवेचना की जाएगी। ये सिद्धात उदारवादी और मार्क्सवादी सिद्धात कहलाते है। प्रायः लेखक इस सबंध में व्यक्तिवादी, आदर्शवादी या समाजवादी सिद्धातों की चर्चा करते है। व्यक्तिवादी सिद्धांत उदारवादी सिद्धात का ही प्रारंभिक चरण है। आदर्शवादी सिद्धात, विशेष रूप से टी एच ग्रीन की व्याख्या के अनुसार, उदारवादी सिद्धात का ही नया रूप है। समाजवादी सिद्धांत का विकास उदारवादी सिद्धांतो के विरोध मे किया जाता है। इस सिद्धांत के मुख्य प्रतिपादक मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन हैं। मार्क्स, लेनिन, माओ-त्से-तुग आदि के सिद्धात मार्क्सवादी सिद्धांत कहलाते है। प्रायः लेखक समाजवादी सिद्धात से राज्य समाजवाद, फेबियन समाजवाद, लोकतंत्रीय समाजवाद, लेबर पार्टी के समाजवाद आदि का अर्थ लेते हैं। यह समाजवाद आज उदारवादी सिद्धांत का अंग बन गया है। आज पूजीवादी देशों मे कजरवेटिव और सोशलिस्ट दलों के लोग अपने को उदारवादी ही मानते है, जबकि पारंपरिक लिबरल दलों का प्रभाव लगभग समाप्त हो गया है। ऐसी दशा में आज राज्य के चरित्र और कार्यक्षेत्र के संबंध मे मुख्य वाद-विवाद उदारवादी और मार्क्सवादी विचारधाराओ के बीच में ही होता है। आज के नए उदारवादी पूजीवादी ढांचे के अतर्गत लोककल्याणकारी राज्य के सिद्धांत को मानते है, जबकि मार्क्सवादी समाजवादी क्रांति के जरिए अपने हाथ मे सत्ता लेकर राज्य के नियंत्रण मे आर्थिक योजनाओं के द्वारा समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं।

राज्य के कार्यक्षेत्र का उदारवादी सिद्धांत

उदारवादी सिद्धांत का जन्म आधुनिक युग में व्यापारिक और औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप होता है। सर्वप्रथम जान लाक प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धात के आधार पर राजनीतिक सत्ता को सीमित करना चाहते थे। उनका कथन था कि राज्य को ऐसे कार्य नही करने चाहिए जिनसे व्यक्तियों के जीवन, स्वतंत्रता और निजी संपत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की अवहेलना हो। अठारहवी सदी में यह सिद्धात लोकप्रिय रहा। उन्नीसवीं सदी में भी कुछ लेखकों ने इसे हस्तक्षेप न करने (लेसेज फेअर) की नीति का

दार्शनिक आधार बनाया। यह सिद्धांत बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा। कुछ लेखक आज भी व्यक्तिवादी शैली में अपने राजनीतिक विचार व्यक्त करते हैं। स्पेंसर ने 'मैन वर्सस दि स्टेट' में इस सिद्धांत का संभवत अंतिम बार विस्तार से औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया।

अठारहवीं सदी के पूर्व राज्य व्यक्तियों के मामलों में हस्तक्षेप करना अपना अधिकार मानता था। इस हस्तक्षेप से कुछ व्यक्तियों को महसूस हुआ कि यह उनके विकास में बाधा डालता था। व्यापारियों को व्यापार की स्वतंत्रता पर लगे बंधन अनुचित मालूम हुए। औद्योगिक क्रांति होने पर सरकारी नियंत्रण को औद्योगिक उत्पादन के विकास में रुकावट समझा गया। आर्थिक जीवन में नए क्रांतिकारी आविष्कार किए गए। उद्यमी, उत्साही और विशेष प्रतिभा वाले व्यक्तियों ने उत्पादन बढ़ाया और देश-विदेश के बाजारों में अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए प्रयास करने लगे। अत: आयात-निर्यात पर बंधन उन्हें बड़े अनुचित लगे। उन्होंने मुक्त व्यापार और मुक्त उद्यम के नारे लगाए और निजी संपत्ति के अर्जन, निवेश आदि पर लगी पाबंदियों को हटाने की मांग उठाई। अपने व्यवसाय और उद्यम से प्रत्येक नागरिक को अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

सामंती राज्य और वाणिज्यवादी निरंकुश राज्य की हानिकारक नीतियों के कारण औद्योगिक वर्ग राज्य को एक आवश्यक बुराई मानने लगा जिसके कार्यक्षेत्र को सीमित करना व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हित में है। सामंती शासन की लूट और स्वार्थपरता से तंग आकर ही औद्योगिक मध्यम वर्ग ने राज्य के हस्तक्षेप करने की नीतियों की आलोचना की। फिर भी व्यक्तिवादी उदारवादी अराजकतावादियों की तरह राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। वे मानते हैं कि राज्य की नियामक शक्ति ही समाज में व्यवस्था और शांति कायम रख सकती है। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की जान और माल की रक्षा करे किंतु व्यक्ति का कल्याण राज्य के कार्यक्षेत्र के बाहर है। राज्य का मुख्य कार्य हिंसा और जाल-फरेब को रोकना है। उसे व्यक्ति के पारिवारिक, सांस्कृतिक या आर्थिक जीवन में दखलंदाजी का अधिकार नहीं है। जान स्टुअर्ट मिल के मतानुसार व्यक्ति का अपने ऊपर, अपने शरीर और मस्तिष्क के ऊपर पूर्ण अधिकार है।

हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार राज्य के केवल तीन कार्य उचित हैं: बाहरी शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना; घरेलू शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना; और कानूनी तौर पर किए गए इकरारनामों को लागू करना। गिलक्राइस्ट के अनुसार राज्य के उचित कार्यों की सूची इस प्रकार है:

1. बाहरी आक्रमणों से राज्य और व्यक्ति की रक्षा करना
2. व्यक्तियों की एक दूसरे से रक्षा [illegible] ऐसा [illegible] कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के शरीर [illegible] न कर सके और उस पर किसी प्रका[illegible]
3. चोरी, डकैती या अन्य प्रकार [illegible]
4. गैरकानूनी इकरारनामों से या [illegible]

को रक्षा करना।

5. असमर्थ व्यक्तियों की रक्षा करना।

6. प्लेग, मलेरिया, जैसी निवारणीय बीमारियों से व्यक्तियों की रक्षा करना।[1]

उदारवादियों का आर्थिक तर्क : बेंथम, हाब्स तथा ऐडम स्मिथ के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वार्थी है। व्यक्ति ही अपने हितों को सबसे अच्छी तरह पहचानता है। अगर प्रत्येक मनुष्य को व्यवसाय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो अपने अवसरों और सामर्थ्य का अच्छे से अच्छा उपयोग करेगा। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप में अपने स्वार्थ की पूर्ति करेगा, लेकिन इसके परिणामस्वरूप समाज को भी उसके उत्पादन या व्यापार से लाभ पहुंचेगा। स्वतंत्रता की स्थिति मे पूंजीपति अपनी पूंजी उसी स्थान पर और उसी उद्योग मे लगाएगा, जिसमे उसे अधिकतम मुनाफे की सभावना हो और इस प्रकार वह राष्ट्रीय उत्पादन और धन की वृद्धि में योगदान भी देगा। इसी प्रकार स्वतत्र मजदूर भी इच्छानुसार किसी भी कारखाने के मालिक के साथ इकरारनामे के जरिए काम कर सकता है। मांग और पूर्ति के नियम से समाज के सभी वर्गों को फायदा होता है। ब्याज, मुनाफे, लगान, किराए, वेतन, मजदूरी अथवा कीमतों पर नियंत्रण लगाना आर्थिक विकास के लिए हानिकारक है। आयात-निर्यात पर किसी तरह का प्रतिबंध भी नही होना चाहिए।

उदारवादियों का नैतिक तर्क : जान स्टुअर्ट मिल, टी एच ग्रीन आदि लेखक उदारवादी सिद्धात के पक्ष में नैतिक तर्क देते है। उनका विश्वास है कि चरित्र के विकास के लिए मनुष्य को सोचने, विचारने, विश्वास और कार्य की स्वतत्रता होनी चाहिए। इस स्वतंत्रता के अभाव मे मनुष्य की स्थिति एक यत्र जैसी हो जाती है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है जो अपनी बुद्धि और अंतश्चेतना के उपयोग से अपने आदर्शों को स्वय चुन सकता है। व्यक्ति का उच्चतम विकास तभी होता है जब वह अपने उद्यम और प्रयास के द्वारा अपनी प्रतिभा और चरित्र का विकास करता है। सरकार का हस्तक्षेप एक सीमा तक उचित है किंतु जे एस मिल के शब्दों मे अपने से संबद्ध और दूसरो पर असर करने वाले कार्यों का जो भेद है, राज्य को उसे हमेशा ध्यान मे रखना चाहिए। अतिशासन (ओवर-गवर्न्मेंट) व्यक्ति की उद्यम संबंधी प्रवृत्तियो को दबा देता है और लोग स्वावलंबी बनने के बजाय राज्य पर आश्रित होना सीख लेते हैं। इससे आलस्य, अकर्मण्यता और भिक्षा की मनोभावना को सहारा मिलता है। इस प्रकार समाज और व्यक्ति दोनों का नुकसान होता है। फिर भी टी एच ग्रीन और जान स्टुअर्ट मिल स्वीकार करते हैं कि राज्य व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने के साथ साथ उससे उत्पन्न आर्थिक विषमताओ और अन्याय को कम करने के लिए आवश्यक कदम उठा सकता है। बेंथम और ऐडम स्मिथ की तुलना में टी एच ग्रीन और जे एस मिल राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिक विस्तृत कर देते है। वे सामाजिक न्याय के लिए उठाए हुए कदमो को अनैतिक नही समझते। नशाबंदी के प्रश्न पर ग्रीन और मिल के विचारों मे मतभेद है। ग्रीन इसे नैतिक कार्य मानते हैं किंतु मिल उसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का घातक होने की वजह से अनैतिक कार्य समझते हैं।

हर्बर्ट स्पेंसर की वैज्ञानिक युक्ति : स्पेंसर का मत है कि जीवविज्ञान के सिद्धांत को मानव

निश्चित करेंगे। वस्तुतः ग्रीन तथा अन्य आदर्शवादी भी समाजवादियों की तुलना में राज्य के कार्यक्षेत्र को बहुत संकुचित रखते हैं।

टी एच ग्रीन के अनुसार राज्य और व्यक्ति के लक्ष्य एक जैसे है अर्थात मनुष्य का आत्मविकास। आत्मविकास का अर्थ है—सत्य, सौंदर्य और कल्याण के मार्ग मे आगे बढना। यह उद्देश्य इतना व्यक्तिगत और आत्ममूलक है कि प्रत्येक नागरिक इसे स्वयं अपने प्रयास से ही प्राप्त कर सकता है। बोसाके के अनुसार 'जब सामूहिक इच्छा (राज्य की इच्छा) हमे एक ऐसे सामाजिक स्वभाव के रूप मे नही मिलती जिसे स्वीकार करने के लिए हम स्वयं तैयार हों बल्कि एक शक्ति या शक्ति पर आधारित सत्ता के रूप मे मिलती है तो यद्यपि वह स्वयं हमारी ही इच्छा का दावा क्यों न करे परंतु उस समय उसके इस दावे को मानने मे हम सफल नही हो पाते। परिणाम यह होता है कि हम यत्र की तरह उसकी आज्ञा मानते है या फिर विद्रोह के लिए तैयार हो जाते है।'[3]

इसलिए आदर्शवादी राज्य के कार्यक्षेत्र को नकारात्मक ढग से पेश करते हैं। टी एच ग्रीन का कथन है कि राज्य का काम व्यक्ति के आत्मविकास मे आनेवाली बाधाओ का निराकरण करना है ताकि व्यक्ति सुदरतम और श्रेष्ठतम जीवन व्यतीत कर सके। राज्य का कार्य उन बाह्य सुविधाओ को उत्पन्न करना है जिनके अभाव मे नागरिक अपने अधिकारों का उपयोग करते हुए आत्मविकास करने मे असमर्थ रहते है। कानून का क्षेत्र वे बाह्य परिस्थितियां हैं जिनकी वजह से नागरिक नैतिक विकास के लिए उपयुक्त अवसर प्राप्त कर सकें। टी एच ग्रीन का मत है: 'उत्तरदायित्व का संबंध केवल बाह्य कार्यों से होता है। कानून का आदर्श उसके द्वारा प्राप्त होने वाले नैतिक लक्ष्य से ही निर्धारित किया जाना चाहिए। कानून केवल कुछ कामों के करने या न करने की आज्ञा दे सकता है; परंतु मनोभावनाओं के विषय मे वह कोई आज्ञा नही दे सकता। कानून को केवल ऐसे ही कामों के करने या न करने की आज्ञा देना चाहिए, जिनका किया जाना या न किया जाना—मनोभावना चाहे कुछ हो—समाज के नैतिक लक्ष्य के लिए अभीष्ट है।'[4]

उत्तम जीवन के मार्ग मे बाधाओं को हटाने के सिद्धात को लागू करते हुए टी एच ग्रीन ने अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध, शराब के व्यापार का निषेध, विभिन्न वर्गों को इकरारनामे के संबंध मे सौदेबाजी की समान शक्ति इत्यादि विषयो पर राज्य के हस्तक्षेप और समर्थन को आमंत्रित किया और उन्हें राज्य के उचित कार्यक्षेत्र के अंतर्गत माना है। टी एच ग्रीन औद्योगिक संपत्ति के अधिकारों के समर्थक थे किंतु बडे जमीदारों की जमीनो को लेकर राज्य की शक्ति की मदद से छोटे भूस्वामियों में बाटने का प्रस्ताव भी करते थे। उनका मत है: 'हमें न केवल उन लोगो पर विचार करना चाहिए जिनकी स्वाधीनता मे हस्तक्षेप किया जाता है; बल्कि उन लोगों पर भी विचार करना चाहिए जिनकी स्वाधीनता हस्तक्षेप के कारण बढ जाती है।' शिक्षा की अनिवार्यता, नशाबंदी या मजदूरों के संरक्षण से संबद्ध विधायन और प्रशासनिक हस्तक्षेप से अधिकांश नगरो की स्वतंत्रता बढती ही है, घटती नही। राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में टी एच ग्रीन के विचार समकालीन व्यक्तिवादियों की तुलना में अधिक उदार है। वे सामाजिक न्याय के लिए पूंजीवादी व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन करने के लिए राज्य को अधिकार नही देते। वे

व्यक्तिगत संपत्ति और निजी व्यवसाय की सुरक्षा चाहते हैं। इस दृष्टि से उन्हें भी व्यक्तिवादी उदारवाद का समर्थक मानना चाहिए।

उदारवादी सिद्धांत का मूल्यांकन : उदारवादी सिद्धांत मनुष्य के जीवन के एक पहलू पर इतना अधिक जोर देता है कि दूसरा पहलू बिलकुल भुला दिया जाता है। यह पूंजीवादी व्यवस्था के एक निर्धारित चरण की देन है। राज्य के हस्तक्षेप का विरोध तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक था किंतु उसे पूंजीवादी विकास के वर्तमान चरण में युक्तिसंगत नहीं समझा जा सकता। आज के उदारवादी भी यह स्वीकार नहीं करते कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सुरक्षा की व्यवस्था और अपराधों के दमन तक सीमित रखा जाए। आज सरकारी कार्यक्षेत्र का विस्तार किए बिना अधिकांश लोगों के लिए अपना पूर्ण विकास करना संभव नहीं है। आज इंग्लैंड और अमरीका में राज्य उन अनेक कार्यों को करता है जिन्हें न केवल बेंथम, ऐडम स्मिथ और स्पेंसर असंभव समझते थे बल्कि जे एस मिल और टी एच ग्रीन भी अवांछनीय समझते थे।

उदारवादी मनुष्य को स्वार्थी, सुखापेक्षी और अपने हित के संबंध में विवेकशील निर्णय करने में समर्थ मानते हैं किंतु यह मानवस्वभाव का एकांगी चित्रण है। मनुष्य कुछ सीमा तक स्वार्थी और सामाजिक दोनों ही है। व्यक्तिगत आनंद के अतिरिक्त उसके अन्य आदर्श भी हो सकते हैं। मनुष्य आंशिक रूप से विवेकशील भी है तो उसका दूसरा पक्ष भावनात्मक भी हो सकता है। गार्नर का विचार है कि प्रत्येक समाज में ऐसे मूर्ख मनुष्य भी होते हैं जो अज्ञात संकटों के विरुद्ध सावधान नहीं रहते। कुछ परिस्थितियों में यह संभव है कि राज्य व्यक्ति की भौतिक, मानसिक और नैतिक आवश्यकताओं के विषय में स्वयं उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह अनुमान कर सकता है। अनिवार्य शिक्षा या सार्वजनिक स्वास्थ्य ऐसे ही विषय हैं।

अकसर उदारवादी यह दावा करते हैं कि अगर प्रत्येक व्यक्ति को अपने हित साधने की आजादी हो तो सब लोग सुखी और समृद्ध हो जाएंगे। यह बात तभी सच हो सकती है जब व्यक्तियों के पारस्परिक हितों में परस्पर कोई विरोध न हो। इन विसंगतियों और विरोधों को राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार द्वारा ही दूर किया जा सकता है। कुछ उदारवादी मनुष्य को समाज की पृथक इकाई के रूप में देखते हैं और समाज को व्यक्तियों का कृत्रिम समूह मान लेते हैं। ऐसा आत्मनिर्भर व्यक्ति केवल उदारवादी कल्पना की वस्तु है। बीसवीं सदी के अनेक उदारवादी भी व्यक्ति के बारे में उपर्युक्त धारणा को स्वीकार नहीं करते।

आज भी कुछ उदारवादी मांग और पूर्ति तथा मुक्त प्रतियोगिता के सिद्धांतों में पूरा विश्वास व्यक्त करते हैं। अनुभव से सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त नियम केवल पूंजीवाद के प्रारंभिक विकास के युग के लिए उपयुक्त थे। आज पूंजीवादी व्यवस्था में एकाधिकार, व्यावसायिक गठबंधन और संकेंद्रण का बोलबाला है जो खुली प्रतियोगिता के बिलकुल प्रतिकूल है। सभी उदारवादी राजनीतिक प्रणालियों में आज राज्य भी आर्थिक व्यवस्था में काफी हस्तक्षेप करने लगा है जिसका लक्ष्य पहले खुली प्रतियोगिता में उत्पन्न समस्याओं का हल करना था किंतु आज संकेंद्रण और एकाधिकार से उत्पन्न मसलों का समाधान

करना है। अब ऐडम स्मिथ और हर्बर्ट स्पेंसर की नीतियों को अनैतिक और समाजविरोधी माना जाता है। लास्की का कथन है कि उदारवादियों के व्यक्तिवादी दर्शन का अर्थ है, 'दुर्बल स्वास्थ्य, अविकसित दिमाग, गंदे घर और ऐसा काम जिसमे अधिकतर लोगों को कोई दिलचस्पी नही होती। दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाया जाता है। मजदूर की सौदे-बाजी की ताकत पूंजीपति की शक्ति से कम होने की वजह से आर्थिक दौड़ मे मजदूर की हार निश्चित है।'[6] माग और पूर्ति से मिलने वाला प्रतिफल किसी सामाजिक मूल्य को प्रतिबिंबित नही करता।

राज्य के कार्यक्षेत्र पर मैकीवर के विचार : मैकीवर के विचार बहुलवाद से प्रभावित है किंतु वे स्वयं उदारवादी विचारकों की श्रेणी मे ही गिने जाते हैं। उनका मत है कि राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्णय इस आधार पर होना चाहिए कि राज्य समाज के एकमात्र सगठन के रूप में नही बल्कि समाज के बहुत से संगठनो मे एक संगठन के रूप मे से काम कर सकता है। उनके सम्मुख विशेष समस्या यह नहीं कि राज्य को क्या और क्या नही करना चाहिए। प्रश्न यह है कि अन्य सामाजिक संगठन और स्वय राज्य का अपना सीमित रूप उसे क्या करने की अनुमति और अवसर देते हैं। उनके सिद्धात का निष्कर्ष वही है जो लोककल्याण के समर्थक अन्य उदारवादी विचारक चाहते है।

मैकीवर के अनुसार राज्य का मुख्य कार्य व्यवस्था कायम करना और व्यक्तित्व का सम्मान करना है। साधारण रूप से विचारो पर नियंत्रण करने का अधिकार राज्य को नही है किंतु कुछ परिस्थितियों में वह ऐसा कर सकता है :

1. विचार की स्वतंत्रता के अंतर्गत अदालत के विचाराधीन मामलो पर चर्चा करना या अन्य नागरिकों के बारे में निंदा के वक्तव्य देना शामिल नही है।
2. यही नियम ऐसे साहित्य पर लागू होता है जो कानून द्वारा वर्जित अनैतिक कार्यों के लिए प्रेरित करता है।
3. राज्य अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए तोड़-फोड़ की कार्यवाही के प्रचार पर प्रतिबंध लगा सकता है।

मैकीवर का विचार है राज्य कानून द्वारा नैतिकता को लागू नही कर सकता। कानून केवल बाहरी कार्यों के विषय मे नियम बना सकता है। उसे नैतिक विकास के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियो को पैदा करने के कार्य तो करने चाहिए किंतु स्वयं नैतिक नियमों को कार्यान्वित करने का सीधा प्रयास नही करना चाहिए। सभी नैतिक जिम्मेदारियों को कानूनी उत्तरदायित्व बना देने से नैतिकता ही नष्ट हो जाएगी। मैकीवर कहते है : 'नैतिकता की अपील हमेशा व्यक्ति की अपनी उचित-अनुचित की भावना पर आधारित है, अंतिम रूप में व्यक्ति का अच्छे बुरे का विवेक ही उसका विधायक होता है।'[6]

यद्यपि राज्य के कार्यक्षेत्र से नैतिकता को बाहर माना गया है परंतु नागरिकों के लिए राज्य के आदेशो का पालन करना उनका नैतिक कर्तव्य है। मैकीवर का कथन है : 'हम कानून का पालन इसलिए नही करते कि हम उसे उचित मानते हैं अपितु इसलिए कि हम कानून के पालन को उचित समझते हैं। नही तो प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय

कानून के पालन में विवशता का अनुभव करेगा और राज्य के अंतर्गत इतना अधिक संघर्ष उत्पन्न हो जाएगा कि राज्य का कार्य बुरी तरह अस्तव्यस्त हो जाएगा।'[7]

जिस प्रकार राज्य के लिए नैतिकता के नियमों को कानून के द्वारा कार्यान्वित करना कठिन और अवांछनीय है, उसी तरह राज्य के लिए धार्मिक रीतियों और नियमों को कार्यान्वित करना मुश्किल और अनावश्यक है। किसी भी धार्मिक संप्रदाय के लिए यह उचित नहीं कि जिन लोगों को वह स्वयं अपना अनुयायी नहीं बना सकता उन्हें जबर-दस्ती राज्य की शक्ति की सहायता से अपना अनुयायी बनाने का प्रयास करे। आज के युग में धर्म केवल नैतिक अपील पर निर्भर रह सकता है न कि राजनीतिक सत्ता पर।

इसी प्रकार मैकीवर मानते हैं कि न तो राज्य आसानी से पुरानी प्रथाओं के प्रचलन को बंद कर सकता है और न उसके लिए ऐसा करने का प्रयास करना उचित है। लोकतंत्र में कभी कभी बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यक समुदायों की परंपराओं को समाप्त करने की कोशिश करते हैं लेकिन अनुभव से यही पता चलता है कि राजनीतिक शक्ति के प्रयोग से अल्पसंख्यक समुदाय की परंपराओं को बदलना भी बहुत कठिन कार्य है। भारत में सरकार अभी तक मुस्लिम पारंपरिक कानून में परिवर्तन नहीं कर सकी है। अतः मैकीवर का मत है: 'खतरनाक परंपराओं को कानून द्वारा समाप्त करना आवश्यक हो सकता है, परंतु सामाजिक रीति-रिवाजों की सामान्य रूपरेखा कानून की सीमा से बाहर की बात है। उसे न तो राज्य बना सकता है और न मिटा सकता है।'[8]

रीति-रिवाजों से भी अधिक कठिन कार्य फैशन का नियंत्रण है। कोई भी राज्य चाहे भी तो स्त्रियों के फैशन के बारे में यह निश्चित नहीं कर सकता कि वे किस तरह की पोशाक पहनें या न पहनें। मैकीवर का कथन है: 'यह राज्य के अधिकारों के परिसीमन का विचित्र उदाहरण है। लोग बड़ी उत्सुकता और लालसा से पेरिस, लंदन या न्यूयार्क के किसी अज्ञात गुट द्वारा प्रचारित फैशन को ग्रहण कर लेते हैं, परंतु यदि राज्य इसी प्रकार के किसी मामूली परिवर्तन की आज्ञा दे तो उसे भयानक अत्याचार समझा जाएगा। संभव है उससे क्रांति भी हो जाए।'[9]

इसी प्रकार कला, साहित्य और संगीत प्रत्यक्ष रूप से राज्य के नियंत्रण की सीमा में नहीं आते। इन सभी क्षेत्रों में कोई भी जाति या सभ्यता अपने स्वतंत्र मार्ग पर चलती है। राज्य के लिए यह अवांछनीय और आवश्यक है कि वह इन जातियों के सांस्कृतिक जीवन में, उनकी भाषा और लिपि में उनके सहमति के बिना परिवर्तन और हस्तक्षेप करने का प्रयास करे। संस्कृति की उपलब्धियों को कार्यक्षेत्र के बाहर समझना चाहिए।

राज्य को युद्ध और शांति का पूरा अधिकार होता है। इसीलिए उसे सभी प्रकार के समुदायों और व्यक्तियों पर जीवन और मृत्यु का अधिकार रहता है। राज्य राजनीतिक विवादों को बलप्रयोग द्वारा हल करने के अधिकार का दावा भी करता है। वह राज-नीतिक उद्देश्यों को सभी समुदायों के उद्देश्यों से उच्चतर मानता है। युद्ध की घोषणा करते समय राज्य अपने राजनीतिक उद्देश्य को परिवार के सामान्य उद्देश्यों, सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक उद्देश्यों से अधिक महत्वपूर्ण समझता है। मैकीवर का विचार है कि राज्य के इस अनियंत्रित अधिकार का भी परिसीमन होना बहुत आवश्यक है। राज्य को

पूरे समाज या जाति का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। अत: उसे बिना अन्य समुदायों की सहमति के या समाज की स्पष्ट सहमति के युद्धघोषणा का असीमित अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

अत. राज्य के कार्यक्षेत्र को मैकीवर भी अन्य उदारवादियों की तरह सीमित रखते हैं पर ये सीमाएं व्यक्तियों के दृष्टिकोण के बजाय समुदायों के दृष्टिकोण से लगाई गई हैं। व्यावहारिक तौर पर वे सभी कार्य राज्य के कार्यक्षेत्र में आते हैं, जिन्हें व्यक्तियों अथवा सामाजिक समुदायों की तुलना मे राज्य अधिक दक्षता से कर सकता है। मैकीवर के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र मे निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं : (1) दुर्बलों की रक्षा करना; (2) स्वस्थ और सुंदर जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों को बनाए रखना; (3) ऐसे बड़े रचनात्मक उद्योगो को कार्यान्वित करना जिनका फल आने वाली पीढ़ियों को मिले : (4) नगरनिर्माण की योजनाओ को कार्यान्वित करना; (5) गावों, वनों, झीलो, पर्वतों के सौंदर्य की रक्षा; (6) सिंचाई की नई सुविधाएं देना; (7) देश की धरती का सदुपयोग करना; (8) पशुओं और वृक्षों की नस्ल सुधारना; (9) हानिकारक कीट-कीटाणुओं का नियंत्रण; (10) पारस्परिक सहयोग द्वारा उद्योगों की स्थापना मे सहायता; (11) मुद्रा ऋण पर नियंत्रण रखना, (12) उद्योगों, व्यापार और व्यवसाय को प्रोत्साहन देना; (13) मनुष्य की सामर्थ्य का विकास और संरक्षण करना; (14) शिक्षा और सांस्कृतिक जीवन का उत्थान करना।

राज्य के कार्यों की यह एक लंबी सूची है। यह सिद्ध करता है कि मैकीवर राज्य के कार्यों पर अनेक सीमाएं लगाने के बावजूद उसे विस्तृत कार्यक्षेत्र देना चाहते हैं। वे आधुनिक उदारवाद के प्रतीक है, जो व्यक्तिगत संपत्ति और आतरिक प्रेरणा को अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार मानते हुए राज्य को एक लोककल्याणकारी राज्य बनाने की इच्छा से उसके कार्यक्षेत्र का विस्तार करने के लिए तैयार है। वे बीसवी सदी के वस्तुत अत्यंत उदार उदारवादी हैं, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समाजकल्याण के राजनीतिक मूल्यों के बीच में सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं।

उदारवादी दृष्टि से राज्य के कार्यों का वर्गीकरण : उदारवादी लेखक प्राय: राज्य के कार्यों को दो वर्गों मे बांटते हैं : मौलिक या अनिवार्य कार्य तथा वैकल्पिक या कल्याणकारी कार्य। अनिवार्य कार्यों मे वे कार्य शामिल है जो राज्य के अस्तित्व के लिए, नागरिकों की स्वाधीनता के लिए तथा उनकी संपत्ति तथा जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। ये कार्य तीन प्रकार के संबंधों से निर्धारित होते है : राज्य का अन्य राज्यों से संबंध, राज्य का नागरिकों से संबंध तथा नागरिकों का पारस्परिक संबंध। वुडरो विलसन के अनुसार राज्य के मौलिक कार्य निम्नलिखित है :

1. व्यवस्था बनाए रखना तथा हिंसा, चोरी, लूट आदि मे लोगों के जीवन और संपत्ति की रक्षा करना।
2. पत्नी और पति तथा माता-पिता और संतान के आपसी कानूनी संबंध स्थिर करना।
3. संपत्ति के अधिकार, हस्तांतरण और विनिमय के बारे में नियम बनाना तथा

ऋण और अपराध के लिए जायदाद पर दायित्व निर्धारित करना।
4. नागरिको के आपसी इकरारनामों से संबद्ध अधिकारों को निश्चित करना।
5. अपराधों को परिभाषित करना और उनके लिए दंड तय करना।
6. दीवानी के मामलो मे न्याय की व्यवस्था।
7. नागरिकों के राजनीतिक कर्तव्यों, विशेषाधिकारों और संबंधों को तय करना।
8 अन्य राज्यों से राज्य के संबधों को निश्चित करना; बाहरी खतरो या हमलो से देश की रक्षा करना और उसके अंतर्राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखना।

वुडरो विलसन के अनुसार सरकार के वैकल्पिक कार्य निम्नलिखित हैं :
1. उद्योग और व्यापार का नियंत्रण।
2. श्रम का नियंत्रण।
3 आवागमन की व्यवस्था का नियंत्रण।
4. डाक तार की व्यवस्था का प्रबध।
5. गैस का उत्पादन और वितरण, जल की व्यवस्था आदि।
6. स्वास्थ्य से संबद्ध व्यवसायों का नियत्रण।
7. शिक्षा का प्रबध।
8. निर्धन और असमर्थ लोगों की देखभाल।
9 वनो की देखभाल, मछली व्यवसाय को प्रोत्साहन आदि।
10. फिजूल खर्ची रोकने के लिए कानून बनाना, जैसे नशाबंदी का कानून।

गार्नर ने सार्वजनिक कल्याण को राज्य के वैकल्पिक कार्यों का आधार माना है। पुलिस द्वारा व्यवस्था स्थापित करना ही राज्य के कर्तव्यों का अंत नही है। राज्य को तो राष्ट्रीय जीवन को पूर्णता प्रदान करने मे, राष्ट्रीय धन और राष्ट्रीय कल्याण के विकास मे और उसके मानसिक, नैतिक और सास्कृतिक उत्थान मे योगदान देना चाहिए। श्रेष्ठ मानवजीवन के लिए जिन वस्तुओ की जरूरत है और जिन्हें पाने का प्रत्येक नागरिक को अधिकार है, उन सभी वस्तुओं को सभी के लिए उपलब्ध बनाना राज्य का कर्तव्य है। राज्य को साहित्य, कला और विज्ञान को प्रोत्साहित करना चाहिए और सामाजिक तथा आर्थिक विकास मे पूरा योगदान देना चाहिए। इसी प्रकार प्राइवेट इजारेदारियों के खिलाफ राज्य को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। उसे इजारेदारी की बुराइयो से जनता के हितो की रक्षा करनी चाहिए। फिर भी निजी स्वतंत्रता और प्रेरणा को नियम समझना चाहिए और सरकारी हस्तक्षेप को अपवाद मानना चाहिए। जो काम व्यक्ति निजी प्रयत्न से राज्य की तरह या राज्य से भी अच्छी तरह कर सकते हैं, उन्हें करने के लिए राज्य को कभी प्रयास नही करना चाहिए। जब यह बिलकुल स्पष्ट हो कि राज्य के हस्तक्षेप से सार्वजनिक हित होगा, तभी राज्य को हस्तक्षेप करने का साहस करना चाहिए।

राज्य के कार्यक्षेत्र का समाजवादी सिद्धांत

राज्य समाजवादी राज्य को निश्चित रूप से एक लाभकारी संस्था मानते हैं। इसलिए

उनकी माग है कि राज्य को कम से कम कार्य करने की बजाय अधिक से अधिक कार्य करने चाहिए। उनका कहना है कि यही एक रास्ता है जिसके द्वारा मानवजाति के लिए सामाजिक और आर्थिक न्याय प्राप्त हो सकता है। उनका उद्देश्य है कि सहयोग के आधार पर एक ऐसे नए राजनीतिक समाज की रचना हो जिसमे राज्य का उत्पादन के साधनों और विनिमय की प्रक्रिया पर नियंत्रण हो और जो सामूहिक वितरण की प्रणाली से समाज मे धन और वस्तुओं का न्यायपूर्ण वितरण करे। कुछ समाजवादी लेखक राज्य द्वारा आर्थिक व्यवस्था के नियंत्रण के स्थान मे उत्पादन के साधनो पर राज्य का स्वामित्व चाहते हैं और निजी उद्योगों और व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण करना चाहते है।

लोकतंत्रीय समाजवादी मानते हैं कि पूजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत भी शातिपूर्ण तरीकों से राज्य के कार्यक्षेत्र को विस्तृत करके मजदूरवर्ग के हित के लिए बहुत से कार्य किए जाते हैं। वे उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता महसूस नहीं करते। वस्तुतः अब विकासवादी समाजवादियो और लोककल्याण के समर्थक उदारवादियों के राज्य के कार्यक्षेत्र संबंधी सुझावो में विशेष अंतर नही है। वस्तुतः ऊपर मैकीवर और गार्नर ने राज्य के जिन कार्यों की चर्चा की है, लोकतंत्रीय समाजवादी भी वैसे ही कार्यों का सुझाव देते हैं।

लास्की जैसे कुछ लोकतंत्रीय समाजवादी समाज मे एक मौलिक परिवर्तन की माग भी करते हैं। आजकल पूजी और शक्ति थोड़े से लोगों के हाथ मे इकट्ठी है। मजदूर को उसके श्रम का उचित मूल्य नही मिलता। चूंकि मजदूरों की आर्थिक शक्ति मालिको की आर्थिक शक्ति से कम होती है, इसलिए मजदूरों को विवश होकर मालिकों से दबकर रहना पड़ता है। अतः लास्की चाहते हैं कि बडे और महत्वपूर्ण उद्योगो को राज्य अपने हाथ मे लेकर प्रबंध करे और सरकारी तथा प्राइवेट उद्योगों के प्रबंध में मजदूरों के प्रतिनिधियों की समितियों को निर्णयकारी अधिकार मिलें।

इसी प्रकार लास्की का विचार है कि वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था में धन और अवसरप्राप्ति की व्यापक असमानताएं हैं। इन्हे समाजवाद द्वारा ही रोका जा सकता है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन के लिए कोई योजना नही होती। अगर समाज को किसी वस्तु के उत्पादन या सेवा की आवश्यकता है तो व्यर्थ ही अनेक लोग बिना किसी पूर्व योजना के उत्पादन शुरू कर देते हैं जिससे समाज की पूंजी और श्रम की फिजूलखर्ची बढती है। इसलिए लास्की का मत है कि राज्य को आर्थिक योजनाओं के माध्यम से उत्पादन पर नियंत्रण रखना चाहिए। समाजवाद मे सावधानी से बनाई गई आर्थिक योजनाओं से श्रम और पूंजी का गलत और व्यर्थ उपयोग, आवश्यकताओं से अधिक बेकार उत्पादन, अनावश्यक विज्ञापनो का खर्च और हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन रोक दिया जाएगा।

वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था में मुनाफाखोरी, बेईमानी, अन्याय, धनलोलुपता आदि का बोलबाला है। राज्य को चाहिए कि वह समाजवादी अर्थव्यवस्था के जरिए उपर्युक्त बुराइयों को समाप्त करे। समाजवाद के आदर्श के अनुसार परोपकार, कार्य में स्वाभाविक रुचि, समाज के लिए उपयोगी बनने की इच्छा जैसी प्रवृत्तियों का विकास किया जाना

चाहिए। लास्की के कथनानुसार सामूहिक स्वामित्व और सामूहिक प्रबंध का अर्थ आर्थिक क्षेत्र में लोकतंत्र की स्थापना करना है। समाजवाद का लक्ष्य ही औद्योगिक प्रजातंत्र कायम करना है। वस्तुत. राजनीतिक प्रजातंत्र का तार्किक परिणाम और स्वाभाविक विकास ही समाजवाद है। लास्की के अनुसार राज्य को निम्नलिखित कार्य अवश्य करने चाहिए :

1. बैंकों का राष्ट्रीयकरण और प्रबंध।
2. कोयला, इस्पात जैसे महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और प्रबंध। रेलमार्ग का राष्ट्रीयकरण।
3. माध्यमिक स्तर तक अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा।
4. योग्य छात्रों के लिए निःशुल्क उच्च शिक्षा।
5. निःशुल्क डाक्टरी सहायता।
6 प्रत्येक नागरिक को कार्य देना और बेकारी का उन्मूलन करना। तदर्थ जरूरी कानून बनाना।
7. निजी उद्योगो और व्यापार का सामाजिक हित मे नियंत्रण। प्रबंध मे मजदूरों की भागीदारी दिलाना।
8. वित्तीय और विधायी नीतियों द्वारा धन का न्यायोचित वितरण करना।
9. सभी नागरिको के लिए न्यूनतम वेतन निर्धारित करना और उसे कार्यान्वित कराना।
10 सभी नागरिको के लिए आवश्यक वस्तुओ को सार्वजनिक वितरण द्वारा उपलब्ध बनाना।
11. वृद्धो, बीमारो, बेकारो का बीमा करना और उन्हे राहत देना।
12. निर्धन वर्गों के सांस्कृतिक विकास के लिए कार्य करना।
13. आर्थिक योजनाओ के द्वारा राष्ट्र के संसाधनों का विकास करना।
14 सहकारी आंदोलन को प्रोत्साहन देना।
15. कमजोर वर्गों की सहायता के लिए उपयोगी कानून बनाना। उन्हे उन्नति के समान अवसर देना।

आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार उपर्युक्त सूची मे उल्लिखित कार्यों मे आगे वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार लास्की, जो किसी समय बहुलवादी रहे थे और उस समय राज्य के कार्यों को सीमित रखने के पक्ष मे थे, अन्य लोकतंत्रीय समाजवादियों की तुलना मे राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिक विस्तृत करना चाहते हैं। संक्षेप में लास्की के अनुसार समाजवाद वह सिद्धात या नीति है जिसका लक्ष्य केंद्रीय लोकतंत्रीय सत्ता के माध्यम से सपत्ति का न्यायोचित वितरण करना और उस वितरण को पूरा करने के लिए उत्पादन का सुनियोजित विकास करना है। वे चाहते है कि उद्योगों का संचालन व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से न करके सामाजिक आवश्यकताओं की दृष्टि से किया जाए।

राज्य के कार्यक्षेत्र का मार्क्सवादी सिद्धांत

राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध मे मार्क्सवादी सिद्धात को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम आधुनिक राज्य के द्वंद्वात्मक रूप को अच्छी तरह समझ लें। आधुनिक राज्य या तो विकसित पूंजीवादी राज्य होता है और या समाजवादी राज्य होता है। इसी प्रकार, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में अनेक अविकसित पूंजीवादी या मिश्रित अर्थ-व्यवस्था वाले देश हैं। पूंजीवादी राज्यों के मार्क्सवादी सर्वप्रथम राजनीतिक आंदोलन और सर्वहारावर्ग की क्रांति के द्वारा पहले सत्ता अपने हाथ मे लेना चाहते हैं और तदुपरांत राज्य के संचालन मे समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं। जब तक क्रांति न हो तब तक उनकी मागें राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध मे लगभग वही हैं जिन्हें हैरोल्ड लास्की ने स्वीकार किया है। परंतु उनका विश्वास है कि पूंजीवादी राज्य सच्चे अर्थों में मजदूरवर्ग का हितैषी नहीं हो सकता। लोककल्याण राज्य भी मूल रूप से एक पूंजीवादी राज्य होता है जिसमें पूंजीपतियो द्वारा मजदूरों का शोषण जारी रहता है। मजदूरों को क्रांति के रास्ते पर चलने से रोकने के लिए आज विकसित पूंजीवादी राज्य लोककल्याण के नाम से पूंजीपतियों के मुनाफो का एक सीमित अश कर रूप में लेकर मजदूरों और निम्नवर्गों के लाभ के लिए खर्च कर देते हैं। एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमरीका के अविकसित या अल्पविकसित राज्य आर्थिक पिछड़ेपन की वजह से लोक-कल्याण के क्षेत्र में इतना भी नही कर पाते। वस्तुतः मार्क्सवादी कहते हैं कि इन देशों मे आर्थिक पिछडेपन का मुख्य कारण विकसित पूंजीवादी देशो द्वारा साम्राज्यवादी और नवसाम्राज्यवादी नीतियो के जरिए शोषण करना है।

अत. राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध में हम मुख्य रूप से समाजवादी राज्यों की नीतियों को ध्यान मे रखकर ही कार्यक्षेत्र के सबंध मे मार्क्सवादी सिद्धात की विवेचना करेंगे। राज्य के विषय में मार्क्स की द्वंद्वात्मक धारणा का एक पक्ष तो पूंजीवादी राज्य और समाजवादी राज्य के मौलिक वर्गीय आधारों के अंतर को समझना है। मार्क्स की द्वंद्वा-त्मक धारणा का दूसरा पक्ष यह भी है कि समाजवादी राज्यों मे राज्य के कार्यक्षेत्र के वर्तमान विस्तृतीकरण का अंतिम उद्देश्य वर्गीय शोषण का अंत कर वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है, जिसके परिणामस्वरूप साम्यवादी समाज मे राज्य का लोप हो जाएगा। साम्यवादी दलो द्वारा शासित राज्यों में आज उनका कार्यक्षेत्र और योगदान कितना ही व्यापक क्यों न हो, द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से यह राज्य को समाप्त करने की तैयारी है।

मार्क्सवादी कहते है कि जिस तरह किसी इमारत के बनाने के लिए निर्माण को केवल उपलब्ध सामग्री पर निर्भर रहना पडता है, उसी तरह नए सामाजिक भवन अर्थात समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण भी अपदस्थ पूंजीवाद से विरासत मे मिली सामग्री से ही किया जा सकता है। फिर भी गुणात्मक रूप से समाजवादी समाज एक नया समाज है, जिसका निर्माण राजनीतिक और सामाजिक संबंधों के बुनियादी ढाचे में परिवर्तन किए बिना नहीं हो सकता। पराजित पूंजीपति वर्ग इन परिवर्तनों का भयानक विरोध करता है।

अतः क्रांतिकारी समाजवादी राज्य का पहला कार्य है इन अपदस्थ शोषकों के प्रतिरोध को दबाना, राज्यसत्ता को रूपांतरित करना, मजदूर वर्ग के अधिनायकतंत्र के जरिए नई सरकारी मशीनरी को स्थापित करना, और क्रांतिकारी व्यवस्था को मजबूत बनाना है।

क्रांतिकारी समाजवादी राज्य का दूसरा कार्य मजदूर वर्ग तथा अन्य शोषित वर्गों की एकता कायम करना, जनसमुदाय को सार्वजनिक प्रशासन मे सहभागी बनाना और उन्हे क्रांतिकारी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संगठनों तथा श्रेणीगत समुदायों में संगठित करना है। महिलाओं और युवाओ मे जागृति उत्पन्न करना और उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय करना आवश्यक है।

पूंजीवाद और समाजवाद के बीच मे संक्रमण काल मे समाजवादी राज्य के मुख्य आर्थिक कार्य हैं : उत्पादन साधनों पर निजी स्वामित्व का उन्मूलन और सामाजिक स्वामित्व की स्थापना; उत्पादन के सामाजिक संबंधों को लागू करना; समाजवादी सहकारिता के आधार पर किसानों तथा दस्तकारों का संगठन; अर्थव्यवस्था का योजनाबद्ध विकास; तथा जनता के जीवनस्तर को ऊंचा उठाने के लिए समाजवादी उत्पादन को लगातार बढ़ाना।

इस संक्रमणकाल मे सांस्कृतिक और नैतिक क्षेत्र मे समाजवादी राज्य को निम्नलिखित कार्य करने चाहिए : शिक्षा, विज्ञान और तकनीक की प्रणाली का समाजवादी पुनर्गठन; श्रम के प्रति समाजवादी दृष्टिकोण पैदा करना; लोगों को समाजवादी नैतिकता में दीक्षित करना; जनता में वैज्ञानिक समाजवाद के आधार पर नया विश्वदृष्टिकोण उत्पन्न करना; तथा कला, विज्ञान, साहित्य आदि की उन्नति करना।

समाजवाद से पहले उत्पादन की सभी पद्धतिया पूर्ववर्ती पुराने समाज से अपने आप स्वतः स्फूर्त ढंग से उभरी थीं, जिसमें मनुष्य की चेतना या इच्छा शक्ति की कोई स्पष्ट भूमिका नही थी। उत्पादन की पुरानी पद्धति से नई पद्धति का इस प्रकार विकास इसलिए संभव हुआ क्योंकि दोनो पारंपरिक समाजो का एक ही आधार था अर्थात उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व। उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ साथ केवल उत्पादन के रूप बदले, परंतु दास-स्वामियों, भूसामंतों या पूंजीपतियों का संपत्ति पर निजी स्वामित्व बराबर बना रहा। इसके अलावा अपना प्रभुत्व बनाने के लिए वे इन पुराने आर्थिक रूपों को कायम रखने का हर तरह प्रयास करते हैं।

परंतु समाजवाद किसी एक ही राज्य के अंतर्गत अर्थव्यवस्था के विभिन्न शोषक रूपों के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रहते हुए पूंजीवादी प्रणाली के ढांचे के अंतर्गत उत्पन्न और विकसित नही हो सकता। समाजवादी समाज सभी पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्थाओं से बुनियादी रूप मे भिन्न है क्योंकि उसका आधार सार्वजनिक स्वामित्व है और यह मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को अनुचित घोषित करता है।

समाजवादी क्रांति पहले की सभी क्रांतियों से भिन्न है। वह समाज को धनी और निर्धन, उत्पीडक और उत्पीडित में विभक्त करने वाले कारणों को ही दूर कर देती है। वह उत्पादन साधनों पर निजी स्वामित्व को खत्म कर देती है। यह क्रांति सार्वजनिक,

समाजवादी स्वामित्व कायम करती है। सार्वजनिक स्वामित्व निजी स्वामित्व से अपने आप ही विकसित नही हो सकता। उसके लिए क्रांतिकारी राज्य ही कदम उठा सकता है। बड़े जमीदार या पूजीपति कभी भी स्वेच्छा से जमीनों, कारखानो तथा मिलों, बैंकों आदि पर से अपने स्वामित्व और अधिकार को नही छोड़ेंगे। यद्यपि पूंजीवादी समाज की सारी संपदा साधारण लोगों के श्रम से पैदा की गई है, लेकिन जब तक निजी स्वामित्व को सामाजिक स्वामित्व में बदलने का साधन मजदूर वर्ग क्रांति के द्वारा अपने हाथो में नही ले लेता, तब तक वह इस संपदा का मालिक नही बन सकता। यह साधन है राज्य के संचालन की शक्ति और विजयी सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व।

आर्थिक सुधार और समाजवादी राष्ट्रीयकरण : मार्क्सवादियों के अनुसार अर्थव्यवस्था सामाजिक जीवन का आधार है और इसीलिए आर्थिक सुधार मुख्य रूप से निजी स्वामित्व का उन्मूलन तथा सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना संक्रमणकाल मे राज्य के बडे महत्व-पूर्ण कार्य हैं। सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करने का मुख्य साधन समाजवादी राष्ट्रीय-करण है।

समाजवादी राष्ट्रीयकरण से हमारा तात्पर्य उत्पादन के बुनियादी साधनों पर पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व को खत्म करना और उन्हें सर्वहारा राज्य की संपत्ति बनाना है। इनमें कारखाने, रेलवे, समुद्र तथा नदी परिवहन, बड़े व्यापारिक उद्यम और भूस्वामियों के कृषि फार्म आदि शामिल हैं। बड़े उद्योगों व बैंकों का राष्ट्रीयकरण और विदेश व्यापार पर एकाधिकार करना राज्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। इससे राज्य को जनता की भलाई के लिए, आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए, उत्पादन और वितरण के योजनाबद्ध प्रबंध के लिए और पूंजीवाद से देश की आर्थिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण आधार मिल जाता है।

राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप उत्पादन के संबंधों मे निहित सहयोग एवं पारस्परिक सहायता और श्रम के अनुरूप वितरण पर आधारित समाजवादी आर्थिक प्रणाली कायम हो जाती है। समाजवादी प्रणाली के शोषण का उन्मूलन किया जाता है और पूर्ववर्ती पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध दूर हो सकते हैं। राष्ट्रीयकृत उद्योगो से सर्वहारा राज्य को सुदृढ आर्थिक आधार प्राप्त होता है जो समाजवाद की प्रगति के साथ लगातार विस्तृत होता जाता है।

समाजवादी राज्य में राष्ट्रीयकरण के तीन रूप हैं। इनमें पहला रूप राजकीय पूंजीवाद है। समाजवादी राज्य का राजकीय पूंजीवाद पूंजीवादी राज्य के राजकीय पूंजीवाद से बहुत भिन्न है। पूंजीवादी राज्य के अंतर्गत राजकीय पूंजीवाद का अर्थ है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों पर पूंजीपतियों का नियंत्रण है। समाजवादी राज्य मे राष्ट्रीयकृत उद्योगों पर सर्वहारा वर्ग का नियंत्रण होता है। वहां इसके कई रूप हो सकते हैं। उदाहरणार्थ राज्य उद्योग के राष्ट्रीयकरण के बाद निश्चित अवधि और निर्दिष्ट शर्तों पर उस उद्योग को प्रबंध के लिए पट्ट पर उद्योगपतियों को दे देता है। संयुक्त पूंजी वाले उद्योग भी इसी कोटि में आते हैं। राज्य और उद्योगपतियों दोनो का उन पर संयुक्त स्वामित्व होता है और उत्पादन तथा लाभ में दोनों पक्षों को उचित भाग दिया जाता है। राज्य के स॰

किए गए अनुबंध के अनुसार व्यापार करने वाली बड़ी पूंजीवादी कंपनी राजकीय पूंजीवाद का तीसरा रूप है। राज्य खरीद और बिक्री, फुटकर और थोक मूल्यों का निर्धारण आदि का कार्य करता है।

समाजवादी राज्य बड़े जमींदारों की जमीनों का भी पूर्णतः या आंशिक रूप में तुरंत राष्ट्रीयकरण कर देता है। सोवियत रूस में क्रांति के बाद सारी जमीन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और उसका बहुत बड़ा भाग सदा के लिए किसानों में मुफ्त बांट दिया गया। दूसरे हिस्से का इस्तेमाल राज्य ने सरकारी फार्मों को कायम करने के लिए किया।

संक्रमण काल में समाजवादी राज्य परिस्थितियों के कारण बहुक्षेत्रीय व्यवस्था कायम करता है। इसका पहला और महत्वपूर्ण हिस्सा सार्वजनिक राजकीय संपत्ति का होता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन या व्यापार करनेवाली पूंजीवादी संस्थाओं को तुरंत अपने स्वामित्व में लेकर स्वयं उनका संचालन करता है। यह अर्थव्यवस्था का समाजवादी क्षेत्र होता है। दूसरा क्षेत्र लघु पण्य (कमोडिटी) उत्पादन क्षेत्र है जो क्रांति के पहले से कायम होता है। इनमें कुछ किसान, शिल्पकार आदि आते हैं। तीसरा क्षेत्र निजी पूंजीवादी क्षेत्र है, जो कुछ हद तक क्रांति के बाद भी अपनी स्थिति बनाए रखता है। इसमें छोटे व्यापारी और उद्योगपति आते हैं। इन सभी क्षेत्रों में समाजवादी क्षेत्र ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण और प्रगतिशील होता है।

अर्थव्यवस्था का योजनाबद्ध विकास : नवीनतम वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियों पर आधारित बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों का निर्माण समाजवादी राज्य का मुख्य उत्तरदायित्व माना जाता है। धीरे धीरे सामूहिक और सहकारी अर्थव्यवस्था के विकास की वह अवस्था आ जाती है, जब उसे दूसरे क्षेत्रों की जरूरत नहीं रहती। कुछ समय बाद राजकीय पूंजीवादी, निजी पूंजीवादी और लघु पण्य उत्पादन क्षेत्रों को राज्य समाप्त कर देता है और उनके स्थान में केवल एक समाजवादी अर्थव्यवस्था का क्षेत्र शेष रह जाता है। कृषि को विकसित करने के लिए भी उद्योगीकरण की आवश्यकता होती है। इसलिए समाजवादी राज्य योजनाबद्ध उद्योगीकरण की ओर विशेष ध्यान देता है।

मार्क्सवादी मानते हैं कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास के लिए राज्य को मार्क्सवादी दल के नेतृत्व में उपयुक्त आर्थिक नीतियों का अनुसरण करना पड़ता है। समाजवाद के अंतर्गत सामाजिक स्वामित्व और उत्पादकों के हितों में विरोध न होने से उत्पादन, व्यापार और खपत के विकास का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है और अर्थव्यवस्था को निर्धारित लक्ष्य की ओर संचालित किया जा सकता है। खुले बाजार पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था में इस प्रकार की योजनाओं को कार्यान्वित करना संभव नहीं है। समाजवादी निर्माण में अव्यवस्थित उत्पादन और खुले बाजार में माग और पूर्ति के नियम के स्थान में व्यवस्थित उत्पादन और नियंत्रित बाजार में जनता की आवश्यकताओं की योजनानुसार पूर्ति के नियम लागू किए जाते हैं। राष्ट्रीय व्यवस्था के योजनाबद्ध होने के कारण राज्य को संपूर्ण अर्थव्यवस्था का प्रबंध करने, आर्थिक विकास में अनुकूलतम अनुपातों को कायम रखने, उत्पादक शक्तियों का युक्तिसंगत वितरण करने और भौतिक, जनशक्ति, तथा वित्तीय साधनों को बचाने के लिए कार्य करने पड़ते हैं।

समाजवादी विकास के लिए राज्य योजना आयोग स्थापित करता है। यह आयोग भौतिक, श्रम तथा अन्य साधनों के आंकड़े इकट्ठे करता है और उनके अनुसार आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन योजनाएं बनाता है। पूंजीवादी देशों में आर्थिक योजनाएं सीमित और वित्तीय नीतियों पर आधारित होती है क्योंकि पूंजीवादी राज्य का भौतिक संसाधनों पर स्वामित्व नही होता। ये भौतिक संसाधन वहां व्यक्तियों की निजी संपत्ति होते हैं। समाजवादी राज्य का सभी भौतिक संसाधनों पर पूर्ण स्वामित्व या नियंत्रण रहता है। इसलिए समाजवादी राज्य की योजनाएं बुनियादी तौर से गतिशील होती हैं और अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास करने में सफल रहती हैं। यह बात समाजवादी चीन और पूंजीवादी भारत की योजनाओं के मूल्यांकन से स्पष्ट हो जाती है।

जातियों के उत्पीड़न की समाप्ति : निजी स्वामित्व और उत्पीड़न पर आधारित पूंजीवादी समाज जातीय उत्पीडन का समाज भी है। समाजवादी राज्य के सम्मुख न केवल सामाजिक, वर्ग उत्पीड़न को। बल्कि इसके अनिवार्य साथी जातीय उत्पीड़न को समाप्त करने का कार्य करना पड़ता है। मार्क्स और एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' मे लिखा है : 'जिस अनुपात में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण खत्म होगा, उसी अनुपात मे एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण भी समाप्त होगा।'

लेनिन ने इस संबंध में सोवियत राज्य के निम्नलिखित कर्तव्य बताए है :

1. सार्वजनिक जीवन मे व्यापक जनवादीकरण।
2. सभी नस्लों और जातियों के लोगों को वास्तविक समान अधिकार और उनकी कानूनी सुरक्षा।
3. संघ के अंतर्गत या बाहर पृथक राज्य स्थापित करने का अधिकार अर्थात राष्ट्रीय आत्मनिर्णय।
4. सभी नस्लो के मजदूर वर्ग की अंतर्राष्ट्रीय एकता और बंधुता।
5. सभी जातियों की भाषा और संस्कृति का संरक्षण और सम्मान।

सांस्कृतिक क्रांति संबंधी कार्य : समाजवादी राज्य संपूर्ण समाज के सांस्कृतिक विकास के लिए सभी आवश्यक कार्य करता है। वह शिक्षाप्रणाली को अपने हाथ में लेकर सभी नागरिकों को निशुल्क शिक्षा उपलब्ध कराता है एवं कला, साहित्य, विज्ञान और तकनीक का विकास करता है। नई संस्कृति के निर्माण मे वह भूतकालीन संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों को वह स्वीकार कर लेता है और उन्हें जनसाधारण के लिए सुलभ बनाता है। लेनिन का कथन है कि समाजवादी राज्य मानव जाति द्वारा सामंतकाल और पूंजीवादी युग में संचित संस्कृति के दूषित अंशों को छोडकर उसके सभी स्वस्थ अंशों को नई समाजवादी संस्कृति के निर्माण मे उपयोग करता है। उदाहरणार्थ, सोवियत रूस की जनता लिओ तॉल्स्तोय और दास्तोव्स्की के साहित्य के मानवीय भावों और वस्तुपरक चित्रण का सम्मान करती है, परंतु बुराइयों का प्रतिरोध न करने के तॉल्स्तोय के सिद्धांत तथा दास्तोव्स्की के रहस्यवाद को स्वीकार नही करती।

समाजवादी राज्य सभी सांस्कृतिक संस्थाओं को राष्ट्रीयकरण द्वारा अपने अधिकार में कर लेता है। शिक्षण संस्थाएं, संगीत, नाटक, नृत्य आदि कलाओ से संबद्ध संस्थाएं,

साहित्यिक और वैज्ञानिक संघ, समाचारपत्र और पुस्तकों का प्रकाशन—सभी राज्य के नियंत्रण में होते हैं। उनके माध्यम से समाजवादी राज्य वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित नई समाजवादी संस्कृति और विचारधारा का प्रचार और प्रसार करता है। जनवादी चीन के नेता माओ-त्से-तुग ने भी अपने जीवनकाल में पारंपरिक संस्कृति के विरुद्ध नई समाजवादी संस्कृति के प्रसार के लिए 'सांस्कृतिक क्राति' के नाम से एक देशव्यापी अभियान चलाया था। मार्क्सवादियो के अनुसार समाजवादी राज्य के, जिसकी स्थापना समाजवादी क्राति के द्वारा ही हो सकती है, निम्नलिखित कार्य है :

1. सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना और पूजीवादी राज्यतंत्र का विध्वंस।
2. मजदूर वर्ग तथा अन्य शोषक वर्गो के बीच मे व्यावहारिक सहयोग और मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना।
3. उत्पादन के बुनियादी साधनों पर पूजीवादी स्वामित्व का उन्मूलन और सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना।
4. सहकारिता के आधार पर कृषि का क्रमिक समाजवादी रूपातरण।
5. जनता के जीवनस्तर को ऊचा उठाने के लिए राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का योजनाबद्ध विकास।
6. जनवादी सास्कृतिक क्राति के माध्यम से कला, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा का योजनाबद्ध विकास और नए समाजवादी मूल्यों और आदर्शो का प्रचार।
7. वैयक्तिक, श्रेणीगत तथा जातीय शोषण और उत्पीडन का अत और सभी नागरिकों के बीच में मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना।
8. समाजवादी राज्य का सुदृढीकरण एवं भीतरी तथा बाहरी शत्रुओं से समाजवादी उपलब्धियों की रक्षा।
9. किसी एक देश और अन्य देशो के मजदूर वर्ग के बीच मे सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के आधार पर संबधों को स्थिर करना।[11]

उदारवादी आलोचक कहते हैं कि मार्क्सवादी संकल्पना का समाजवादी राज्य अर्थव्यवस्था, समाज, संस्कृति और वैयक्तिक जीवन पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करके एक सर्वाधिकारवादी राज्य बन जाता है, जिसमे मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतत्रता नष्ट हो जाती है। ऐसी व्यवस्था में नागरिक स्वावलबी नही रहते बल्कि पूर्ण रूप से राज्य पर निर्भर हो जाते हैं।

संदर्भ

1. आर एन गिलक्राइस्ट : 'प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल साइंस', पृ० 397-98.
2. हर्बर्ट स्पेंसर : 'सोशल स्टेटिक्स', पृ० 322.
3. बर्नार्ड बोसाके : 'दि फिलोसोफिकल थियरी आफ दि स्टेट', पृ० 201-202.

9

लोकतंत्र की धारणा

लोकतंत्र के संबंध में राजनीतिविज्ञान में चार मुख्य धारणाएं प्रचलित है। पहली धारणा लोकतंत्र के पारंपरिक उदारवादी सिद्धांत पर आधारित है। बेंथम, जे एस मिल, टी एच ग्रीन अब्राहम लिंकन आदि इसी उदारवादी धारणा को स्वीकार करते है। इनके अनुसार लोकतंत्र जनता का या जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का शासन है जिनका उद्देश्य जनता के बहुसंख्यक वर्ग या संपूर्ण राष्ट्र के लिए कल्याणकारी कार्य करना है।

दूसरी धारणा मास्का, पैरेतो और मिचेल्स ने प्रस्तुत की है। इसकी धारणा विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत पर आधारित है। इनका विचार है कि प्रत्येक समाज में विभिन्न क्षेत्रों मे योग्यता और गुणों के आधार पर विशिष्ट वर्ग बन जाते है। लोकतंत्र मे भी राजनीति के क्षेत्र मे एक राजनीतिक विशिष्ट वर्ग पैदा हो जाता है। शासक वर्ग इसी राजनीतिक विशिष्ट वर्ग का एक अंग है। अतः लोकतंत्र में जनता या उसके हितों के वास्तविक प्रतिनिधि शासन नही करते। वहा भी सत्ता एक सीमित विशिष्ट वर्ग के हाथ मे रहती है।

तीसरी धारणा आधुनिक व्यवहारवादी लेखक प्रस्तुत करते हैं। इन लेखकों मे रावर्ट डाल का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। इनकी धारणा बहुलतात्मक लोकतंत्र की धारणा कहलाती है। इसके अनुसार लोकतंत्र ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है, जिसमें अनेक राजनीतिक दलों और असंख्य हितसमूहों के माध्यम से सत्ता पर दबाव डालने के लिए प्रतिस्पर्धा चलती रहती है। कोई भी वर्ग या हितसमूह ऐसी दशा मे राज्य को अपने नियंत्रण में पूर्ण रूप से लाने में असमर्थ रहता है क्योंकि विभिन्न हितसमूह अपने संगठन के प्रभाव द्वारा एक दूसरे के दबाव को काटते रहते हैं। अतः लोकतंत्र विभिन्न वर्गों और हितसमूहों के बीच में संतुलन कायम रखने की प्रणाली है।

लोकतंत्र के संबंध में चौथी धारणा मार्क्स के वर्गसंघर्ष के सिद्धांत पर आधारित है। यह लोकतंत्र की द्वंद्वात्मक व्याख्या है। यदि समाज की आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी है तो लोकतंत्रीय सरकार भी पूंजीपतियों के हितों का ही विशेष रूप से संरक्षण करेगी। जब तक पूंजी का समाजीकरण न कर दिया जाए, तब तक सही अर्थ मे जनवादी लोकतंत्र की स्थापना संभव नही है। लेनिन के अनुसार सर्वहारावर्ग का अधिनायकतंत्र ही सच्चा

लोकतंत्र है, क्योंकि वहा संपत्ति पर संपूर्ण समाज का अधिकार होता है न कि थोडे से पूजीपतियो का।

इस प्रकार लोकतंत्र की चार धापणाएं हैं: 1. पारंपरिक उदारवादी धारणा; 2. समाजशास्त्रियों की विशिष्टवर्गीय धारणा; 3. व्यवहारवादियों की बहुलात्मक धारणा; तथा 4. मार्क्सवादियो की श्रेणीगत धारणा।

लोकतंत्र की पारंपरिक उदारवादी व्याख्या : अब्राहम लिंकन के अनुसार लोकतंत्र जनता के 'जनता द्वारा, जनता का शासन' है। सीले के अनुसार लोकतंत्र 'वह शासन है जिसमे हर व्यक्ति भाग लेता है।' डायसी लोकतंत्र को सरकार का ऐसा स्वरूप बनाते है, 'जिसमे जनता का एक बड़ा भाग शासन करता है।' हर्नशा के अनुसार लोकतंत्र राज्य के एक प्रकार के रूप में किसी सरकार को नियुक्त करने, उसका नियंत्रण करने और उसे अपदस्त करने की एक पद्धति है। शासन की प्रणाली और राज्य का एक स्वरूप होने के अलावा लोकतत्र समाज की एक व्यवस्था भी है। एक लोकतत्रीय समाज वह समाज है जिसके सदस्य परंपरागत जातिभेद से ग्रस्त न हों और जहा समानता और बधुत्व की भावना है। इस दृष्टि से इस्लामी समाज एक लोकतंत्रीय समाज है किंतु अनेक इस्लामी समाजो में राज्य और शासन का रूप बिलकुल आलोकतंत्रीय है।

लास्की के अनुसार लोकतंत्र राज्य, समाज एवं शासन की व्यवस्था के अतिरिक्त एक औद्योगिक व्यवस्था भी है। उनका कथन है जब तक उद्योगो पर पूर्णतः लोकतंत्रीय नियत्रण की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक लोकतंत्र की विजय भी अधूरी रहेगी। लास्की का मत है कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे तो लोकतंत्र ने बडी प्रगति की है लेकिन आर्थिक या औद्योगिक क्षेत्र मे इसकी प्रगति बहुत कम है। वे समाजवाद को आर्थिक लोकतत्र का पर्यायवाची शब्द मानते हैं। आशीर्वादम का निष्कर्ष है कि यह कथन ठीक हो अथवा गलत, इतना तो हमे स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई समाज अपने को तब तक पूर्ण लोकतंत्र नहीं मान सकता जब तक वह जीवन के कुछ विभागों मे लोकतंत्रीय प्रणाली का उपयोग करता है और दूसरे विभागों में अलोकतंत्रीय प्रणाली का। मैक्सी के अनुसार, लोकतंत्र : 'ऐसी जीवनशैली की खोज है। जिसमे कम से कम बलप्रयोग या दबाव से व्यक्ति की अपने आप से प्रेरित स्वतंत्र बुद्धि और क्रियाओं मे समन्वय और सामंजस्य लाया जा सके तथा यह मान्यता है कि यही जीवनशैली संपूर्ण मानव जाति के लिए सबसे अच्छी शैली होगी एवं मानव के स्वभाव और संसार के स्वभाव के अनुकूल होगी।[1]

प्रत्यक्ष तथा प्रतिनिधिक लोकतंत्र : शासनप्रणाली के रूप मे लोकतंत्र बहुसंख्यक लोगो का शासन है। राजनीतिक दार्शनिक मानते है कि लोकतंत्रीय शासनप्रणाली का प्रारंभ प्राचीन यूनान के नगरराज्यों से हुआ। यह लोकतंत्र का आदिम रूप माना जा सकता है। यूनान के अनेक नगरराज्यों ने सरकार के विभिन्न रूपों के विषय में प्रयोग किए थे। इनमें निरंकुश शासन, अल्पतंत्र, कुलीनतंत्र, राजतंत्र, लोकतंत्र, इत्यादि सभी शामिल हैं। यूनानी दार्शनिको ने, जिनमें प्लेटो और अरस्तू के नाम उल्लेखनीय हैं, लोकतंत्र तथा अन्य प्रणालियों का तुलनात्मक मूल्यांकन भी किया था। अरस्तू के अनुसार विधिसंगत लोकतंत्र जिसमें मध्यमवर्गीय बहुमत हो, सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक प्रणाली मानी गई थी। कुछ संशोधनों

सरकारों का राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्र में वर्गीकरण मास्का की दृष्टि में निरर्थक है। इतिहास में उनके अनुसार केवल एक तरह की सरकार रही है और वह है कुलीनतंत्रीय सरकार। उनका कथन है : 'प्रत्येक समाज में उन—अल्पविकसित समाजों से शुरू करके जिनमें सभ्यता के तत्व मुश्किल से उदय हो रहे थे आज की अत्यंत विकसित और शक्तिशाली समाजों तक—लोगों की दो श्रेणियां ही दिखाई पड़ी—एक वर्ग जो शासन करता है और दूसरा वर्ग जिस पर हुकूमत की जाती है।'[4] पहला वर्ग जो सदा अल्पसंख्यक होता है, शक्ति पर अपना एकाधिकार रखता है और अधिकारजन्य सुविधाओं का उपभोग करता है। दूसरा वर्ग जो बहुमत में होता है, पहले वर्ग की आज्ञा मानता है और उसके दबाव में रहता है; यह आज्ञाकारिता और दबाव कानूनी और गैर कानूनी दोनों तरह का होता है। दूसरा वर्ग पहले वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और राज्य को कायम रखने का जरिया है।

यद्यपि शासक वर्ग एक छोटा सा गुट है, तो भी यह निरंकुश शासक नहीं है। कैसा भी राजनीतिक सगठन क्यों न हो, साधारण लोग विशिष्ट वर्ग पर अपना प्रभाव डालते हैं। लोकतंत्र में यह प्रभाव शांतिपूर्ण चुनावों से या हित समूहों के निर्माण से डालते हैं। कुलीनतंत्र में यह प्रभाव जनआंदोलनों, हिंसात्मक कार्यवाहियों या क्रांति के द्वारा पड़ता है। अतः कोई विशिष्ट वर्ग स्थाई नहीं है। उत्तराधिकार, दार्शनिक सिद्धांत आदि तरीकों से विशिष्ट वर्ग अपनी सत्ता बनाए रखने का प्रयत्न करता है परंतु अंत में प्रत्येक पुराने शासक वर्ग को सत्ता से पदच्युत कर दिया जाता है और यही क्रम इतिहास में लगातार चलता रहता है। जब शासक वर्ग निरंतर सत्ता के उपभोग से अकर्मण्य, कमजोर और विलासप्रिय हो जाता है तो शासित वर्गों में से कुछ अध्यवसायी और गुणवान लोग उनके विरोध में उठ खड़े होते हैं और अपने गुणों के कारण पूर्ववर्ती विशिष्ट वर्ग से सत्ता छीन लेते हैं।

प्रत्येक विशिष्ट वर्ग अपनी हुकूमत को स्थिर रखने के लिए 'राजनीतिक फार्मूले' का उपयोग करता है। सभ्य समाज के राजनीतिक विशिष्ट वर्ग अपने शासन का औचित्य नग्न शक्ति के प्रयोग पर आधारित रखना पसंद नहीं करते 'बल्कि उसके लिए कानूनी और नैतिक आधार खोजते हैं, वे उसे आम तौर से जाने-पहचाने और स्वीकृत सिद्धांतों और मान्यताओं का तर्कसंगत और अनिवार्य तरीका मानते हैं।'[5] राजनीतिक फार्मूले का आधार अधूरा सच या जनसाधारण द्वारा स्वीकृत झूठी कहानी होता है। इस फार्मूले के द्वारा राजनीतिक संस्थाओं की, जातियों की और संस्कृतियों की एकता सुरक्षित की जाती है।

जो विशिष्ट वर्ग बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने को बदल लेते हैं, वे सत्ता में बने रहते हैं जैसे ब्रिटेन का कुलीनवर्ग, किंतु जो ऐसा नहीं करते, वे फ्रांस के कुलीन वर्ग की तरह सत्ता से गिर जाते हैं। अतः शासक वर्ग को विशिष्ट वर्ग का क्रमिक विस्तार करते हुए उसमें शासित वर्गों के योग्य और प्रतिभाशाली तत्वों को शामिल कर लेना चाहिए। शासक वर्ग में धन, जमींदारों, सैनिक शक्ति, धर्म, शिक्षा, विज्ञान आदि सामा-जिक शक्तियों को मिला लेना चाहिए।

यद्यपि मास्का लोकतंत्र के विरोधी थे वे जर्मनी के संवैधानिक राजतंत्र को एक

उपयुक्त राजनीतिक प्रणाली मानते थे जिसमें सत्ता एक कुलीन विशिष्ट वर्ग के हाथ में थी किंतु औद्योगिक, किसान तथा अन्य वर्गों को शासन पर प्रभाव डालने का अवसर प्राप्त था। वस्तुतः कैवूर, बिस्मार्क और हीगल के अनुदार विचारों के प्रशंसक थे। उनका विचार था कि स्विटजरलैंड, इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य में जिस प्रकार का लोकतंत्र है, उसमें वास्तविक सत्ता एक राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के हाथ में ही थी। यह अपने चारित्रिक गुणों, कार्यकुशलता आदि के कारण शासक वर्ग बनाता है।

पैरेतो भी मास्का की तरह लोकतंत्र को असंभव, समाजवाद को धोखाधड़ी और मानवतावाद को भ्रम समझते थे। उनके अनुसार अधिकांश मनुष्य कमजोर और गिरे हुए प्राणी हैं जिनमें न तो स्वशासन की कला होती है और न जो दूसरों पर नियंत्रण रखने की समझ रखते हैं। पैरेतो के अनुसार मनुष्य सिर्फ भावनाओं और आवेगों का जीव है जो तर्क का उपयोग इन आवेगों का औचित्य ढूंढने के लिए करता है। मनुष्य का आचरण मूल रूप से अबुद्धिवादी है।

प्रत्येक समाज में दो प्रकार के व्यक्ति पाए जाते हैं : लोमड़िया और शेर। लोमड़ियां वीर और साहसी होती हैं, वे सावधानी से काम नहीं लेती, एवं चालाकी और मक्कारी पर जीवित रहती हैं। आर्थिक क्षेत्र में लोमड़ी स्वभाव वाले व्यक्ति जोखिम उठाते हैं, सट्टेबाजी करते हैं और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की योजनाओं में लगे रहते हैं। इसके विपरीत शेर मजबूत, अनुदार, परंपराप्रेमी, रूढ़िवादी तथा परिवार, धर्म तथा राष्ट्र में निष्ठा रखने वाले लोग होते हैं। वे चालाकी के स्थान में बलप्रयोग को पसंद करते हैं। वे लगान, किराए या ब्याज की आमदनी पसंद करते हैं। जनसाधारण की भावनाओं और आवेगों के अनुरूप उन्हें लोमड़ी वर्ग या शेर वर्ग के शासक प्राप्त हो जाते हैं।

पैरेतो के अनुसार प्रत्येक समाज में दो श्रेणियां या वर्ग होते हैं—विशिष्ट तथा अविशिष्ट। विशिष्ट वर्ग के दो हिस्से हैं : शासक और सत्ताहीन। सत्ताहीन विशिष्ट वर्ग में समाज के विभिन्न क्षेत्रों और व्यवसायों के सफलताप्राप्त व्यक्ति शामिल होते हैं। पैरेतो के अनुसार न केवल वकीलों या इंजीनियरों का एक विशिष्ट वर्ग है बल्कि चोरों तथा वेश्याओं का भी एक विशिष्ट वर्ग होता है। इन विशिष्ट वर्गों का लगातार उत्थान, पतन और परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक समाज में निम्न वर्गों से कुछ व्यक्ति अपने गुणों के कारण ऊपर उठकर विशिष्ट वर्ग में शामिल होते रहते हैं। इसीलिए विशिष्ट वर्ग भी उठते और गिरते रहते हैं। इतिहास वस्तुतः कुलीन वर्गों का कब्रिस्तान है।

पूंजीवादी लोकतंत्र में निजी व्यवसाय पर आधारित व्यवस्था प्लेटो के अनुसार विशिष्ट वर्ग के रूपांतरण में सहायक होती है परंतु इस लोकतंत्र के अंतर्गत मजदूर संघों द्वारा नियंत्रण करने की प्रवृत्ति तथा सरकार द्वारा आर्थिक जीवन का नियंत्रण समाज की प्रगति के लिए हानिकारक है।

पैरेतो की मुख्य दिलचस्पी शासक विशिष्ट वर्ग में थी। शासक वर्ग के भी दो हिस्से हैं : अंतरंग जिसको शक्ति के प्रयोग का अधिकार है तथा बाह्य जिसे कुछ अधिकार मिले होते हैं। निरंकुश राजतंत्र में राजा-रानियों के कृपापात्र मंत्री और आधुनिक लोकतंत्र में उच्च कोटि के राजनीतिक नायक वास्तविक शक्ति के मालिक होते हैं। सभी ... ...

शक्ति और सहमति के मिश्रण के आधार पर हुकूमत करते हैं परंतु इस मिश्रण में शक्ति के तत्व की ही प्रधानता है। शासित जनसाधारण की सहमति लेने मे रिश्वत, धोखाधडी और चालाकी से काम लेना उचित है। शासक असंतुष्ट अल्पसंख्यकों को धन देकर आज्ञाकारी बना लेते हैं किंतु बहुसंख्यक जनता को केवल बलप्रयोग द्वारा वश मे रखा जा सकता है। जो शासक विशिष्ट वर्ग शक्ति के उपयोग से कतराता है, हुकूमत करने के काबिल नही है। ऐसे कमजोर विशिष्ट वर्ग को हटाकर निश्चय ही एक नया विशिष्ट वर्ग सत्ता पर अधिकार कर लेता है और पुराने विशिष्ट वर्ग के सदस्यों को बल प्रयोग द्वारा खत्म कर देता है। अधिकांश नए विशिष्ट वर्ग हिंसा से ही सत्ता में आते हैं शक्ति के प्रयोग द्वारा अपनी हुकूमत कायम रखते है। लोकतंत्र के विशिष्ट वर्ग भी समय पडने पर हिंसा और बलप्रयोग से नहीं चूकते।

मिचेल्स भी पैरेतो और मास्का के सिद्धात को मानते है। तो भी एक प्रश्न पर उनके विचार उनसे भिन्न है। मिचेल्स का विश्वास है कि सत्ता से गिरने पर भी कोई विशिष्ट वर्ग पूर्णत. अपने अधिकारो को नही खोता। नया विशिष्ट वर्ग धीरे धीरे पुराने विशिष्ट वर्ग में प्रवेश करने लगता है और उसका रूपातरण कर देता है। ब्रिटेन और फ्रांस में भी व्यापारी, साहूकार, बुद्धिजीवी और सरकारी अधिकारी धीरे धीरे कुलीन वर्ग में प्रविष्ट हो गए और पुराने वर्ग से शक्ति छीनकर शासक बन बैठे। तो भी पुराने वर्ग के अनेक सदस्य उनके सहयोगी के रूप में सत्ताधारी विशिष्ट वर्ग के अंग बनकर कार्य करते रहे।

तथापि मिचेल्स का महत्व उनके द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक दलों के विश्लेषण के कारण विशेष रूप से है। उन्होंने लोकतंत्रीय दलो के ढांचे और कार्यों की व्याख्या करके यह निष्कर्ष निकाला कि उनका संगठन 'कुलीनतंत्र के लौह नियम' को चरितार्थ करता है। दलीय संगठन को चलाने के लिए नेताओं और अधिकारियों की एक अंतरंग मंडली की आवश्यकता पडती है। जैसे जैसे दल का आकार और कार्य बढते हैं, अंतरंग मंडली की नियंत्रणकारी शक्ति भी बढती जाती है। ये नेता अपनी स्थिति कायम रखने के लिए और अपने विशेषाधिकारों के निरंतर उपभोग के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं। मजदूर दलो के नेता भी शारीरिक श्रम मे कोई रुचि नही रखते। उनका जीवन भी विलासपूर्ण हो जाता है। जर्मनी के सोशल डेमोक्रेटिक नेताओं के वेतन व्यावसायिक अधिकारियों के बराबर पहुंच गए थे।

नेताओं द्वारा दल पर विशिष्ट वर्गीय नियंत्रण का दूसरा कारण साधारण लोगो के मन की अजीब भावनाएं हैं। मिचेल्स के अनुसार अधिकाश लोग उदासीन, आलसी और गुलाम तबियत के होते हैं। वे स्वशासन के अयोग्य और नेता के पीछे पीछे चलने में सुरक्षा का अनुभव करने वाले लोग होते हैं। वे अंधविश्वासी, खुशामद पसंद, कायर, ताकत के सामने झुकने वाले और आततायी के तलवे चाटने वाले होते हैं। नेता अपने अनुयायियो के स्वभाव का लाभ उठाकर, उन्हें लच्छेदार भाषणो से बहलाकर, उन्हें त्याग और बलिदान का उपदेश देकर, उन्हें आदोलनों में जेल भेजकर, अपने को निराधार रूप मे शहीद घोषित करके साधारण जन के कंधे पर सवार हो जाते हैं और दलीय संगठन में अपनी गद्दी सुरक्षित रखते हैं। मिचेल्स का मत है : 'अगर नेताओं के प्रभुत्व को घटाने के

लिए कानून बनाए जाएं, तो ये कानून ही स्वयं कमजोर पड़ जाते हैं, नेताओं की शक्ति नहीं घटती।'[6] जर्मनी के सोशलिस्ट समाज सुधार के कार्यक्रमों की घोषणा अवश्य करते हैं परंतु कुछ ही समय में वे भी अन्य राजनीतिक नेताओं की तरह पेशेवर नेता बन जाते हैं और उनके सभी दुर्गुण अपना लेते हैं। चुनाव मे सोशलिस्टों की जीत हो सकती है परंतु 'सोशलिज्म' की कभी नही, क्योंकि इसी विजय मे 'सोशलिज्म' की मौत हो जाती है।

लिप्सेट, डाल और डाहरेनडोर्फ का बहुलात्मक सिद्धांत : आजकल पश्चिमी देशों के व्यवहारवादियों ने लोकतंत्र के बहुलात्मक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। लिप्सेट ने 'पोलिटिकल मैन' में, डाहरेनडोर्फ ने 'क्लासेज इन इंडस्ट्रियल सुसायटी' मे एव डाल ने 'प्लूरलिस्ट डेमोक्रेसी इन दि युनाइटेड स्टेट्स' और 'ए प्रिफेस टु डेमोक्रेटिक थियरी' मे बहुलात्मक सिद्धांत की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इनका कथन है कि लोकतात्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के माध्यम से तथा हित समूहों के संगठनों के दबाव से विभिन्न वर्ग और समुदाय के लोग अपनी मांगें पेश करते है। कोई भी वर्ग या समूह इतना शक्तिशाली नही होता कि वह शासन प्रणाली पर एकछत्र अधिकार कर ले।

राबर्ट डाल का कथन है : 'राजनीतिक निर्णय करने के लिए अनेक स्थान होते हैं; व्यापारी लोग, मजदूर संघ, राजनीतिज्ञ, उपभोक्ता, किसान, मतदाता तथा बहुत से अन्य समुदाय नीतिनिर्माण को प्रभावित करते है; इनमें से कोई समुदाय अपने संपूर्ण उद्देश्यों की दृष्टि से समरूप नहीं हैं; इनमे से प्रत्येक कुछ क्षेत्रो मे अधिक प्रभावशाली हैं तो अन्य क्षेत्रों में दुर्बल भी हैं; और अवाछित विकल्पों को अस्वीकार करने की शक्ति सामान्य रूप से अधिक पाई जाती है किंतु सीधे नीतियों के निर्धारण की शक्ति सामान्य रूप से बहुत कम दृष्टिगोचर होती है।'[7]

लोकतंत्र के बहुलात्मक सिद्धांत के अनुसार यद्यपि समाज मे विभिन्न क्षेत्रो मे गुणों के आधार पर विशिष्ट वर्गों का निर्माण होता रहता है, फिर भी यह कहना कठिन है कि इन अनेक विशिष्ट वर्गों में कोई एक विशिष्ट वर्ग शासकवर्ग बन जाए। राबर्ट डाल का कथन है कि शासक वर्ग का सिद्धांत कल्पना पर अधिक और आनुभविक तथ्यों पर कम आधारित है। उन्होंने 'न्यू हैवन' नाम के एक शहर की राजनीति का अध्ययन किया और यह नतीजा निकाला कि शहर के जीवन आर्थिक, सास्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों मे अलग अलग विशिष्ट वर्ग हैं। राजनीतिक विशिष्ट वर्ग एक समन्वयकारी माध्यम के रूप मे विभिन्न हितसमूहों के हितों में सामंजस्य स्थापित करता है। जो बात सीमित रूप में 'न्यू हैवन' पर लागू होती है, वही बात अमरीका के लोकतंत्र पर राष्ट्रीय स्तर पर भी सच है।

अत: आर पी वूल्फ अमरीका की विधायिका कांग्रेस के विषय में कहते हैं : 'कांग्रेस वह केंद्रबिंदु है जिस पर सारे राष्ट्र के हितसमूह या तो दो बडे राष्ट्रीय दलों के माध्यम से या सीधे अपने प्रभावक गुटो के जरिए दबाव डालते हैं। सरकार जिन कानूनों की घोषणा करती है, उन्हें विधायिका को प्रभावित करने वाली विभिन्न शक्तियां ही बनाती हैं। आदर्श के रूप मे कांग्रेस इन शक्तियों को केवल प्रतिबिंबित करती है और उन्हे एकमात्र सामाजिक निर्णय मे रूपातरित या मिश्रित कर देती है। जैसे ही निजी हितो

की शक्ति और दिशा में परिवर्तन होता है, तदनुसार ही बड़े हितसमूहों की रचना और क्रियाओं में अंतर हो जाता है—ये बड़े हित समूह हैं श्रमिक, बड़े उद्योगपति तथा कृषिकार। धीरे धीरे, सरकार की मौसमसूचक 'घड़ी की सुई' जनमत की हवा के थपेड़े खाकर घूम जाती है।'[8]

सी राइट मिल्स और रैल्फ मिलीबैंड लोकतंत्र के बहुलात्मक सिद्धांत को गलत समझते है। इनका कथन है कि विधायिका लोकतंत्रीय प्रणाली में मध्यम स्तर की शक्ति है। उच्च कोटि की शक्ति तो एक शक्तिशाली विशिष्ट वर्गीय गुट में निहित होती है जिसे वे सशक्त विशिष्ट वर्ग (पावर एलाइट) के नाम से पुकारते है। सशक्त विशिष्ट वर्ग में बड़े पूंजीपति, उच्चकोटि के सेनाध्यक्ष तथा राज्य के बड़े पदाधिकारी शामिल होते हैं। बड़े पूंजीपति अर्थव्यवस्था को, सेनाध्यक्ष विशाल सैन्य संस्थान को और राजनीतिक और प्रशासनिक नेता सरकारी यंत्र को अपने कब्जे में रखते हैं और अपने विशेषाधिकारों के प्रयोग से एक दूसरे को लाभान्वित करते हैं। अतः विकसित पूंजीवादी लोकतंत्रों की प्रणाली सशक्त विशिष्ट वर्ग के हाथों की कठपुतली है। सशक्त विशिष्ट वर्ग का सिद्धांत और वास्तव में मार्क्स के वर्ग सिद्धांत और मास्का तथा पैरेतो के विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत का मिश्रण है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपर्युक्त तीनों सिद्धांत मार्क्सवादियों के वर्गसंघर्ष सिद्धांत के खंडन करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किए गए थे। मास्का, पैरेतो और मिचेल्स के विशिष्ट वर्गीय सिद्धांतों का फासिस्टों ने लोकतंत्र और समाजवाद की निंदा करने के लिए प्रयोग किया था।

लोकतंत्र की मार्क्सवादी व्याख्या : मार्क्सवादियों के अनुसार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए हमें उसके सामाजिक आर्थिक आधार को समझना अत्यंत आवश्यक है। ब्रिटेन, फ्रांस या अमरीका में आर्थिक उत्पादन के साधन थोड़े से पूंजीपतियों की व्यक्तिगत संपत्ति हैं। अतः वहां राजनीतिक सत्ता भी इन्हीं पूंजीपतियों के हाथों में निहित है। यह सही है कि कानून की दृष्टि में वहां राजनीतिक दलों के निर्माण की स्वतंत्रता है परंतु ये राजनीतिक दल पूंजीपतियों से प्राप्त धनराशि द्वारा ही अपना संगठन चलाते हैं। अतः इनकी नीतियां भी पूंजीपतियों के हितों के अनुकूल होती हैं। चाहे किसी दल की सरकार क्यों न बने, पूंजीपतियों के निहित स्वार्थों को कभी कोई खतरा पैदा नहीं होता।

पूंजीवादी लोकतंत्र की विधि संहिताएं भी निजी स्वामित्व का संरक्षण करती हैं। विधायिकाएं भी निजी स्वामित्व की सुरक्षा रखते हुए ही नए कानून बनाती है। न्यायालयों के न्यायाधीश भी विचारों की दृष्टि से पूंजीवादी व्यवस्था के हिमायती होते हैं। पूंजीवादी लोकतंत्र में मजदूरसंघों के प्रतिरोध को दबाने के लिए आपातकालीन कठोर कानूनों की मदद ली जाती है। पुलिस, फौज और जेल पूंजीवादी लोकतंत्र के वे दमनकारी साधन है, जिनका उपयोग प्रायः दलित वर्गों के आंदोलनों को कुचलने के लिए किया जाता है।

अखबार, रेडियो, टेलिविजन तथा प्रचार के अन्य साधन भी पूंजीपतियों के नियंत्रण में रहते हैं। अनेक शिक्षण संस्थाएं पूंजीपतियों के प्रबंध में चलाई जाती हैं। परिणाम यह

होता है कि पूजीवाद के समर्थन में सारे देश मे धुआंधार प्रचार होता रहता है। नागरिक स्वतन्त्रताओं का असली उपयोग पूजीपति और उनके समर्थक ही कर सकते हैं। अतः मार्क्सवादियो के अनुसार पूजीवादी लोकतंत्र व्यवहार मे धनिकों के वर्गतंत्र के रूप में ही कार्य करता है।

मार्क्सवादियों के अनुसार राबर्ट डाल का बहुलात्मक सिद्धात पूजीवादी लोकतंत्र की गलत तसवीर प्रस्तुत करता है। यह सही है कि मजदूर संघ अपने संगठन के बल पर सरकार की नीति को कुछ सीमा तक प्रभावित कर सकते है परंतु उनकी यह प्रभावक शक्ति पूजीपतियो के वर्ग सगठनो की प्रभावक शक्ति की तुलना मे बहुत कम है। अतः पूजीवादी लोकतंत्र मे वर्ग संतुलन की धारणा तथ्यों पर आधारित नही है। पूजीवादी लोकतंत्र मे आर्थिक यथास्थिति का अर्थ वर्ग प्रभुत्व है, जो वर्गसघर्ष को जन्म देता है।

सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए समाजवादी क्राति की आवश्यकता होती है। यह क्रांति मजदूर वर्ग अन्य सभी उत्पीडित वर्गों के सहयोग से करता है। क्राति के पश्चात सर्वहारा वर्ग अपना अधिनायकतंत्र स्थापित करता है जो अपदस्थ पूजीपति वर्ग के लिए अधिनायकतत्र होता है किंतु मजदूर वर्ग तथा अन्य उत्पीड़ित वर्गो के लिए यह सच्चे अर्थ मे लोकतंत्र होता है।

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र मे नेतृत्व मजदूर वर्ग के क्रातिकारी दल में निहित होता है, जिसकी सहायता से पूजीपतियो के स्वामित्व से उत्पादन के साधन छीनकर समाज को सौंप दिए जाते है। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग का अधिनातकतंत्र राज्य की शक्ति का उपयोग कर सामाजिक व्यवस्था को बदल देता है। क्रातिकारी समितियों के माध्यम से सभी शोपित और उत्पीडित वर्ग राज्य की नीतियो के संबंध मे गंभीर निर्णय करते है। इस प्रकार उन्हें इतिहास मे पहली बार राजनीतिक प्रक्रिया में सहभागिता का अधिकार और अवसर मिलता है। गांवों के खेतिहर मजदूर समिति के अध्यक्ष की हैसियत से सामती जायदाद का खेत जोतने वालो में वितरण करते हैं। राष्ट्रीयकृत कारखाने की परिपद के सदस्य के रूप में सर्वहारा मजदूर एक नए आत्मगौरव का अनुभव करता है।

यह संभव है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र व्यवहार मे एक राजनीतिक दल या उस दल के एक गुट या उस गुट के एक नेता की व्यक्तिगत तानाशाही मे विकृत हो जाए। सोवियत रूस में स्तालिन की व्यक्ति पूजा इसका उदाहरण है। राजनीतिक दृष्टि से समाजवादी लोकतंत्र अभी कई दृष्टियो मे एक अपूर्ण लोकतंत्र है। फिर भी उसके आर्थिक पक्ष की वास्तविकता से इनकार करना हठधर्मी होगी। जनवादी चीन और वियतनाम में आर्थिक समता की भावना इतनी व्यापक है कि वहां सच्चे अर्थ मे समतावादी समाज की स्थापना हो चुकी है।

संदर्भ

1. सी सी मैक्सी : 'पोलिटिकल फिलोसफीज', पृ० 650.
2. जे डब्लू गार्नर : 'पोलिटिकल साइंस ऐंड गवर्नमेंट', पृ० 390.
3. ए आर लार्ड : 'प्रिंसीपिल्स आफ पोलिटिक्स', पृ० 162
4. ऐडवर्ड मैकनाल बर्न्स : 'आइडियाज इन कन्फ्लिक्ट', पृ० 82-83.
5. वही, पृ० 84.
6. वही, पृ० 87-88.
7. रैल्फ मिलीबैंड : 'दि स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसायटी', पृ० 3.
8. आर पी वूल्फ : 'ए क्रिटीक आफ प्योर टालरेंस', पृ० 11.

10

उदारवाद तथा लोककल्याण

विचारधारा के रूप में उदारवाद के सुनिश्चित सिद्धात नही है। यह एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति है जिसमे समय समय पर आकर विविध धारणाएं शामिल हो गई हैं। कुछ लोग उदारवाद को किसी विशेष राजनीतिक दल के कार्यक्रम से जोडते हैं। वास्तव मे स्थिति यह है कि कुछ दल केवल नाम से उदारवादी होते है और व्यवहार मे किसी अन्य विचार-धारा को स्वीकार कर लेते हैं। लास्की का मत है कि उदारवादी सिद्धांत का संबंध किसी संप्रदाय से नहीं है, वह तो मनुष्य की एक मनोभावना है। यह स्वतंत्रता की उत्कट इच्छा में जन्म लेता है, सहनशीलता के वातावरण मे पालापोसा जाता है और जिज्ञासा के उद्देश्य से जीता है।

उदारवादी सिद्धात की व्याख्या मे एक कठिनाई यह है कि जिन लेखकों को हम उदारवादी मानते हैं, उनके विचार एक दूसरे के विरोधी हैं। जिन परिस्थितियो मे यह विचारधारा विभिन्न देशों मे उत्पन्न और विकसित हुई, वे एक जैसी न थीं। अत: स्थान और समय के भेद से उदारवादी विचारधारा की व्याख्या मे भी अंतर आ गया है। अंत मे एक बात यह भी है कि जैसे जैसे आर्थिक विकास और परिवर्तन हुए, तदनुसार उदारवादी विचारधारा भी बदलती चली गई।[1]

लास्की के मत के अनुसार उदारवाद यूरोप के उभरते हुए मध्यमवर्ग की विचारधारा है। सेबाइन का विचार है कि लिबरल विचारधारा के प्रतिपादन में लाक से जे एस मिल तक अनेक दार्शनिको ने भाग लिया। इन दार्शनिको के विचारो मे कई तार्किक असंगतिया भी पाई जाती हैं। फिर भी उन्हें जोड़नेवाला सूत्र उस श्रेणी का वर्गहित है, जिसने उन्हें जन्म दिया। यह श्रेणी पूंजीपतियो की श्रेणी है। अपने को लिबरल कहनेवाले उपयोगिता-वादी भी हैं और आदर्शवादी भी। इसी प्रकार इसके समर्थकों में व्यक्तिवादी भी है और समाजवादी भी। इन विरोधों के बावजूद लिबरल विचारधारा मे एक मूलभूत एकता है।

इस विचारधारा का उपयोग विशेष रूप से पूंजीपति वर्ग ने अन्य वर्गों से संघर्ष करते समय किया है। फ्रांस की राज्यक्रांति के अवसर पर इसका उपयोग फ्रांसीसी पूंजीपतियों ने फ्रांसीसी जमीदार वर्ग को अपदस्थ करने के लिए किया। जब कुछ समय बाद पूंजी-

पतियों ने जमीदार वर्ग के साथ समझौता कर लिया तो उदारवाद का उपयोग ये दोनों वर्ग मिलकर मजदूर वर्ग के विरुद्ध करने लगे। ब्रिटेन में पहले उदारवाद लिबरल पार्टी के माध्यम से ब्रिटिश पूंजीपतियों की विचारधारा थी। आज यह कंजरवेटिव पार्टी के रूप में जमीदारो और पूंजीपतियो की मिली-जुली विचारधारा है। अतः उदारवादी विचारों की एकता उन सामाजिक उद्देश्यो में देखनी चाहिए जिन्हें पूंजीपति वर्ग कार्यान्वित करना चाहता है।

उदारवादी परंपरा का विकास : धर्मसुधार आंदोलनों से रूसी समाजवादी क्रांति तक अनेक प्रकार के विचारों और आंदोलनो ने उदारवादी परंपरा के निर्माण मे सहायता पहुंचाई है। लास्की का कथन है कि उदारवादी विचारधारा के विकास में ऐसे व्यक्तियों का भी हाथ है जो सपूर्ण रूप मे उदारवादी नही थे। इनमे मैक्यावेली, कैल्विन, लूथर, कोपरनिकस, थामस मोर, हाब्स, पैस्कल, बेकन इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। इन लोगों के कुछ विचार तो उदारवाद की मूल भावना के विरोधी थे। जब एक नया सामाजिक वर्ग इतिहास के पर्दे पर आता है, तो वह परंपरागत परिकल्पनाओ के तोडने का कार्य करता है। सभी क्षेत्रों मे वह नई धारणाएं प्रस्तुत करता है। उदारवाद धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विधिशास्त्र, कला, विज्ञान और समाजविज्ञान के क्षेत्रों में भी नए मानदंडो का सुझाव देता है। 1642 की ब्रिटिश क्राति, 1789 की फ्रांसीसी क्राति और 1848 की यूरोपीय क्रांतियां आधुनिक युग की महत्वपूर्ण उदारवादी क्रांतिया हैं जिनके आधार पर यूरोप मे नई राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की गई।

उदारवादी विचारधारा का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत लौकिक राज्य का सिद्धात है। सर्वप्रथम मैक्यावेली ने चर्च और राज्य के पृथक्करण पर जोर दिया और राज्य को चर्च से ऊपर माना। अंत मे बोदां तथा हाब्स ने भी लौकिक राज्य के सिद्धांत को मान्यता दे दी। इसी प्रकार मैक्यावेली द्वारा प्रस्तुत मानवस्वभाव की व्याख्या भी उदारवाद के विकास मे सहायक सिद्ध हुई। उदारवादी सिद्धात के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आत्महित से प्रेरित होकर कार्य करता है। इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर बाद में उपयोगितावाद की विचारधारा उभरी। बेंथम के अनुसार उसमें एक संशोधन यह किया गया कि अगर प्रत्येक व्यक्ति को आत्महित से प्रेरित होकर कार्य करने की पूरी छूट हो तो उसका परिणाम संपूर्ण समाज के लिए हितकर सिद्ध होगा।

मैक्यावेली तथा हाब्स प्रकट रूप से एकतंत्रीय प्रणाली के समर्थक है, परंतु राजतत्र के प्रति उनका कोई व्यक्तिगत मोह नही है। इटली के राष्ट्रीय विभाजन से खिन्न होकर मैक्यावेली ने राजतत्र का समर्थन इस आशा से किया कि राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सुदृढ नेतृत्व एक शक्तिशाली राजा ही प्रदान कर सकता था। हाब्स ने ऐसा गृहयुद्ध की अराजकता से असंतुष्ट होकर किया परंतु राजतंत्र के प्रति उनकी भी कोई प्रतिबद्धता नहीं थी जैसा कि उनके द्वारा किए गए क्रामवेल के समर्थन से स्पष्ट हो जाता है।

धर्मसुधार आदोलन से भी उदारवाद को वैचारिक समर्थन मिला। मैक्स वेबर का विचार है कि प्रोटेस्टेंट सिद्धातो ने उदारवादी आदर्शो के प्रचार मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। पोप की सत्ता के प्रति विद्रोह ने वैचारिक स्वतंत्रता को बल प्रदान किया।

प्रोटेस्टेंट विचारधारा के परिणामस्वरूप बुद्धिवादी भावना का उदय हुआ। लिबरल विचारधारा के विकास मे फ्रासीसी विचारक बोदां ने भी योगदान दिया। उनकी संप्रभुता के सिद्धांत से उदारवादी राज्य की चर्च पर सर्वोपरिता स्थापित हुई। हाब्स की संप्रभुता सिद्धांत का भी ऐसा ही परिणाम निकला। राज्य के पितृसत्तात्मक स्वरूप के कारण अभी लौकिकीकरण की धारणा मे लोकतंत्रीयकरण की धारणा शामिल नही थी। हाब्स के जिन विचारों ने उदारवादी परपरा में योगदान दिया, वे इस प्रकार है: राज्य एक उपयोगितावादी संस्था है; राज्य की स्थापना का मुख्य कारण व्यक्ति की सुरक्षा है; मनुष्य स्वभाव से आत्महित से प्रेरित होता है; समाज व्यक्तियों का कृत्रिम समूह है; एव राज्य का आधार ईश्वर की इच्छा न होकर मनुष्यों की सहमति है।[2]

लाक को पश्चिमी उदारवाद का पिता समझा जाता है। लाक के पूर्ववर्ती विचारक अवचेतन रूप से ही कुछ उदारवादी विचारो का समर्थन करते थे। लाक गंभीर दार्शनिक होते हुए भी हृदय और मन से उदारवादी थे। वे न केवल सावैधानिक शासन के सचेतन रूप से समर्थक थे, वे मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में भी निष्ठा रखते थे। लाक द्वारा प्रस्तुत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और निजी संपत्ति के सिद्धातों का समर्थन उदारवादी चिंतन का भविष्य मे अभिन्न अंग बन गया। अठारहवी सदी मे फ्रांस ने उदारवादी चिंतन को आगे बढ़ाया। वाल्तेयर और मांतेस्क्यू लाक की तरह व्यक्तिवादी उदारवाद के पक्षदार थे। मांतेस्क्यू ने सांविधानिक शासन में शक्तियों के पृथक्करण पर जोर दिया और शक्ति पृथक्करण को स्वतंत्रता का आधार माना। वाल्तेयर ने नागरिक स्वतंत्रताओं की आवश्यकता पर बल दिया।

इसके विपरीत रूसो ने उदारवादी विचारधारा की दिशा को समष्टिवाद की ओर मोड दिया। रूसो फ्रांससी मध्यमवर्ग के क्रांतिकारी दल का वैचारिक नेता माना गया। रूसो के चिंतन मे अत्याचारी राजतंत्र के अत्याचारों के प्रति असंतोष की भावना थी। वस्तुत: रूसो यथास्थिति के जबरदस्त आलोचक थे। उनकी आलोचना के परिणामस्वरूप उग्र लोकतंत्र की मनोभावना का विकास हुआ। कुछ समय के पश्चात रूसो के समष्टिवादी सिद्धात को हीगल और जर्मन आदर्शवादियों ने रूढिवाद की दिशा में मोड़ दिया।

उन्नीसवी सदी को हम उदारवादी विचारधारा की विजय की सदी मान सकते हैं। ब्रिटेन के उपयोगितावादी चिंतको ने, जिनमें बेंथम, जेम्स मिल एवं जान स्टुअर्ट मिल प्रमुख हैं, व्यक्तिवादी उदारवाद के विकास मे उल्लेखनीय योगदान दिया। डेविड ह्यूम से प्रभावित होकर उन्होने उन दिनों प्रचलित प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धात को स्वीकार नही किया। उपयोगितावादियों ने उनके स्थान में वैधानिक अधिकारों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वैधानिक अधिकार नागरिकों को राज्य से प्राप्त होते हैं और राज्य की संप्रभुता उनकी रक्षा करती है। विचार, भाषण और कार्य की स्वतंत्रताओं को मूल उदारवादी आदर्शों के रूप मे ग्रहण कर लिया गया।

ऐडम स्मिथ ने उदारवादी विचारधारा के आर्थिक पक्ष का प्रतिपादन किया। व्यापार और उद्योगीकरण के क्षेत्रों में अग्रणी ब्रिटेन ने उदारवादी अर्थशास्त्र को अपनी राष्ट्रीय अर्थनीतियों का आधार मान लिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी आर्थिक तथा

राजनीतिक क्षेत्रों में उदारवादी सिद्धातो को अपनाया। उन्नीसवी सदी के अंत तक उदारवाद संसार के सभी विकसित देशो की अधिकृत विचारधारा वन गई। लेकिन कुछ समय पश्चात उदारवाद के अतर्गत आदर्शवाद के रूप में समष्टिवादी विचार प्रवेश करने लगे।

आदर्शवादी विचारधारा लिबरल विचारधारा का ही एक रूप है। रूसो, कांट तथा हीगल के समष्टिवादी विचारो से प्रभावित होकर ब्रिटेन में टी एच ग्रीन, ब्रैडले तथा बोसांके ने आदर्शवादी उदारवाद के सिद्धातो का प्रतिपादन किया। उन्होंने उपयोगितावाद को सुखापेक्षी अनैतिक दर्शन बताया और वैयक्तिक सुख के स्थान पर सार्वजनिक कल्याण को अपने राजनीतिक और नैतिक दर्शन का मूल आधार घोषित किया। कुछ विचारक जैसे *लाकवील और हाबहाउस आदर्शवादी नही थे। किंतु फिर भी उनके उदार*वादी सिद्धांत समष्टिवाद से प्रेरित हैं। हाबहाउस ने तो आदर्शवादी सिद्धात की तीव्र आलोचना की और उसे राज्यपूजा का दोषी ठहराया।

श्रमिक वर्ग की विचारधारा के विकास के कारण बीसवी सदी मे उदारवादियों को समाजवाद की चुनौती का सामना करना पडा। इस चुनौती के फलस्वरूप उदारवादी चिंतन में नए समष्टिवादी विचार प्रविष्ट होने लगे। समाजवादी आंदोलन पूंजीवादी राज्य के आर्थिक और राजनीतिक ढाचे को तोडकर सर्वथा नई व्यवस्था लाना चाहता है। अतः उदारवाद, जो पहले परिवर्तनवादी आंदोलन के रूप में शुरू हुआ, अब यथास्थिति का समर्थक बन जाता है। भूतकाल का उदारवाद वर्तमान युग का अनुदारवाद वन गया है। लास्की का निष्कर्ष है कि *उदारवादी विचारधारा का अतीत, वर्तमान और भविष्य* पूजीपति वर्ग के निहित स्वार्थों से बधा हुआ है। एक अमरीकी लेखक सी राइट मिल्स के अनुसार उदारवादी शब्दजाल मे प्रायः अनुदार और प्रतिक्रियावादी उद्देश्य छिपे रहते हैं। वियतनाम मे अमरीकी साम्राज्यवादी नीति इसका सबसे ताजा उदाहरण है।[3]

उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत : उदारवादी सिद्धातों का स्रोत आंशिक रूप से ब्रिटिश, फ्रांसीसी और अमरीकी राजनीतिक विचारकों की पुस्तकें हैं और आंशिक रूप से उदारवादी विचारधारा इन देशों की राजनीतिक संस्थाओ के अनुभवो और कार्यों का निष्कर्ष है। ब्रिटेन से आधुनिक उदारवादी चिंतन की शुरुआत होती है और अंत मे उसे फ्रास और अमरीका भी अपना लेते हैं। ब्रिटिश उदारवाद क्रमिक सुधारो मे विश्वास करता है किंतु फ्रांसीसी उदारवाद एक जनवादी क्रांति की विचारधारा के रूप मे उभरता है। अमरीकी उदारवाद भी ब्रिटिश उदारवाद की तुलना मे अधिक उग्र है किंतु फ्रास के उदारवाद के जनवादी तत्व उसमे नहीं है। ब्रिटेन मे सांविधानिक शासन की स्थापना हो चुकी थी; इसलिए वहा का बुर्जुआ वर्ग क्रांति मे रुचि रखने के बजाय उसका विरोधी था। अमरीका और फ्रास मे बुर्जुआ वर्ग क्रांति के जरिए सत्ता लेना चाहता था और उसके लिए संघर्ष कर रहा था। यूरोप के उदारवादी चिंतकों की शैली द्वद्वात्मक संघर्षों और अतिवादी युक्तियो से प्रभावित थी। इसके विपरीत ब्रिटिश लोग तर्कसम्मत समझौतों और क्रियात्मक समन्वय के विचारों और तरीकों को पसंद करते थे।

ब्रिटेन मे भी संसद जमीदार वर्ग के प्रभाव मे मुक्त न थी। इसलिए बेंथम, जेम्स मिल और जान स्टुअर्ट मिल जैसे उदारवादी लेखकों का लक्ष्य संसद की रचना में सुधार

करना था जिससे उसे बुर्जुआ वर्ग के प्रभाव में लाया जा सके। इनका मत था कि तत्कालीन राजनीतिक दल कुलीन परिवारों के संकुचित गुट थे। इस दोष को हटाने के लिए मध्यम वर्ग को मताधिकार देना जरूरी था। वे चाहते थे कि मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि भी संसद में चुने जाएं। उनका अंतिम ध्येय वयस्क मताधिकार की स्थापना करना था। बेंथम और जेम्स मिल उत्तम शासन को अधिक महत्व देते थे किंतु जान स्टुअर्ट मिल ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उत्तम शासन को लगभग समान महत्व दिया। इसके विपरीत हर्बर्ट स्पेंसर ने उत्तम शासन के महत्व को अस्वीकार करके वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा पर विशेष जोर दिया। टी एच ग्रीन ने लोककल्याण के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का सुझाव दिया। इस तरह उदारवादी सिद्धांत में गतिशीलता आ गई। उसने बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने रूप में परिवर्तन किया।

अमरीका एव फ्रास मे उदारवादियों ने राजतंत्र विरोधी दृष्टिकोण अपनाया। वे वस्तुतः गणतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। ब्रिटिश उदारवादियों ने राजतंत्र पर सीधा प्रहार नही किया। उन्होने राजा या रानी को राज्य के अध्यक्ष के रूप में स्वीकार किया। इस अंतर की वजह साफ थी। ब्रिटिश राजतंत्र प्रातिनिधिक शासन के विकास में बाधक न था और मंत्रिमंडल और संसद धीरे धीरे बुर्जुआ वर्ग के नियंत्रण मे आ गए। फ्रांस मे राजतंत्र ने बुर्जुआ वर्ग को लोकतांत्रिक स्वशासन की सुविधाएं नही दी। इसलिए फ्रास के बुर्जुआ वर्ग ने किसानों के कंधे पर चढ़कर एक जनवादी क्रांति की और गणतंत्र की स्थापना द्वारा स्वशासन का अधिकार प्राप्त किया। अमरीकी मध्यवर्ग को भी ज्यार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ युद्ध करना पड़ा। अतः वहा भी उदारवादी व्यवस्था का रूप गणतंत्रीय हो गया।

उदारवादी विचारधारा के दो मुख्य पहलू है। सर्वप्रथम उदारवाद राजनीतिक प्रणाली का एक सिद्धात है। तदुपरात यह व्यक्ति के अधिकारो की एक व्याख्या है। उदारवाद के ये दोनों पहलू मध्यवर्ग की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार विकसित हुए। राज्य पर कुलीन वर्ग के प्रभाव को खतम करने के लिए संप्रभुता के सिद्धांत का जन्म हुआ। बेंथम और आस्टिन ने ऐसी संसद में निरंकुश, अविभाज्य और अदेय संप्रभुता को निहित किया, जिसमें मध्यवर्ग की प्रधानता रहे। ब्रिटेन में उदारवादी सिद्धात उत्तरदायी संसदीय शासन का समर्थक बना; अमरीका मे राजनीतिक संस्थाएं भिन्न थी परंतु प्रतिनिधिक शासन की वहां भी निर्णयात्मक ढंग से स्थापना हुई। लास्की का विचार है कि उदारवाद की विजय अनिवार्य रूप से जनवाद और लोकतंत्र की जीत नही है, वह वस्तुतः बुर्जुआ वर्ग के अल्पतंत्र की जीत है। बुर्जुआ वर्ग के विश्वासपात्र नेता कांग्रेस या पार्लियामेंट में पहुंचकर वैधानिक शक्तियो का प्रयोग करते है। प्रशासकीय अधिकार भी ऐसे राष्ट्रपति या मंत्रिमंडल मे निहित होते हैं, जिनमे पूंजीपति वर्ग को विश्वास हो। इसी प्रकार उदारवादी न्याय प्रणाली विधि के शासन के नाम पर पूंजीवादी व्यवस्था को सुरक्षित रखने का एक यंत्र है।

अधिकारों का सिद्धांत उदारवाद का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है। यह उन्ही वैयक्तिक अधिकारों पर विशेष बल देता है, जिनकी बुर्जुआ वर्ग को अपने हितों की पूर्ति के लिए

आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम यह निजी संपत्ति के अधिकार की घोषणा करता है। इस अधिकार की व्याख्या मध्यवर्गीय मानदंडों के मुताबिक होती है। उदारवादी बुर्जुआ संपत्ति की सुरक्षा के लिए तो चिंतित होते हैं, किंतु भूमि मे सामंती संपत्ति के प्रति उनका विशेष लगाव नही होता। 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के दौरान वहां के जमींदारों की कुछ जमीनें बिना मुआवजा दिए किसानों में बाट दी गईं। फ्रांसीसी उदारवादियो ने संपत्ति के इस अपहरण को जायज ठहराया। मार्क्स का कथन है: 'वर्तमान संपत्ति संबंधो की समाप्ति केवल साम्यवाद की विशेषता नही है। ऐतिहासिक परिस्थितियों के बदलने पर भूतकाल मे संपत्ति के संबंधों मे निरंतर ऐतिहासिक परिवर्तन होते रहे हैं। उदाहरण के लिए फ्रांसीसी क्रांति ने सामंती संपत्ति को नष्ट कर बुर्जुआ संपत्ति की स्थापना की।'[5]

इसी तरह स्वतंत्रता की उदारवादी धारणा भी मध्यम वर्गीय जीवनशैली से प्रभावित है। उदारवादियों के दृष्टिकोण मे निहित पक्षपात का इसी से पता चल जाता है कि वे पूंजीपतियो के संगठनों को जायज और मजदूरों के संघों को नाजायज मानते थे। लास्की का मत है: 'भूतकाल मे प्रत्येक क्षेत्र मे स्वतंत्रता का रूप, जिस आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत हम रहते हैं, उसके परिणामों से प्रभावित रहा है। हमारी स्वतंत्रता को अनिवार्य रूप से संपत्ति के दावो के अधीन रखकर संकीर्ण और सीमित किया गया है। वह उसी सीमा तक उपलब्ध हुई, जहां तक वह आर्थिक सत्ता के स्वामियों के लिए खतरनाक सिद्ध न हो।'[6]

ब्रिटेन मे सामान्य कानून के द्वारा अधिकारो और स्वतंत्रता की जो व्याख्या की गई है, उसमे समाज के समृद्ध वर्ग के साथ पक्षपात किया गया है और धनहीन श्रेणियो के प्रति उपेक्षा की भावना निहित है। अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने यही श्रेणीगत पक्षपात अपने निर्णयो मे दिखाया है। अत: लास्की का विचार है कि अधिकारों तथा स्वतंत्रता की नई परिभाषा सामान्य रूप से लोककल्याण पर और विशेष रूप से श्रमिक वर्ग के हितों की पूर्ति पर आधारित होनी चाहिए। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज के दायरे में केवल पूंजीपतियों के विशेषाधिकारो की सुरक्षा संभव है। जनता की वास्तविक स्वतंत्रता केवल समाजवाद के द्वारा ही सुलभ हो सकती है, उदारवाद के द्वारा नही।

उदारवाद का आर्थिक सिद्धांत: उदारवादी राज्य का आधार हमें उस आर्थिक व्यवस्था मे ढूढना चाहिए, जिसने इसे जन्म दिया। वस्तुतः उदारवादी राजनीतिक विचारधारा के मूल तत्व उसके अर्थनीतिक सिद्धांतों में निहित हैं। लेकिन उदारवाद के विकास के लंबे युग में अनेक प्रकार के सिद्धांतो की चर्चा की गई। उदारवादी आर्थिक विचारों मे अतः परस्पर विरोध होना स्वाभाविक है। उनके पीछे केवल एक विशेष वर्ग के हितों की युक्तियां दी गई हैं। यह वर्ग पूंजीपतियों का वर्ग है।

वाणिज्यवाद उदारवादी आर्थिक विचारधारा का पहला रूप है। यह व्यवस्था व्यापारिक, औद्योगिक तथा समृद्ध किसान वर्गों के लिए लाभदायक थी। वाणिज्यवाद का एक मुख्य विचार यह था कि गरीब और बेकार मनुष्य समाज की दृष्टि मे गुनहगार माने जाने चाहिए क्योंकि वे जान-बूझकर मेहनत से जी चुराते हैं और आलस्य की जिंदगी बसर करते हैं। इस विचारधारा का मूल उद्देश्य सोलहवी सदी मे उद्योगपतियों और व्यापारियों की मांगो के अनुसार उचित राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना था। वाणिज्यवादियों

के अनुसार यह व्यवस्था निरंकुश शासनप्रणाली ही हो सकती थी।

प्रकृतिवादियों (फिजियोक्रैट्स) ने आर्थिक व्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप को नाजायज माना। उन्होने कहा कि राज्य के द्वारा उद्योगों और व्यापार के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करना आर्थिक दृष्टि से हानिकारक है। वे फ्रांसीसी उपयोगितावादी विचारक हेल्वेतियस के विचारों को आर्थिक क्षेत्र में लागू करना चाहते थे और परिष्कृत स्वार्थ को प्रगतिशील अर्थव्यवस्था का आधार मानते थे। वे चाहते थे कि प्राकृतिक आर्थिक नियमों में संसद को कानून बनाकर दखल देने की कोशिश नही करना चाहिए। कानूनों का एकमात्र लक्ष्य वैयक्तिक स्वाधीनता पर होने वाले आघातों की रोकथाम है। इसका यह मतलब नहीं कि वे निरंकुश शासन का अंत करना चाहते थे। अगर निरंकुश शासक आर्थिक स्वतंत्रता मे बाधा न डाले, तो उन्हें कोई ऐतराज न था। उनका विचार था कि जिन आर्थिक नियमों का वे समर्थन करते थे, उन्हें प्रकृति ने बनाया है। इसीलिए वे व्यापारियों और उद्योगपतियों की आजादी पर प्रतिबंध लगाना अप्राकृतिक समझते थे। प्रकृतिवादियों ने फ्रांस के जमींदारो और समृद्ध किसानों के हितो का भी समर्थन किया। उनके आर्थिक सिद्धातो मे कृषि को अर्थव्यवस्था का मूल आधार माना गया था। वे यह समझ नहीं सके कि सामंतवाद तेजी से पूजीवादी व्यवस्था मे बदल रहा था।[7]

ऐडम स्मिथ को क्लासीकल अर्थशास्त्रीय उदारवाद का जन्मदाता माना गया है। जबकि प्रकृतिवादी अर्थव्यवस्था मे कृषि को महत्व देते थे, क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने औद्योगिक विकास पर जोर दिया। ऐडम स्मिथ के सिद्धात प्रकृतिवादी सिद्धातों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक हैं और उनकी मदद से प्रारंभिक पूजीवादी व्यवस्था की व्याख्या अधिक युक्तिसगत तरीके से की जा सकती है। क्लासीकल राजनीतिक अर्थनीति की विवेचना मे रिकार्डो और माल्थस का योगदान भी उल्लेखनीय है। लगान और आबादी के बारे मे रिकार्डो और माल्थस ने मौलिक विचार प्रस्तुत किए। इन आर्थिक सिद्धांतों का तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा और संस्थाओं पर भी काफी असर पड़ा।

क्लासीकल अर्थशास्त्रियों ने अर्थनीति और राजनीति को परस्पर अलग रखने का प्रस्ताव किया। यह अलगाव वास्तविक जिंदगी मे मुमकिन नही था। क्लासीकल अर्थशास्त्र ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा थी। राज्य पर कुलीन जमींदारो के नियन्त्रण की वजह से बुर्जुआ वर्ग के मन में अविश्वास की भावना थी। इसीलिए वह कुलीनवर्गीय सरकार द्वारा औद्योगिक क्षेत्र में हस्तक्षेप को अनुचित मानता था। अगरेज बुर्जुआ वर्ग स्वावलबी बनकर आर्थिक उन्नति करना चाहता था।

ऐडम स्मिथ और रिकार्डो के विचार दो मुख्य सिद्धातों पर आधारित थे। इनका पहला सिद्धांत है कि समाज एक बाजार है, जहा उपभोक्ता और उत्पादक अपने व्यक्तिगत लाभ को ध्यान मे रखकर चीजों को खरीदते और बेचते है। खुले बाजार में वस्तुओं के स्वतंत्र विनिमय से विभिन्न वर्गों के हितों में प्राकृतिक ढंग से तालमेल हो जाता है। इनका दूसरा सिद्धात यह है कि खुले बाजार की व्यवस्था में प्राकृतिक नियमो के अनुसार लगान, किराए, मुनाफे और मजदूरी का बंटवारा हो जाता है। अत: धन संबंधी विषमताएं स्वाभाविक हैं और अमीरों और गरीबों का वर्गभेद प्रकृति ने बनाया है।

फलस्वरुप समाज मे पूंजीपतियों और मजदूरों की बीच मे वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। रिकर्डो का विचार था कि प्रतियोगिता पर आधारित खुले बाजार मे चीजो की कीमत उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम के मुताबिक निश्चित होती है। माग और पूर्ति के उतार-चढ़ाव के अनुसार विनिमय के समय उस वस्तु की कीमत कुछ घट या बढ सकती है। फिर भी खुले बाजार की व्यवस्था में उत्पादकों को अपने माल की वाजिब कीमतें मिलेंगी। उपभोक्ताओं को भी सात्वना रहेगी कि उन्हें अपने पैसे के बदले उस कीतत पर अच्छे से अच्छी चीज प्राप्त हुई है।

रिकार्डो तथा माल्थस के अनुसार उपर्युक्त नियम के कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ समाज और जमीदारों के हितों मे विरोध की संभावना है। जमीदार का लगान उसके श्रम या लगाई हुई पूजी का इनाम नही है। कभी कभी जमीन की कीमतें उन कारणो से बढ जाती है, जिनमे जमीदार का अपना कोई योगदान नही होता। तो भी, जमींदार इस स्थिति का लाभ उठाकर लगान या किराए की मात्रा बढ़ाकर अतिरिक्त मुनाफा कमा लेता है। जबकि व्यापारी, उद्योगपति, मजदूर और किसान अपने श्रम या पूजीनिवेश द्वारा समाज की दौलत बढाते हैं। जमींदार सिर्फ सामाजिक बोझ बनकर दूसरो के श्रम पर ऐश करते हैं। माल्थस के अनुसार भी जमीदार का लगान या किराया पूंजीपति के मुनाफे से लिया गया अंश होता है क्योकि उनके सिद्धात के अनुसार मजदूर की मदूजरी तो स्थिर रहती है क्योकि उसे मजदूर के जिंदा रहने के लिए न्यूनतम जरूरतों के आधार पर तय कर दिया जाता है।

इन युक्तियो से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र की क्लासीकल परंपरा के लेखकों का ध्येय उद्योगपतियो के हितों की रक्षा करना और जमींदार वर्ग के हितों पर चोट करना था। इन लेखकों का दूसरा ध्येय पूंजीपतियों के हितों को मजदूर आदोलन के प्रहार से बचाना भी था। क्लासीकल अर्थशास्त्र मे एक विसंगति यह थी कि यह आर्थिक क्षेत्र मे प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को मानता था लेकिन राजनीतिक और नैतिक क्षेत्रो में प्राकृतिक अधिकारों का विरोध करता था। उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण उपयोगितावादी था किंतु अर्थनीति के क्षेत्र में वे सिद्धांतवादी और युक्तिवादी थे।

इस संबंध में सैबाइन की आलोचना ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं: 'मूल्य के श्रम सिद्धात को प्रतियोगिता पर आधारित श्रम बाजार के स्वाभाविक न्याय के समर्थन मे उपयोग करना सर्वथा अनुचित था। कहा गया कि वस्तुओं का विनिमय उनमे निहित श्रम के परिमाण के आधार पर होता है। परंतु पूजीवादी उत्पादन व्यवस्था में श्रम के अंतर्गत मशीनों इत्यादि मे लगी पूजी को शामिल कर लिया गया।' इसे संचित श्रम के नाम से पुकारा गया, पर यह स्पष्ट है कि इसमें पूंजीपति का अपना श्रम संचित नही था। अतः जबकि श्रमिक को केवल अपने श्रम का पुरस्कार मिलता था, पूंजीपति को दूसरे मनुष्यों के संचित श्रम का प्रतिफल प्राप्त होता था। मजदूरी और संपत्ति अधिकार दोनों को प्राकृतिक मानकर उनका समर्थन किया गया और इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि कम से कम संपत्ति का अधिकार ऐतिहासिक तथा संस्थागत घटनाओ का नतीजा था।'[8]

लास्की ने आर्थिक उदारवाद के विषय में बताया है : 'आर्थिक उदारवाद ऐसा सिद्धांत था जो समाज के एक संकीर्ण अंश की सेवा करना चाहता था। उसके परिचालन की कीमत कारखाने के श्रमिक और खेतिहर मजदूर को भुगतनी पड़ी जिसे यूनियन बनाने की आज्ञा न थी, जिसे अधिकतर वोट का अधिकार नहीं मिला था, जो ऐसी अदालतों के अधीन था, जो बुर्जुआ संपत्ति की रक्षा अपने जीवन का मुख्य ध्येय मानती है।'[9]

उदारवाद तथा लोककल्याण : लोककल्याणकारी राज्य आधुनिक उदारवाद की ही अभिव्यक्ति है। पारंपरिक व्यक्तिवादी उदारवाद राज्य को एक पुलिस संस्था के रूप में देखता था। ऐडम स्मिथ और हर्बर्ट स्पेंसर ऐसे ही कठोर व्यक्तिवाद के समर्थक थे। उनके अनुसार राज्य को केवल नकारात्मक कार्य करने चाहिए। राज्य के लिए लोक-कल्याण के कार्यों में हाथ डालना व्यक्तियों और समाज के लिए समानरूप से हानिकारक है। जान स्टुअर्ट मिल ने सर्वप्रथम स्वीकार किया कि राज्य लोककल्याण के उद्देश्य से आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप कर सकता है। एक प्रकार से माना जा सकता है कि बेंथम, जेम्स मिल और जान स्टुअर्ट मिल का उपयोगितावाद अपने व्यक्तिवादी मनोविज्ञान के बावजूद लोककल्याण के लक्ष्य को स्वीकार करता है। तदुपरांत टी एच ग्रीन तथा बार्कर के आदर्शवादी सिद्धांतों में स्पष्ट रूप से सामान्य कल्याण को राज्य का आधार मान लिया जाता है।

हावहाउस और लोकवील सामाजिक उदारवाद के समर्थक हैं। उनका मत है कि राज्य का प्रमुख कर्तव्य समाजकल्याण के कार्य करना है। बेन तथा पीटर्स 'सोशल प्रिंसिपिल्स ऐंड दि डेमोक्रेटिक स्टेट' में सामाजिक उदारवाद अथवा सामाजिक उपयोगितावाद के लक्ष्यों का समर्थन करते हैं। फेबियन सुसायटी, ब्रिटिश मजदूर दल, हेरोल्ड जे लास्की, जी डी एच कोल आदि उदारवादी समाजवाद के आदर्शों में विश्वास करते हैं और क्रमिक समाजवादी सुधारों के जरिए लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। अंत में हम देखते हैं कि ब्रिटिश अनुदार दल भी अब लोककल्याणकारी आदर्श को स्वीकार करता है और इस प्रकार उदार सामाजिक रूढ़िवाद के रूप में एक नई विचारधारा पनप रही है।

उपयोगितावादी उदारवाद : उपयोगितावाद के प्रवर्तकों में बेंथम, जेम्स मिल और जान स्टुअर्ट मिल के नाम लिए जा सकते हैं। इस सिद्धांत का मनोवैज्ञानिक आधार सुखवाद है। सुखवादी सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य सुख की खोज करता है और दुख से बचना चाहता है। उपयोगितावाद एक नैतिक सिद्धांत भी है, जो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सुख की खोज को उसका नैतिक कर्तव्य भी मानता है। इसका लक्ष्य अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना है। शासन, विधायन और न्याय का उद्देश्य भी अधिक से अधिक नागरिकों को अधिक से अधिक सुखी बनाना है। इस प्रकार उपयोगितावाद की राजनीति का मूल आधार परोपकारवाद है। वस्तुतः बेंथम के चिंतन में एक गंभीर असंगति छिपी हुई है। वे मानव को स्वभाव से स्वार्थी और अपने सुख के लिए कार्य करने वाला प्राणी मानते हैं और फिर उसके इसी स्वाभाविक व्यवहार को मानव का नैतिक कर्तव्य भी मान लेते हैं। तदुपरांत उपयोगितावादी यह भी दावा करते हैं कि यदि

था। मिल का यह समाजवाद सामाजिक न्याय की भावना पर आधारित था, परंतु वे उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व के विरोधी नहीं थे।

आदर्शवादी उदारवाद : आदर्शवादी उदारवाद के समर्थकों में टी एच ग्रीन और अर्नेस्ट बार्कर के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार राज्य न तो नैतिक दृष्टि से परमपूर्ण है और न सर्वशक्तिमान है। यह आतरिक और बाह्य दोनों ओर से सीमित है। आतरिक सीमा का आधार यह है कि राज्य के कानून केवल बाहरी कार्यों और अभिप्रायों से संबंध रख सकते हैं, मनुष्य की आंतरिक प्रवृत्तियों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है। इसलिए राज्य प्रत्यक्ष रूप से अच्छे जीवन की स्थापना नहीं कर सकता बल्कि अच्छे जीवन के मार्ग की बाधाओं को ही दूर कर सकता है। राज्य इस बात से भी सीमित है कि कुछ खास परिस्थितियों में राज्य का प्रतिरोध करना व्यक्ति का कर्तव्य बन जाता है।

इस नकारात्मक व्याख्या के बावजूद टी एच ग्रीन तथा बार्कर राज्य को एक लोक-कल्याणकारी संस्था के रूप में देखते हैं। जैसा कि अर्नेस्ट बार्कर का मत है : 'राज्य प्रत्येक समुदाय की आंतरिक अधिकारव्यवस्था और साथ ही प्रत्येक अधिकारव्यवस्था का अन्य व्यवस्थाओं के साथ सामंजस्य करता है।'[11] मनुष्य के अधिकारों का आधार सार्वजनिक नैतिक चेतना है। नैतिक स्वतंत्रता का अर्थ है आत्मविकास। आत्मविकास का अभिप्राय है व्यक्ति के सामाजिक पहलू का विकास। अत. टी एच ग्रीन एवं बार्कर के अनुसार सामाजिक कल्याण में ही आत्मकल्याण निहित है। टी एच ग्रीन युद्ध को एक नैतिक अपराध मानते हैं और समाजकल्याण के मार्ग में एक विकट बाधा समझते हैं। वे अज्ञान, नशाखोरी और भिक्षावृत्ति के उन्मूलन के लिए राज्य का सहयोग चाहते हैं। सैबाइन का मत है कि टी एच ग्रीन ने उदारवादी सिद्धांत मे यह जोड़ा कि वैयक्तिक स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व के लिए आवश्यक है कि पहले सामूहिक कल्याण के कार्य किए जाएं।

सामाजिक उदारवाद : हावहाउस सामाजिक न्याय और सामाजिक समानता के सिद्धान्तों के समर्थक हैं। वे कहते हैं कि मनुष्यों में कुछ ऐसे सामान्य गुण हैं जो वर्ग, नस्ल और लिंग के ऊपरी भेदों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। हमारे जीवन के दैनिक अनुभव, इतिहास के अध्ययन तथा मानवशास्त्र के ज्ञान से हमें इस तथ्य के बारे में यथेष्ठ प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं। अत. राज्य को मनुष्यों की स्वतंत्रता पर बिना अनुचित प्रतिबंध लगाए सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए सभी आवश्यक कार्य करने चाहिए।'[12]

इसी प्रकार तोकवील भी आर्थिक क्षेत्र में न्याय करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप को अनुचित नहीं समझते थे। धर्म, संस्कृति, कला इत्यादि के क्षेत्रों में जहां तोकवील राज्य के हस्तक्षेप की आलोचना करते थे, वहां वे निर्धनता, उत्पीड़न इत्यादि के उन्मूलन के लिए सरकारी क्रियाओं की आवश्यकता को महसूस करते थे।'[13] बार्कर, मैकीवर लास्की तथा लिंडसे आपसी मतभेदों के बावजूद लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श का समर्थन करते हैं।

उदारवादी समाजवाद : सामाजिक उदारवाद का ही एक परिवर्धित रूप उदारवादी समाजवाद है। दोनों के प्रस्थान बिंदु अलग अलग हैं परंतु मंजिल एक ही है। सामाजिक उदारवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता से यात्रा प्रारंभ कर लोककल्याणकारी राज्य के लक्ष्य को

पाना चाहता है। उदारवादी समाजवाद सामाजिक स्वामित्व के विचार से यात्रा शुरू करता है किंतु लोककल्याणकारी राज्य की मंजिल पर पहुंचते ही सामाजिक स्वामित्व के विचार को त्याग देता है। यूरोप के सभी समाजवादी दलों ने, जिनमें लेबर पार्टी शामिल है, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम का त्याग कर दिया है। वे राज्य को पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत रहते हुए सार्वजनिक कल्याण का साधन बना देना चाहते हैं। भारत के समाजवादी दलों ने जनता पार्टी मे विलीन होकर सिद्ध कर दिया कि वे भी समाजवाद के मूल सिद्धांत उद्योगो के राष्ट्रीयकरण से विमुख होकर पूंजीवादी व्यवस्था के अतर्गत ही एक लोककल्याणकारी सरकार की स्थापना करना चाहते हैं। नीति और कार्यक्रम की दृष्टि से उदारवादी समाजवाद और सामाजिक उदारवाद मे अब विशेष अंतर नही है।

अनुदार दलों का सामाजिक उदारवाद : बीसवी सदी मे उदारवादी राजनीति की विशेषता है कि दल पद्धति के अंतर्गत श्रमिक दलो और अनुदार दलों के बीच में ध्रुवीकरण बढ रहा है। दोनों के बीच मे स्थित उदार दलों का अस्तित्व मिटता जा रहा है। राजनीतिक प्रतियोगिता मे विजयी होने के लिए अनुदार दल उदार दलों एवं समाजवादी दलों के लोककल्याण के उद्देश्यो पर आधारित सामाजिक आर्थिक कार्यक्रमों को अपना रहे हैं। ब्रिटिश अनुदार दल की नेता श्रीमती मार्गरेट थैचर जानती हैं कि ब्रिटेन मे लोककल्याणकारी राज्य की जो इमारत मजदूर दल ने खड़ी की है, प्रधान मंत्री बनने के बाद भी वे उसका ध्वंस नही कर सकतीं। ब्रिटेन के मतदाताओ मे औद्योगिक मजदूरों का ही बहुमत है। अत श्रीमती थैचर मजदूरों के कंधे पर चढ़कर उनके वोटों की मदद से ही प्रधान मंत्री बनने का सपना देख सकती हैं। इसीलिए उन्हें भी लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श को स्वीकार करना आवश्यक हो गया है।

संदर्भ

1. हेरोल्ड जे लास्की : 'दि राइज आफ यूरोपियन लिबरलिज्म', पृ० 17-28.
2. कृष्णकांत मिश्र : 'लास्की का राजनीतिक चिंतन', पृ० 62-63
3. वही, पृ० 65
4. वही, पृ० 69.
5. ओकशाट : 'सोशल ऐंड पोलिटिकल डा० क्ट्रिस', पृ० 93
6. हेरोल्ड जे लास्की : 'लिबर्टी इन दि माडर्न स्टेट', पृ० 36-37.
7. हेरोल्ड जे लास्की : 'दि राइज आफ यूरोपियन लिबरलिज्म', पृ० 183-92.
8. जी एच सैबाइन : 'हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियरी', पृ० 66-162
9. हेरोल्ड जे लास्की : 'दि राइज आफ यूरोपियन लिबरलिज्म', पृ० 195.
10. आइवर ब्राउन इंगलिश पोलिटिकल थियरी, पृ० 129.
11. अर्नेस्ट बार्कर : 'पोलिटिकल थाट इन इंग्लैंड', पृ० 43.
12. एल टी हाबहाउस : 'एलीमेंट्स आफ सोशल जस्टिस', पृ० 95.
13. बेन तथा पीटर्स : 'सोशल प्रिंसिपिल्स ऐंड दि डेमोक्रेटिक स्टेट', पृ० 280-81.

के सदस्य बन गए। 1848 मे उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' (कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो) को प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने अपने नए विश्व दृष्टिकोण, सामाजिक जीवन की भौतिकवादी व्याख्या, द्वंद्ववादी वैचारिक पद्धति, इतिहास में व्याप्त वर्ग संघर्ष की वास्तविकता एवं सामाजिक क्रांति मे सर्वहारा वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका आदि पर अपने विचार व्यक्त किए। 1848 की यूरोपीय क्रांतियों में कार्लमार्क्स ने व्यक्तिगत रूप से भाग लिया और तत्कालीन बुर्जुआ क्रांतियों मे सर्वहारा वर्ग की रणनीति और कार्यनीति की व्याख्या की।

जर्मन क्रांति की असफलता के बाद प्रतिक्रियावादी जर्मन सरकार ने उन पर मुकदमा चलाया और बाद मे उन्हें पुनः देश मे निर्वासित कर दिया। तदुपरांत वे एक शरणार्थी के रूप मे इंग्लैंड मे लंदन में ही रहे। लंदन में रहकर ही उन्होने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक 'पूंजी' (कैपीटल) लिखी जो तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था का सर्वहारावर्ग के दृष्टिकोण से अत्यंत वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है। 1864 में उन्होंने प्रथम 'इंटरनेशनल' की स्थापना की जिसका उद्देश्य क्रांतिकारी मजदूर आंदोलनों को एक सूत्र में बांधना था। मार्क्स मजदूर आंदोलन को अराजकतावादी, काल्पनिक समाजवादी, राज्य समाजवादी, मजदूरसंघवादी प्रभावो से मुक्त कर एक क्रांतिकारी समाजवादी आंदोलन का रूप देना चाहते थे। 1871 मे उन्होने 'पैरिस कम्यून' के विषय में अपना मूल्यांकन प्रस्तुत किया जिसमें उन्होने प्रथम सर्वहारा क्रांति की सराहना की किंतु कम्यून के प्रूधोवादी तथा सुधारवादी नेताओं की गलतियों पर भी प्रकाश डाला, जिनकी वजह से यह क्रांति असफल हो गई थी। संक्षेप मे मार्क्स एक महत्वपूर्ण और मेधावी विचारक ही नही एक दृढप्रतिज्ञ और प्रतिबद्ध क्रांतिकारी भी थे।

द्वंद्वात्मक भौतिकवादी पद्धति : मार्क्स ने हीगेल से द्वंद्ववादी पद्धति का विचार ग्रहण किया था। द्वंद्ववाद का अर्थ है कि दो परस्पर विरोधी तत्वों के संघर्ष के फलस्वरूप ही प्रगति और परिवर्तन संभव है। हीगेल का मत था कि मानव इतिहास द्वंद्वात्मक मार्ग से अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है परंतु हीगेल का द्वंद्ववाद विचारों और आदर्शों का द्वंद्ववाद है। इसके विपरीत मार्क्स के द्वंद्ववाद का संबंध भौतिक और सामाजिक जगत से है। हीगेल ने द्वंद्वात्मक पद्धति का उपयोग चिंतन, धर्म, संस्कृति और दर्शन के विश्लेषण के लिए किया था। मार्क्स द्वंद्वात्मक पद्धति का उपयोग उत्पादन के तरीकों और उत्पादन मे संलग्न श्रेणियो के संबंधो की व्याख्या के लिए करते है। हीगेल के अनुसार मानव संस्थाएं और राज्य विचारों के साकार रूप है जिनका विकास विचारो के विकास पर निर्भर है। मार्क्स पदार्थ और भौतिक शक्तियों की प्राथमिकता पर जोर देते है। उनके अनुसार भावना, विचार और चेतना गौण है क्योंकि उनकी उत्पत्ति और विकास भौतिक शक्तियो के विकास पर अवलंबित हैं।[1]

यद्यपि कार्लमार्क्स अपने सामाजिक विश्लेषण में हीगेल की शब्दावली का प्रयोग करते है, तो भी यह स्वीकार करना पडेगा कि उनके अपने सामाजिक चिंतन के हीगेल के अतिरिक्त अन्य बौद्धिक स्रोत भी थे। हमे यह न भूलना चाहिए कि उनके सामाजिक और राजनीतिक सिद्धातो का मूल आधार मजदूर वर्ग के संघर्षों और आंदोलनों का

व्यावहारिक ज्ञान और अध्ययन भी था। मार्क्स की अपनी द्वंद्वात्मक पद्धति न केवल हीगेल पद्धति से मौलिक रूप से अलग है बल्कि उससे एकदम उल्टी है। उनका कहना था कि हीगेल ने द्वंद्ववाद को सिर के बल उल्टा खड़ा कर दिया है, उसे पैरों पर सीधा खड़ा करने की जरूरत है। हीगेल के अनुसार विचार या चिंतन प्रक्रिया वास्तविक जगत का निर्माण करती है और भौतिक अस्तित्व विचार की बाहरी अभिव्यक्ति है। कार्ल मार्क्स के अनुसार वैचारिक जगत मनुष्य के दिमाग मे भौतिक संसार का प्रतिबिंब या छाया है।

मार्क्स के अनुसार ईश्वर का विचार आत्मवादी दर्शन तथा धर्म मनुष्य के दिमाग की उपज है। उनका कथन है कि मनुष्य ने धर्म का निर्माण किया है, धर्म ने मनुष्य को नही बनाया। वस्तुतः धर्म का निर्माण शोषक वर्ग ने शोषित जनता को झूठी सांत्वना देने के लिए किया। धर्म एक ऐसी अफीम की गोली है जिसके नशे मे जनता शोषण और उत्पीडन के दर्द को भुला देती है। मार्क्स का भौतिकवाद यांत्रिक भौतिकवाद नही है जो संसार की तुलना एक स्वचालित यंत्र से करता है। हाब्स यांत्रिक भौतिकवाद मे विश्वास करते थे और इसीलिए ईश्वर और धर्म की आवश्यकता स्वीकार करते थे क्योंकि संसार रूपी यंत्र को बनाने वाला भी तो कोई होना चाहिए। मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मे प्रकृति और समाज को निरंतर गतिशील तत्व माना जाता है। विकास, परिवर्तन और प्रगति इस गतिशील जगत का स्थाई नियम है। अतः इस सृष्टिकर्ता के रूप में किसी ईश्वर की कल्पना की आवश्यकता नही है।

इतिहास की भौतिक व्याख्या : मार्क्स का कथन है कि मानव इतिहास के प्रेरक तत्व भौतिक और आर्थिक कारक हैं। उत्पादन के तरीको के विकास के आधार पर किसी भी समाज के आर्थिक ढाचे की रूपरेखा निश्चित होती है और उत्पादन मे लगे हुए विभिन्न वर्गों के आपसी संबंध निर्धारित होते हैं। अर्थव्यवस्था को समाजरूपी इमारत की नीव माना जा सकता है। इसी नीव पर राजनीतिक व्यवस्था के भवन का निर्माण होता है। कानून और राजनीति वे दर्पण है जिनमे आर्थिक ढांचा परिलक्षित होता है। धर्म, नैतिकता, संस्कृति, साहित्य आदि उस समाज की विचारधाराएं है जिनके द्वारा स्थापित वर्ग संबंधों का औचित्य सिद्ध किया जाता है।

मार्क्स मानव समाज के विकास का वर्णन आदिम साम्यवाद की अवस्था से प्रारंभ करते हैं। यह समाज कबीलाई संगठन और संपत्ति के सामूहिक अधिकार पर आधारित था। एंगेल्स के अनुसार आदिम साम्यवाद के प्रारंभिक चरणों में समाज का संगठन मातृसत्तात्मक कबीलों के आधार पर था। इस समाज मे बहुपतित्व और यूथ विवाह की प्रथाएं प्रचलित थी। कबीले की संपत्ति का नियंत्रण स्त्रियां करती थी। वे दूसरे कबीले के पुरुषों को पति या नौकर के रूप मे रखकर काम लेती थी। पशुओं और शिल्प द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर कबीले के सदस्यों का सामूहिक अधिकार था।

संपत्ति का पहला रूप कबीलाई सार्वजनिक संपत्ति है। यह रूप उत्पादन की अविक- सित अवस्था मे दृष्टिगोचर होता है। इनमे मातृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक कबीले शिकार, पशुपालन और बाद मे फावडे से खेती करके जीवन निर्वाह करता है। [illegible] व्यवस्था के लिए उपजाऊ और खेती करने योग्य भूमि की जरूरत पड़ती है।

सीमित पूंजी की सहायता से अपने अधीन काम करने वाले मजदूर कारीगरों के श्रम के मालिक बन बैठे थे। राजा, जागीरदार, जमींदार, पादरी और भूदास ग्रामीण क्षेत्र के मुख्य वर्ग थे। उस्ताद शिल्पी, कारीगर, दस्तकार और मजदूर शहरी समाज के मुख्य वर्ग थे। सामंती राजतन्त्रों के अंतर्गत बड़े क्षेत्रो को संयुक्त करना कुलीन जमीदारो और अविकसित बुर्जुआ वर्ग के लिए समान रूप से वाछनीय और आवश्यक था। प्रारंभ में सामंती व्यवस्था मे निहित अशाति और अराजकता के वातावरण ने कृषि और उद्योगों को बहुत नुकसान पहुंचाया था। परंतु जब सामती सोपानात्मक प्रणाली स्थिर हो गई तो सामंती श्रेणी सबधो के अतर्गत कृषि, व्यापार और उद्योगो का पर्याप्त विकास किया गया।[4]

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन : मार्क्स का कथन है कि मध्य युग के भूदासों और परतंत्र कृपकों मे से ही प्रारंभिक नगरों के अपेक्षाकृत स्वतंत्र नागरिको का उदय हुआ। इन नगरो की नागरिक स्वाधीनता के आधार पर वे चार्टर थे जो सामतों ने नगर के साहूकारों के ऋणों के भुगतान न कर सकने की स्थिति मे उन्हें प्रदान किए थे। इन्ही चार्टरप्राप्त नगरों के वासियों में से बुर्जुआ वर्ग के पहले अंश विकसित हुए। व्यापार एव समुद्री आवागमन के विकास के फलस्वरूप उद्योगों की गिल्ड व्यवस्था, जिसमे औद्योगिक उत्पादन पर गिल्ड की इजारेदारी होती थी, शिथिल पडने लगी। गिल्ड प्रणाली नए बाजारों के

उस्तादों व . . . .

पर आधारित श्रम विभाजन की जगह प्रत्येक कारखाने के अतर्गत नए प्रकार के श्रम विभाजन की नीव पड़ी।[5]

कुछ समय के उपरात भाप तथा मशीनों के आविष्कार ने औद्योगिक उत्पादन में क्राति ला दी। छोटे छोटे कारखानों मे उत्पादन की जगह विशाल आधुनिक उद्योगो का उदय हुआ। औद्योगिक मध्यवर्ग की जगह औद्योगिक लखपतियों और करोड़पतियो ने ली और बड़े पूंजीपतियों ने विशाल औद्योगिक सेनाओं का नेतृत्व अपने हाथ मे ले लिया। आधुनिक उद्यमो ने पहले राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजार की स्थापना की। बाजार के विस्तार ने उद्योगो, व्यापार, समुद्री आवागमन और रेलमार्गों का तेजी से विस्तार किया। इस प्रकार पूंजीपति वर्ग समाज का सबसे अधिक शक्तिशाली वर्ग बन गया और प्रभाव और शक्ति के दृष्टिकोण से न केवल जमीदारों बल्कि अन्य सभी मध्य युग में उत्पन्न वर्गों को पराजित कर दिया।

आधुनिक पूंजीपति वर्ग सामाजिक विकास की एक लंबी प्रक्रिया तथा उत्पादन और विनिमय के तरीको मे बहुत से क्रांतिकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप पैदा हुआ। पूंजीपति वर्ग के विकास के प्रत्येक चरण के साथ उसके समानातर नई राजनीतिक प्रणाली भी उत्पन्न हुई। शुरू मे बुर्जुआ वर्ग सामंती कुलीन वर्ग के चंगुल मे फसा हुआ एक उत्पीड़ित वर्ग था। बाद मे वह मध्य युग के नगर गणराज्य मे स्वतंत्र और स्वायत्तशासी समूह बना। अन्य देशो में कुलीन राजतत्र के अंतर्गत वह राज्य को कर देने वाला समृद्ध तीसरा वर्ग बना। लघु उद्योगो के संचालक के रूप में बुर्जुआ वर्ग ने अर्धसामंती या एकतंत्रात्मक

वर्ग शत्रुताओ का वर्णन किया। उन्होने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'कैपीटल' मे पूजीवादी उत्पादन प्रणाली से उत्पन्न श्रेणी संघर्षों का वैज्ञानिक आधार खोजने का प्रयास किया। यह एक वैज्ञानिक कृति है किंतु साथ ही यह तत्कालीन पूजीवादी समाज के ढाचे की नैतिक आलोचना भी है।

ग्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत : मार्क्स के अनुसार किसी भी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन मे निहित सामाजिक रूप से जरूरी श्रम समय द्वारा निश्चित होता है। पूजीवादी समाज मे मजदूर अपने श्रम से जितने मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन करता है, पूंजीपति मजदूरी के रूप में उसे उस मूल्य के बराबर वेतन नही देता। मजदूर को केवल निर्वाह भर की मजदूरी दे दी जाती है। किसी वस्तु के विनिमय मूल्य और उसका उत्पादन करने वाले मजदूर के श्रम के मूल्य का अतर ही मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के अनुसार अतिरिक्त मूल्य कहलाता है। अतिरिक्त मूल्य के संचय से ही पूजी का निर्माण और विस्तार होता है। मजदूरो का शोषण ही पूजी का सार है। पूंजीपति मजदूरों को केवल निर्वाह के लिए मजदूरी देकर उनसे इतना श्रम कराते हैं कि वे मजदूरों के द्वारा उत्पादित वस्तुग्रो के विनिमय मूल्य के रूप मे अधिक से अधिक लाभ कमा सकें। वे मुनाफे, किरामे या ब्याज के रूप में अतिरिक्त मूल्य स्वय हड़प लेते है और उसका उपयोग और अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के उद्देश्य से उत्पादन बढाने के लिए तथा अधिक संख्या मे मजदूरों को काम में लगाने के लिए करते रहते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था के ग्रंर्तविरोध : मार्क्स तथा लेनिन के अनुसार पूजीवाद अपने ग्रदर ही अपने पतन और विनाश के बीज छिपाए रहता है। समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिन भौतिक परिस्थितियो की आवश्यकता है, वे पूजीवादी समाज के गर्भ मे ही छिपी हुई हैं। पूजीवादी प्रणाली में अव्यवस्था होना उसकी प्रकृति के अनुकूल है। पूजी-वादी समाज मे उत्पादन की कोई योजना न होने की वजह से माग से अधिक पूर्ति, आवश्यकता से अधिक उत्पादन, बेकारी, व्यापारिक संकट आदि अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। वैयक्तिक पूजी की जगह संयुक्त पूजी ले लेती है और प्रतियोगिता के स्थान पर इजारेदारी स्थापित हो जाती है। धीरे धीरे औद्योगिक पूजी वित्तीय पूजी के अधीन हो जाती है। इस प्रकार लेनिन के कथनानुसार पूजीवाद का अंतिम साम्राज्यवादी युग शुरू हो जाता है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास के साथ साथ ये सभी अंतर्विरोध गहरे होते चले जाते हैं और पूजीवादी समाज मे आर्थिक संकट और असतुलन व्याप्त हो जाता है। पूंजीपतियो और मजदूरो के बीच में स्थित अन्य वर्ग अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठते है। फलतः पूजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच का संघर्ष और अधिक तीव्र हो जाता है। इस संघर्ष का अंत सर्वहारा वर्ग की क्राति द्वारा ही हो सकता है।

राज्य का मार्क्सवादी सिद्धांत : मार्क्स तथा एंगेल्स के अनुसार राज्य की स्थापना वर्ग संघर्षों की तीव्रता को रोकने के लिए की गई है। इसका उद्देश्य परस्पर शत्रु वर्गों के संघर्षों को संतुलित रखना है। राज्य सभी वर्गों से ऊपर रहकर उनके मध्य शांति स्थापित रखने का प्रयास करता है। वास्तव मे राज्य विभिन्न वर्गों के बीच निष्पक्षता या तटस्थता से कार्य नही करता। वह तटस्थ या निष्पक्ष होने का दिखावा मात्र करता है। वस्तुतः जो

वर्ग शत्रुताओ का वर्णन किया। उन्होने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'कैपीटल' मे पूजीवादी उत्पादन प्रणाली से उत्पन्न श्रेणी संघर्षो का वैज्ञानिक आधार खोजने का प्रयास किया। यह एक वैज्ञानिक कृति है किंतु साथ ही यह तत्कालीन पूजीवादी समाज के ढाचे की नैतिक आलोचना भी है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत : मार्क्स के अनुसार किसी भी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन मे निहित सामाजिक रूप से जरूरी श्रम समय द्वारा निश्चित होता है। पूजीवादी समाज मे मजदूर अपने श्रम से जितने मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन करता है, पूजीपति मजदूरी के रूप मे उसे उस मूल्य के बराबर वेतन नही देता। मजदूर को केवल निर्वाह भर की मजदूरी दे दी जाती है। किसी वस्तु के विनिमय मूल्य और उसका उत्पादन करने वाले मजदूर के श्रम के मूल्य का अंतर ही मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के अनुसार अतिरिक्त मूल्य कहलाता है। अतिरिक्त मूल्य के सचय से ही पूजी का निर्माण और विस्तार होता है। मजदूरो का शोपण ही पूजी का सार है। पूजीपति मजदूरों को केवल निर्वाह के लिए मजदूरी देकर उनसे इतना श्रम कराते है कि वे मजदूरो के द्वारा उत्पादित वस्तुओ के विनिमय मूल्य के रूप मे अधिक से अधिक लाभ कमा सकें। वे मुनाफे, किराये या ब्याज के रूप मे अतिरिक्त मूल्य स्वयं हड़प लेते है और उसका उपयोग और अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के उद्देश्य से उत्पादन बढाने के लिए तथा अधिक सख्या मे मजदूरो को काम मे लगाने के लिए करते रहते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध : मार्क्स तथा लेनिन के अनुसार पूजीवाद अपने अंदर ही अपने पतन और विनाश के बीज छिपाए रहता है। समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिन भौतिक परिस्थितियो की आवश्यकता है, वे पूजीवादी समाज के गर्भ मे ही छिपी हुई हैं। पूजीवादी प्रणाली मे अव्यवस्था होना उसकी प्रकृति के अनुकूल है। पूजी-वादी समाज मे उत्पादन की कोई योजना न होने की वजह से माग से अधिक पूर्ति, आवश्यकता से अधिक उत्पादन, बेकारी, व्यापारिक संकट आदि अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाते है। वैयक्तिक पूजी की जगह संयुक्त पूजी ले लेती है और प्रतियोगिता के स्थान पर इजारेदारी स्थापित हो जाती है। धीरे धीरे औद्योगिक पूजी वित्तीय पूजी के अधीन हो जाती है। इस प्रकार लेनिन के कथनानुसार पूजीवाद का अंतिम साम्राज्यवादी युग शुरू हो जाता है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास के साथ साथ ये सभी अंतर्विरोध गहरे होते चले जाते हैं और पूजीवादी समाज मे आर्थिक संकट और असंतुलन व्याप्त हो जाता है। पूजीपतियो और मजदूरों के बीच में स्थित अन्य वर्ग अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठते है। फलतः पूजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच का सघर्प और अधिक तीव्र हो जाता है। इस संघर्ष का अंत सर्वहारा वर्ग की क्राति द्वारा ही हो सकता है।

राज्य का मार्क्सवादी सिद्धांत : मार्क्स तथा एंगेल्स के अनुसार राज्य की स्थापना वर्ग सघर्षों की तीव्रता को रोकने के लिए की गई है। इसका उद्देश्य परस्पर शत्रु वर्गों के संघर्षों को सतुलित रखना है। राज्य सभी वर्गों से ऊपर रहकर उनके मध्य शाति स्थापित रखने का प्रयास करता है। वास्तव मे राज्य विभिन्न वर्गों के बीच निष्पक्षता या तटस्थता से कार्य नही करता। वह तटस्थ या निष्पक्ष होने का दिखावा मात्र करता है। वस्तुतः जो

ही ला सकता है। क्रांति की सफलता के लिए मजदूरों को क्रांतिकारी नेतृत्व की आवश्यकता होती है परंतु कोई क्रांतिकारी गुट अधिकांश सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना और वर्ग भावना के समुचित विकास के अभाव में ऊपर से क्रांति नहीं ला सकता। उसी प्रकार नीचे से मजदूर वर्ग भी स्वतः प्रेरित होकर सफल समाजवादी क्रांति नहीं कर सकता। क्रांति को सफल बनाने के लिए क्रांतिकारी विचारधारा के पर्याप्त प्रसार और क्रांतिकारी संगठन को व्यापक और सुदृढ़ बनाने की जरूरत होती है।

समाजवादी क्रांति का लक्ष्य बुर्जुआ राज्य के ढांचे का आमूल विनाश करना है। ऐसा हिंसात्मक क्रांति द्वारा ही हो सकता है। मार्क्स तथा एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' में लिखा था : 'कम्युनिस्ट अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना नहीं चाहते। वे साफ साफ ढंग से घोषणा करते हैं कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बलपूर्वक तोड़कर ही उनके मनसूबे पूरे हो सकते हैं। शासकों का वर्ग कम्युनिस्ट क्रांति की संभावना से कांपता है तो कांपा करे। सर्वहारा वर्ग को खोने के लिए अपनी हथकड़ियों और बेड़ियों के अलावा और है ही क्या ? उन्हें जीतने के लिए तो सारा संसार है। दुनिया भर के मजदूरो ! एक हो जाओ।' मार्क्स का कथन है कि हिंसा वह नर्स है जो नए समाज रूपी शिशु को पुराने समाज के गर्भ से उत्पन्न कराती है।

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व : मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन का कथन है कि समाजवादी क्रांति की सफलता के उपरांत क्रांति लाने वाला सर्वहारा वर्ग साम्यवादी दल के नेतृत्व में अपना अधिनायकत्व स्थापित कर लेगा। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक राज्य का असली रूप अधिनायकीय ही होता है। मध्ययुग का सामंती राज्य वस्तुतः जागीरदारों और जमींदारों का अधिनायकत्व था। आधुनिक युग के तथाकथित पूंजीवादी राज्य भी दिखावटी लोकतंत्र हैं। वस्तुतः वहां भी पूंजी का ही एकछत्र शासन और अधिनायकत्व होता है। समाजवादी क्रांति के पश्चात इतिहास में पहली बार सर्वहारा वर्ग दूसरे शोषित वर्गों से मिलकर अपनी तानाशाही स्थापित कर सकेगा। पूंजीवादी लोकतंत्र में अधिकार और स्वतंत्रताएं पूंजीपतियों तक सीमित होती हैं। समाजवादी लोकतंत्र में अधिकार और स्वतंत्रताएं बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग तथा अन्य शोषित वर्ग के सदस्यों को पहली बार उपलब्ध कराई जाती हैं।

अतः सर्वहारा वर्ग केवल जमींदारों, पूंजीपतियों और अन्य शोषक वर्ग के सदस्यों के अधिकार छीनता है और उनके लिए ही समाजवादी राज्य एक तानाशाही का रूप धारण करता है। जनता के लिए समाजवादी राज्य वास्तव में एक जनवादी लोकतंत्र के रूप में कार्य करता है। मार्क्सवादियों के अनुसार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवस्था पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था है। हैलोवेल ने समाजवादी क्रांति के पश्चात सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के प्रारंभिक कार्यक्रम को इस प्रकार व्यक्त किया है :

1. हर तरह की जमींदारी का उन्मूलन और भूमि से प्राप्त होने वाले संपूर्ण राजस्व का सार्वजनिक उपयोग के कार्यों पर व्यय किया जाना।
2. आय के साथ तेजी से बढ़ने वाला आयकर।

वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी है, वही वर्ग राज्य की संगठित शक्ति का उपयोग अपने वर्ग स्वार्थों को पूरा करने के लिए करते हैं। लेनिन के अनुसार राज्य सुसंगठित बलात्कार है जिसके द्वारा समाज का शोषक वर्ग शोषित वर्गों के उत्पीड़न को कायम रखता है।

यूनान के नगरराज्य और रोमन साम्राज्य एवं गणतंत्र गुलामों के मालिकों के उपकरण थे जिनके द्वारा वे गुलामों का शोषण और उत्पीड़न जारी रखते थे। मध्य युग के सामंती राज्य भूदासों और किसानों के शोषण और उत्पीडन के लिए जागीरदारों और जमींदारों के उपकरण थे। आधुनिक पूंजीवादी राज्य जिनमे पूंजीवादी लोकतंत्र भी शामिल हैं, पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण और उत्पीड़न के उपकरण है। पूंजीवादी राज्य मे पूंजीपति स्वयं व्यक्तिगत रूप से सरकार का संचालन नहीं करते किंतु जो राजनीतिक विशिष्ट वर्ग सत्ता संभालते हैं, वे चाहे किसी वर्ग से क्यो न आएं, उनकी नीतियां पूंजीपतियों के वर्ग स्वार्थों के अनुकूल ही होती हैं। इसीलिए लेनिन का मत है कि सर्वहारा वर्ग पूंजीवादी राज्यतंत्र का विध्वंस करके ही समाजवाद की स्थापना कर सकता है। तथाकथित संसदीय लोकतंत्र पर आधारित पूंजीवादी राज्य भी मूल रूप से पूंजीपतियों का ही उपकरण होता है। वहां भी सैनिक, राजनीतिक और प्रशासनिक विशिष्ट वर्ग पूंजीपति वर्ग के आदेशों का ही पालन करते है। वहा भी संविधान तथा कानून, न्यायालय और संचार के साधन पूंजी के हितों की सुरक्षा मे ही संलग्न रहते हैं।

क्रांति का मार्क्सवादी सिद्धांत : *सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन* को ही क्रांति कहते है। मार्क्स के अनुसार आधुनिक युग मे दो प्रकार की क्रांतिया हुई हैं या होने की संभावना है। इंग्लैंड मे 1649 की क्रांति या फ्रांस मे 1749 की क्रांति बुर्जुआ क्रांतियो के उदाहरण हैं। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति बुर्जुआ क्रांति का आर्थिक रूप है। मार्क्स का मत है सामंतवादी व्यवस्था के अंत के लिए ही इन बुर्जुआ क्रांतियों की आवश्यकता पड़ी। समाज और अर्थव्यवस्था मे धीरे धीरे होने वाले परिमाणात्मक परिवर्तन इकट्ठे होकर एक गुणात्मक परिवर्तन कर देते हैं और इसी गुणात्मक परिवर्तन को सामाजिक क्रांति कहते हैं। यद्यपि पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था मे से ही कुछ ऐसे तत्व निकलते हैं जो उसे कमजोर करते हुए नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना मे मदद करते हैं तथापि सामाजिक क्रांति को लाने वाले वास्तव मे वे मनुष्य होते हैं जो इतिहास की गति की दिशा पहचान कर क्रांति के लिए सुसगठित होकर सक्रिय प्रयास करते हैं। मार्क्स के शब्दों में मनुष्य ही इतिहास का निर्माता है किंतु वह इस इतिहास का निर्माण मनमाने ढंग से नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयं उन परिस्थितियों से नियंत्रित है जिन्हे वह इतिहास से ही विरासत के रूप मे प्राप्त करता है।

पूंजीवाद के आतरिक अंतर्विरोध, वर्ग संघर्ष और आर्थिक संकट उसे निरंतर कमजोर करते हैं किंतु पूंजीवादी व्यवस्था का पतन स्वत: नहीं हो सकता। अन्य व्यवस्थाओं की तरह जब तक इस व्यवस्था को भी मनुष्य क्रांति के द्वारा नष्ट करने का प्रयास नहीं करेंगे, यह अपने दोषों और अंतर्विरोधों के बावजूद कायम रहेगी। अत: मार्क्स ने कहा था कि मजदूर वर्ग को श्रमिक संघों और राजनीतिक दल में सुसंगठित होकर क्रांति के लिए सक्रिय प्रयास करना होगा। यह क्रांति अनुशासनबद्ध और क्रांति के लिए कटिबद्ध साम्यवादी दल

ही ला सकता है। क्रांति की सफलता के लिए मजदूरों को क्रांतिकारी नेतृत्व की आवश्यकता होती है परंतु कोई क्रांतिकारी गुट अधिकांश सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना और वर्ग भावना के समुचित विकास के अभाव में ऊपर से क्रांति नहीं ला सकता। उसी प्रकार नीचे से मजदूर वर्ग भी स्वतः प्रेरित होकर सफल समाजवादी क्रांति नहीं कर सकता। क्रांति को सफल बनाने के लिए क्रांतिकारी विचारधारा के पर्याप्त प्रसार और क्रांतिकारी संगठन को व्यापक और सुदृढ़ बनाने की जरूरत होती है।

समाजवादी क्रांति का लक्ष्य बुर्जुआ राज्य के ढांचे का आमूल विनाश करना है। ऐसा हिंसात्मक क्रांति द्वारा ही हो सकता है। मार्क्स तथा एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' में लिखा था : 'कम्युनिस्ट अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना नहीं चाहते। वे साफ साफ ढंग से घोषणा करते हैं कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बलपूर्वक तोड़कर ही उनके मसूबे पूरे हो सकते हैं। शासकों का वर्ग कम्युनिस्ट क्रांति की संभावना से कांपता है तो कांपा करे। सर्वहारा वर्ग को खोने के लिए अपनी हथकड़ियों और बेड़ियों के अलावा और है ही क्या? उन्हें जीतने के लिए तो सारा संसार है। दुनिया भर के मजदूरो! एक हो जाओ।' मार्क्स का कथन है कि हिंसा वह नर्स है जो नए समाज रूपी शिशु को पुराने समाज के गर्भ से उत्पन्न कराती है।

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व : मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन का कथन है कि समाजवादी क्रांति की सफलता के उपरांत क्रांति लाने वाला सर्वहारा वर्ग साम्यवादी दल के नेतृत्व में अपना अधिनायकत्व स्थापित कर लेगा। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक राज्य का असली रूप अधिनायकीय ही होता है। मध्ययुग का सामंती राज्य वस्तुतः जागीरदारों और जमींदारों का अधिनायकत्व था। आधुनिक युग के तथाकथित पूंजीवादी राज्य भी दिखावटी लोकतंत्र हैं। वस्तुतः वहां भी पूंजी का ही एकछत्र शासन और अधिनायकत्व होता है। समाजवादी क्रांति के पश्चात इतिहास में पहली बार सर्वहारा वर्ग दूसरे शोषित वर्गों से मिलकर अपनी तानाशाही स्थापित कर सकेगा। पूंजीवादी लोकतंत्र में अधिकार और स्वतंत्रताएं पूंजीपतियों तक सीमित होती हैं। समाजवादी लोकतंत्र में अधिकार और स्वतंत्रताएं बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग तथा अन्य शोषित वर्ग के सदस्यों को पहली बार उपलब्ध कराई जाती हैं।

अतः सर्वहारा वर्ग केवल जमींदारों, पूंजीपतियों और अन्य शोषक वर्ग के सदस्यों के अधिकार छीनता है और उनके लिए ही समाजवादी राज्य एक तानाशाही का रूप धारण करता है। जनता के लिए समाजवादी राज्य वास्तव में एक जनवादी लोकतंत्र के रूप में कार्य करता है। मार्क्सवादियों के अनुसार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवस्था पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था है। हैलोवेल ने समाजवादी क्रांति के पश्चात सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के प्रारंभिक कार्यक्रम को इस प्रकार व्यक्त किया है :

1. हर तरह की जमींदारी का उन्मूलन और भूमि से प्राप्त होने वाले संपूर्ण राजस्व का सार्वजनिक उपयोग के कार्यों पर व्यय किया जाना।
2. आय के साथ तेजी से बढ़ने वाला आयकर।

अनुसार कार्य करेगा और अपने श्रम का उचित प्रतिफल प्राप्त करेगा। प्रत्येक मनुष्य को पर्याप्त अवकाश भी मिलेगा जिसका उपयोग वह अपनी कलात्मक, बौद्धिक या सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के विकास के लिए कर सकेगा। वह समाज के अपने साथियों से अलग होने के बजाय उनके प्रति आत्मीयता की भावना रख सकेगा। पूंजीवादी समाज में मनुष्य वस्तुओं के नियंत्रण में रहता है या वस्तुओं के आकर्षण से प्रेरित होकर कार्य करता है। साम्यवादी समाज में मनुष्य वस्तुओं का मालिक होता है और मानवोचित गुणों से विभूषित होकर अपनी वास्तविक स्वतंत्रता का उपयोग करता है।

वैयक्तिक संपत्ति और वैयक्तिक पितृसत्तात्मक परिवार भी मनुष्य की अलगाव की स्थिति के द्योतक हैं। साम्यवादी समाज में पितृसत्तात्मक परिवार और वैयक्तिक संपत्ति का अंत कर दिया जाएगा और इस प्रकार उसके अलगाव के मुख्य कारण को दूर कर सकेगा। विवाह और परिवार का आधार पति और पत्नी के अधिकारों की समानता और उनका पारस्परिक प्रेम होगा। धर्म भी मनुष्य में अलगाव की प्रवृत्ति उत्पन्न करने में सहायक रहता है। साम्यवादी समाज मे अलगाव की विचारधारा के रूप में चर्च या धर्म की कोई जरूरत नहीं रहेगी। विज्ञान और उद्योगो की उन्नति से मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता बन जाएगा। अतः उसे कल्पित विधाता की आवश्यकता नही रहेगी। पूंजीवादी समाज मे धर्म संस्थान, राज्यतंत्र, अर्थतंत्र आदि श्रमिको से छीने हुए अतिरिक्त मूल्य के उपभोग पर जीवित रहते हैं। शोषित सर्वहारा वर्ग इन सभी सस्थानो को अपने से अलग और अपने वर्ग का दुश्मन मानता है। इसीलिए साम्यवादी समाज में सर्वहारा वर्ग अलगाव के इन उपकरणों का अत कर देता है। मार्क्सवाद के विरोधी निम्नलिखित आधारों पर मार्क्स तथा एंगेल्स के विचारों की आलोचना करते हैं:

1. सामाजिक विकास की व्याख्या मे मार्क्सवादी सिद्धात आर्थिक कारणों पर आवश्यकता से अधिक जोर देता है। आर्थिक निर्धारणवाद का यह सिद्धात ऐतिहासिक घटनाओ के अत्यधिक सरलीकरण पर आधारित है। यह मनुष्य के जीवन के विविध पहलुओ पर समुचित रूप से ध्यान नही देता। यह मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक तथ्यों की विशेष रूप से उपेक्षा करता है। यह नैतिक आचरण के क्षेत्र में सार्वभौम नियमो को स्वीकार नही करता।

2. एंगेल्स का विचार था कि आदिम साम्यवाद के पितृसत्तात्मक चरण के पहले मानव समाज काफी समय तक मातृसत्तात्मक शासन की अवस्था से गुजरा था। उनका यह विचार मार्गन की मानवशास्त्रीय शोधो पर आधारित था। मैकीवर तथा अन्य उदारवादी समालोचक ऐसी मातृसत्तात्मक व्यवस्था की संभावना को स्वीकार नहीं करते जिसमे स्त्रियां पुरुषों पर शासन करती थी।

3. सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का मार्क्सवादी सिद्धांत यूरोप के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास के थोड़े से पहलुओं का सही विश्लेषण तो कर सकता है किंतु उसके विशाल इतिहास के सभी पहलुओं के विश्लेषण करने में असमर्थ है। यह एशिया और अफ्रीका के सामाजिक और आर्थिक परिवेशों पर लागू नही होता। इसीलिए यह संकीर्ण रूप से संस्कृतिवद्ध है और केवल यूरोपीय परिवेश के कुछ अंशों पर लागू होता है।

4. मार्क्स ने विकसित और समुन्नत पूंजीवादी देशों के लिए समाजवादी क्रांतियों की भविष्यवाणी की थी परंतु इन देशो में आज भी पूंजीवाद जीवित ही नही बल्कि मजबूती से कायम है। अमरीका मे तो कोई मजबूत समाजवादी दल तक मौजूद,नही है।

5. मार्क्सवाद वर्गयुद्ध, हिंसात्मक क्रांति और तानाशाही के सिद्धांतों को जरूरत से ज्यादा महत्व देता है। संघर्ष द्वारा और विरोधी दलों को बलपूर्वक दबा कर बनाया गया वर्गविहीन समाज इस योग्य नही कि उसकी स्थापना के लिए जीवन और धन का इतना अधिक बलिदान किया जाए। यदि केवल बलप्रयोग से ऐसा समाज स्थापित कर भी दिया जाए तो वह अधिक समय तक टिक नही सकता।

6 मार्क्स की यह मान्यता कि वैयक्तिक पूजी के राष्ट्रीयकरण के बाद समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के बाद राज्य धीरे धीरे समाप्त हो जाएगा सही नही मालूम पड़ती। सोवियत रूस में उत्पादन, विज्ञान और तकनीक के पर्याप्त विकास के बावजूद राज्य की शक्ति, प्रभाव और अधिकार घटने के बजाय निरंतर बढ़ते जाते है।

7. मार्क्स ने राजनीति मे राष्ट्र और राष्ट्रीयता के महत्व पर विशेष ध्यान नही दिया। मजदूर वर्ग और साम्यवादी आंदोलनों पर भी राष्ट्रवादी विचारों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि वे अपनी अंतर्राष्ट्रीय एकता को भूलकर राष्ट्रीय लक्ष्य और हितों की प्राप्ति मे व्यस्त हो जाते हैं। सोवियत रूस और जनवादी चीन के साम्यवादी दलों की आपसी शत्रुता इसका उदाहरण है।[10]

लेनिन द्वारा मार्क्सवाद का विकास : लेनिन ने उपर्युक्त आलोचनाओं का उत्तर देने का प्रयत्न किया तथा मार्क्स के अन्य सिद्धांतों की बदली हुई परिस्थितियो के अनुकूल पुनः व्याख्या की। यद्यपि मार्क्स ने भी यह संकेत दिया था कि पूंजीवाद का आखिरी रूप साम्राज्यवाद है परंतु लेनिन ने ही अपने निबन्ध 'साम्राज्यवाद—पूंजीवाद की चरम अवस्था' (इंपीरियलिज्म, दि हाइएस्ट स्टेज आफ कैपीटलिज्म) में उसके विविध पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला। स्तालिन का मत है कि 'लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रांति के युग का मार्क्सवाद है।'

लेनिन के अनुसार 1880 के पश्चात पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत औद्योगिक पूंजी वित्तीय पूंजी या बैंक पूंजी के आधीन होती चली गई। उद्योगो और बैंकों पर थोड़े से पूंजीपतियो की इजारेदारियां स्थापित हो गईं। इन इजारेदारियों ने सारी दुनिया को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश शुरू कर दी। अधिकांश एशियाई और कुछ अफ्रीकी देश पहले से ही उपनिवेश बना लिए गए थे। अब अफ्रीका को भी क्षेत्रीय उपनिवेशों मे और चीन को अर्धऔपनिवेशिक प्रभावक्षेत्रो में बाट लिया गया। अफ्रीका, लैटिन अमरीका और एशिया में साम्राज्यवादियों ने पूंजी का निर्यात और निवेश बड़ी तीव्रता से किया। पूंजी के निर्यात द्वारा साम्राज्यवादी औपनिवेशिक धन और श्रमशक्ति का तेजी से शोषण करने मे समर्थ हो गए। पूंजीवाद की साम्राज्यवादी अवस्था मे तीन प्रकार के अंतर्विरोध पाए जाते हैं। पहला अंतर्विरोध साम्राज्यवादी देश के पूंजीपतियो और मजदूरों के बीच में होता है। उपनिवेशों की जनता के शोषण द्वारा इन देशों का पूंजीपति वर्ग इस शोषण का एक अंश अपने देश के श्रमिको को देकर वर्ग संघर्ष की तीव्रता को घटाने का प्रयास

करता है। दूसरा अंतर्विरोध साम्राज्यवादी देश के पूजीपतियों और उपनिवेशों के शोषित वर्गों और जनता के बीच में होता है जिसके फलस्वरूप उपनिवेशो मे राष्ट्रीय आदोलन शुरू होते हैं और साम्राज्यवादी इन आदोलनो का दमन करने का प्रयत्न करते हैं। तीसरा अंतर्विरोध पुराने और नए साम्राज्यवादी राज्य के बीच उत्पन्न होता है जिसके परिणाम-स्वरूप अब तक दो विश्वयुद्ध लड़े जा चुके है। लेनिन के मत के अनुसार 1914-18 का विश्वयुद्ध दो साम्राज्यवादी गुटों का औपनिवेशिक बाजारो के नियंत्रण के लिए लड़ा गया आपसी संघर्ष था।

लेनिन ने यह भी बताया कि आधुनिक युग में पूंजीवाद एक विश्वव्यापी व्यवस्था बन गया है। इसलिए मार्क्स के इस कथन का कोई महत्व नही रह गया है कि समाजवादी क्राति केवल विकसित पूजीवादी देश में ही हो सकती है। विश्वव्यापी पूंजीवादी साम्राज्यवाद की श्रृंखला जिस जगह भी कमजोर दिखाई पड़े, वही समाजवादी क्राति की संभावना उत्पन्न हो सकती है। स्वयं मार्क्स का मत था कि उनके जीवनकाल मे भी अधिक विकसित ब्रिटेन और फ्रांस की तुलना मे जर्मनी मे सर्वहारा वर्ग की क्राति होने की अधिक संभावना थी। इसी प्रकार लेनिन का मत था कि अपेक्षाकृत कम विकसित जारशाही के रूस में समाजवादी क्रांति करने की अधिक संभावना थी। इसका प्रमुख कारण बोल्शेविक दल के नेतृत्व में रूसी श्रमिक वर्ग की राजनीतिक चेतना का चरम विकास था जब कि पश्चिमी देशों के समाजवादी दल मजदूर वर्ग को क्राति के रास्ते से गुमराह कर रहे थे। रूस मे सर्वहारा वर्ग को अन्य शोपित वर्गों का समर्थन भी प्राप्त था। वही बुर्जुआ वर्ग और त्रस्त किसान वर्ग भी जारशाही के विरुद्ध क्रांतिकारियों का साथ दे रहा था। अतः जहा रूस के शासक वर्गों में फूट थी, वही शोपित वर्ग एक होकर अन्याय के विरुद्ध संघर्षशील था।

पहले लेनिन ने और उसके बाद स्तालिन ने साम्यवाद के सिद्धात को रूस की परिस्थितियों के अनुरूप राष्ट्रीय विचारधारा का रूप दिया। अंतर्राष्ट्रीय क्राति की मृग मरीचिका से ध्यान खीचकर उन्होंने 'एक देश में समाजवाद' के लक्ष्य को अपनाया। उनका मत था कि जैसे पूजीवाद अपने उत्थान मे संसार के विभिन्न भागो मे एक सा नही रहा, ठीक उसी तरह समाजवाद का रूप भी अलग अलग देशो मे समान नही होगा। 'एक देश मे समाजवाद' के सवाल पर बाद मे त्रात्सकी और स्तालिन मे मतभेद उत्पन्न हो गया क्योंकि त्रात्स्की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'स्थाई क्रांति' की प्रक्रिया को बढावा देने के पक्ष मे थे। इस प्रश्न पर आतरिक संघर्ष मे स्तालिन के पक्ष की विजय हुई और उन्होंने रूस को सैनिक और आर्थिक दृष्टि से सुदृढ समाजवादी राज्य बनाने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। फलतः वहां स्तालिन की एकछत्र तानाशाही स्थापित हो गई। 1956 में ख्रुश्चेव ने इस प्रणाली को व्यक्ति पूजा का नाम देकर उसकी आलोचना की। ख्रुश्चेव के पतन के बाद ब्रेजनेव ने स्तालिन की अपेक्षाकृत कटु आलोचना को रोक दिया किंतु उनके नकारात्मक कार्यों की निंदा जारी रही परंतु समाजवाद के निर्माण में उनके योगदान को पुनः स्वीकार कर लिया गया।

जनवादी चीन का माओवाद : चीन के माओवाद को मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद का एशियाई

अथवा चीनी रूपांतर कह सकते हैं। आज रूस के साम्यवादी माओ-त्से-तुंग की विचारधारा को मार्क्सवाद या लेनिनवाद का अंग नहीं मानते और चीन के माओवादी रूस के साम्यवादियों को पथभ्रष्ट संशोधनवादी कहते हैं। वस्तुतः इस वादविवाद में दोनों पक्ष राष्ट्रीय अंतर्विरोधों से प्रभावित हैं और दोनों अपने विपक्षी के विचारों को विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में माओवाद लेनिनवाद का ही एक ऐसा स्वरूप है जिसे आर्थिक रूप से अल्पविकसित देशों की औपनिवेशिक या अर्धऔपनिवेशिक परिस्थितियों के अनुकूल ढाला गया है। साम्राज्यवादी एवं सामंतवादी शोषण और उत्पीडन चीन की जनता की मुख्य समस्या रहे और माओवाद इन्हीं समस्याओं का एक वैचारिक और व्यावहारिक समाधान है।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय अभियान का नेतृत्व सुन यातसेन ने किया था। इन्होंने 1911 में मंचू राजतंत्र को उखाड़ कर चीनी गणतंत्र की नींव डाली और राष्ट्रीयता, लोकतंत्र तथा जनता की जीविका के रूप में तीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। 1911 की क्रांति असफल रही। चीन साम्राज्यवादियों की साजिश के परिणामस्वरूप सैनिक नेताओं द्वारा स्थापित स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्यों में विभक्त हो गया। ये सैनिक नेता विदेशी साम्राज्यवादियों के प्रभाव में फंस गए। 1921 में पीकिंग, शंघाई और हुनान में साम्यवादी दल की स्थापना की गई। इस दल ने चीन में किसान क्रांति तथा राष्ट्रीय क्रांति की तैयारी शुरू की। 1924 और 1927 के बीच में साम्यवादी दल ने कुओमितांग दल के साथ संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाया।

माओ-त्से-तुंग, जो स्वयं किसान परिवार में पैदा हुए थे, क्रांति के लिए किसानों का संगठन करने लगे। वे किसानों को सामंत विरोधी संघर्ष के लिए और चीन की जनता को साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष के लिए तैयार करने में जुट गए। माओ-त्से-तुंग ने एक स्थान पर कहा है: 'चीन की गरीब जनता की पीठ पर तीन आततायी और शोषक वर्ग अर्थात साम्राज्यवादी, पूंजीपति और जमींदार सवार हैं किंतु चीन की स्त्रियों के कंधे पर एक चौथा शोषक वर्ग यानी चीन के पुरुष सवार हैं। चीन की जनता की स्वतंत्रता और मुक्ति के लिए इन चारों प्रकार के शोषणों और अत्याचारों का अंत करना आवश्यक है।'[11]

सुनयातसेन की मृत्यु के कुछ समय पश्चात कुओमितांग के दक्षिणपंथी नेता च्यांग-काईशेक ने साम्यवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे को तोड़ दिया और साम्यवादियों के दमन की नीति अपनाई। 1927 के बाद साम्यवादियों के लिए सशस्त्र क्रांति के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचा। साम्यवादियों ने जहां भी संभव हुआ सेनाओं का संगठन शुरू कर दिया। उन्होंने सशस्त्र विद्रोह द्वारा किसानों में सामंती भूमि का वितरण किया। साम्यवादी क्षेत्रों में स्वतंत्र सोवियतों की स्थापना की गई। परिणामस्वरूप देश भर में गृहयुद्ध छिड़ गया। परंतु माओ-त्से-तुंग अपनी शक्ति बढाने में सफल हुए। 1931 में वे नई अस्थाई कम्युनिस्ट सरकार के अध्यक्ष नियुक्त हुए।

इसी समय जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया। कम्युनिस्ट पार्टी ने तुरंत संयुक्त मोर्चे की स्थापना की मांग की किंतु कुओमितांग दल जापानी हमलावरों के

मुकाबले में साम्यवादियों को अपना मुख्य शत्रु मानता था। 1936 में सियान घटना में च्यांग काईशेक के अपहरण के पश्चात ही दोनों दलों की एकता स्थापित हो सकी। युद्ध के दौरान साम्यवादी सेनाओं ने जापानी हमलावरों के खिलाफ गुरिल्ला युद्ध और किसान क्रांति की रणनीति अपनाई और इस प्रकार उत्तरी चीन के अधिकांश ग्रामीण इलाके को उन्होंने जापानी प्रभाव से मुक्त कर लिया। देशव्यापी गृहयुद्ध मे च्याग काईशेक की सेनाओ को पराजित कर 1949 मे माओ-त्से-तुग ने जनवादी चीन के नए क्रांतिकारी राज्य की स्थापना की।

माओ-त्से-तुग ने मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा का विकास करते हुए दो मुख्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। उनका पहला सिद्धात 'नए जनवाद' का सिद्धात कहलाता है। चीन जैसे अल्पविकसित और अर्धऔपनिवेशिक समाज मे क्राति की पहली अवस्था 'नए जनवाद' की अवस्था है। 'नए जनवाद' का उद्देश्य साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व से राष्ट्र को स्वतत्र कराना, सामंतो के शोषण से किसानो को मुक्त कर भूमि का न्यायोचित वितरण कराना और एकाधिकारी पूंजीपतियो के स्वामित्व को खत्म कर जनवादी समाजवादी अर्थव्यवस्था की नीव स्थापित करना है। इस जनवादी क्राति के लिए चीन में चार वर्गों का संयुक्त मोर्चा बनाया गया, जिसमें मजदूरों, किसानो, निम्न पूंजीपतियो और राष्ट्रीय विचारो के पूंजीपतियों को शामिल किया गया। 1949 मे यह जनवादी क्राति सफल हुई। चीन इस प्रकार एक जनवादी गणराज्य बना और उपर्युक्त जनवादी कार्यक्रम को तुरंत कार्यान्वित किया गया।

उनका दूसरा प्रमुख सिद्धात 'निरंतर क्राति' का सिद्धात है। जनवादी क्रांति का नेतृत्व साम्यवादी दल के हाथ में होने की वजह से इसे बिना दूसरी हिंसात्मक क्रांति के ही समाजवादी क्रांति मे विकसित किया जा सकता है। 1954 तक चीन की अर्थव्यवस्था के अधिकाश क्षेत्रों से निजी स्वामित्व को खत्म कर दिया गया और 1975 में नए संविधान की स्वीकृति के अवसर पर चीन को समाजवादी राज्य घोषित कर दिया गया। इस प्रकार चीन मे निरंतर क्राति के जरिए जनवादी सामाजिक व्यवस्था को सामाजिक स्वामित्व पर आधारित पूर्णत: समाजवादी व्यवस्था मे परिवर्तित कर दिया गया। माओ-त्से-तुग क्राति के तीन रूपो की चर्चा करते है: राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक। चीन अब राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रो में समाजवादी व्यवस्था को कार्यान्वित कर चुका है। परंतु सांस्कृतिक क्षेत्र मे अब भी लोग सामतवादी, पूंजीवादी और परपरावादी मनोवृत्तियों के शिकार हैं। समाजवादी सास्कृतिक क्राति को पूरा करने के लिए अब भी निरंतर संघर्ष करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था को वर्गविहीन और संपन्न साम्यवादी समाज मे परिवर्तित करने के लिए भी विज्ञान, तकनीक और उत्पादन का निरंतर विकास करने की आवश्यकता है। इसीलिए माओ-त्से-तुग की यही शिक्षा है कि क्रांति तो निरंतर जारी रहती है, बस उसके रूप और लक्ष्यो मे परिवर्तन होता रहता है।

विचारों और संस्थाओं के क्षेत्र मे माओ-त्से-तुग भी मार्क्स के 'अतर्विरोधों के सिद्धात' को स्वीकार करते हैं। मार्क्स की भाति उनकी भी यही मान्यता है कि चेतना का

विकास भौतिक जगत की शक्तियां ही करती है परंतु क्रांतिकारी चेतना स्वयं एक भौतिक शक्ति बन जाती है। माओ के अनुसार संसार आज पूंजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं में बंटा हुआ है। दोनों के बीच उनके अपने आतरिक अंतर्विरोध इन व्यवस्थाओं की गति का निर्धारण करते हैं। माओ के मत के अनुसार दोनों व्यवस्थाओं के अंतर्विरोधों में केवल एक विशेष अंतर है। पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध क्रांति और युद्ध द्वारा ही दूर हो सकते है परंतु समाजवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध शांतिपूर्वक दूर हो जाएंगे। माओवाद की नई विचारधारा के अनुसार सोवियत नेता मार्क्सवाद-लेनिनवाद को छोड़कर सशोधनवादी और सामाजिक-साम्राज्यवादी बन गए हैं। अतः इस समय विश्व राजनीति मे सोवियत संघ और समाजवादी चीन के मध्य मुख्य अंतर्विरोध उत्पन्न हो गया है। सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद से मुकाबला करने के लिए चीन के साम्यवादी नेता अमरीका और दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों से मित्रता स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं।[12] मार्क्स की द्वंद्वात्मक पद्धति को ध्यान में रखते हुए यह विश्लेषण सही नहीं है। वास्तव में आज भी विश्व की राजनीति का मुख्य अंतर्विरोध रूस, चीन तथा अन्य समाजवादी देशों और अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, जापान आदि पूंजीवादी देशों के मध्य है। रूस और चीन के साम्यवादी दल अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के कारण अपने द्वंद्वात्मक विश्लेषण में एक भयंकर गलती कर रहे है।

मार्क्सवाद तथा अराजकतावादी साम्यवाद: मार्क्स के समकालीन बाकुनिन अराजकतावादी साम्यवादी विचारधारा और आदोलन के प्रणेता माने जा सकते हैं। बाकुनिन के पश्चात प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराजकतावादी विचारधारा और आंदोलन के विकास मे विशेष योगदान दिया। रूसी साहित्यकार तालस्ताय दार्शनिक अराजकतावाद के प्रतिपादक हैं। अराज-कतावादियों के अनुसार राज्यतंत्र, चर्च के संगठन और निजी संपत्ति पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था मे आपसी गठबंधन स्थापित है और वे समान रूप से जनता के दमन और शोषण मे लगे हुए हैं। अतः अराजकतावदी बाकुनिन और प्रिंस क्रोपाटकिन सशस्त्र हिंसात्मक क्रांति द्वारा राज्य, चर्च और निजी संपत्ति को एक साथ समाप्त कर देना चाहते हैं। वे अराजकतावादी संघों की स्थापना द्वारा बुद्धिजीवियों और मजदूरों तथा अन्य शोषित वर्गों को सशस्त्र हिंसात्मक क्रांति करने के लिए उत्तेजित करते है और आतंकवादी कार्यों के द्वारा उनमें क्रांतिकारी चेतना का विस्तार करना चाहते हैं। मार्क्सवादियों की तरह ही वे हिंसात्मक क्रांति के समर्थक है परंतु इनके विपरीत वे केवल सर्वहारा वर्ग को उसका साधन नहीं मानते और व्यक्तिगत हिंसात्मक कार्यवाहियों मे भी विश्वास करते हैं। वे क्रांति को विशिष्ट वर्गीय षड्यंत्र और विप्लव के रूप में देखते हैं जिनमें निर्णायक भूमिका क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों की रहेगी।

वे लेनिन की तरह श्रमिक संघों और साम्यवादी दल के संगठन को क्रांति के लिए आवश्यक नहीं समझते और समाजवादी क्रांति के पश्चात राज्य को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र के रूप में कायम नहीं रखना चाहते। मार्क्सवादी पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच के संक्रमणकाल मे राज्य को कायम रखना चाहते हैं परंतु अराजकतावादी क्रांति के तुरंत बाद राज्य को समाप्त कर वर्गविहीन साम्यवादी समाज की स्थापना करना

चाहते हैं। मार्क्स बाकुनिन और क्रोपाटकिन के विचारों को अव्यावहारिक और मजदूर आंदोलन के लिए हानिकारक मानते हैं। लेनिन का मत है कि साम्यवादी दल के नेतृत्व के बिना और मजदूर वर्ग के व्यापक समर्थन के अभाव में समाजवादी क्रांति को कार्यान्वित करना असंभव है और समाजवादी क्रांति के पश्चात साम्यवादी दल पर आधारित सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के बिना न तो पूंजीवादी व्यवस्था का समाजवादी व्यवस्था में बदला जा सकता है न ही पूंजीवादी प्रतिक्रांति की संभावनाओं को रोका जा सकता है। अतः लेनिनवादियों के अनुसार वर्गविहीन और राज्यविहीन साम्यवादी समाज की स्थापना एक लंबे ऐतिहासिक संक्रमणकाल के बिना नहीं हो सकती जिसमें राज्य का अस्तित्व समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए जरूरी है। अराजकतावादियों की तरह मार्क्स-वादी समाजवादी क्रांति के पश्चात धर्म संगठनों को भी बलपूर्वक समाप्त करने में विश्वास नहीं रखते बल्कि धीरे धीरे विज्ञान और भौतिकवादी द्वंद्ववाद के प्रचार द्वारा धार्मिक अंध-विश्वासों को मिटाना चाहते हैं। इन मतभेदों के बावजूद मार्क्सवादियों और अराजकता-वादियों के अंतिम उद्देश्यों और आदर्शों में समानता है क्योंकि दोनों पूंजीवाद, राज्यतंत्र और धर्मसंगठनों को अपने आदर्श साम्यवादी समाज में समाप्त कर देना चाहते हैं। रणनीति और कार्यनीति में अंतर के बावजूद दोनों सशस्त्र हिंसात्मक विप्लव और क्रांति-कारी साधनों का समर्थन करते हैं।

मार्क्सवाद तथा सिंडीकेटवाद : सिंडीकेटवाद मुख्य रूप से फ्रांसीसी विचारधारा है। फ्रांस का श्रमिक आंदोलन इसका जन्मदाता है। जार्ज सोरेल इस आंदोलन के महत्वपूर्ण बौद्धिक नेता थे। सिंडीकेटवादी मार्क्स के वर्ग संघर्ष और हिंसात्मक क्रांति के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं किंतु अराजकतावादियों की तरह वे साम्यवादी दल को न तो क्रांति का साधन मानते हैं और न ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की धारणा का समर्थन करते हैं। इस दृष्टि से सिंडीकेटवाद मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद का मेल है।

सोरेल राज्य को शोषक वर्ग और मध्य वर्ग की संस्था मानते हैं। राज्य का रूप चाहे जो कुछ हो, वह पूंजीवादी शोषण का ही यंत्र है। सभी राज्य वर्गतंत्रात्मक होते हैं। इस लिए राज्यतंत्र को नष्ट किए बिना मजदूर क्रांति कभी सफल नहीं हो सकती। लोकतंत्रीय राज्य भी पूंजीपतियों का ही राज्य है। अतः मजदूर आंदोलन को चुनाव या राजनीतिक कार्यक्रमों से स्वतंत्र रहकर आर्थिक क्षेत्र में क्रांति और विद्रोह करने का प्रयास करना चाहिए। वे हड़तालों, ध्वंसात्मक कार्यवाहियों, मशीनों की तोड़फोड़, बहिष्कार और अंत में राष्ट्रव्यापी आम हड़ताल को अपनी क्रांति का साधन घोषित करते हैं। सोरेल के अनुसार मजदूर वर्ग की आम हड़ताल वह शक्तिशाली हथियार है जो पूंजीवादी और सरकारी व्यवस्था को एक झटके में खत्म कर देगा। तब मजदूर समाज के मालिक हो जाएंगे और अपने श्रमिक संघों के जरिए आर्थिक व्यवस्था का संचालन करेंगे। सोरेल के अनुसार भी सिंडीकेटवाद का लक्ष्य वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज है।

मार्क्सवादियों के अनुसार सोरेल के विचार अव्यावहारिक, अबुद्धिवादी और मजदूर आंदोलन के लिए हानिकारक हैं। मजदूर साम्यवादी दल में संगठित हुए बिना केवल स्थानीय और बिखरे हुए श्रमिक संघों के माध्यम से क्रांति नहीं कर सकते। ब्रिटेन में

1926 की आम हड़ताल और फ्रांस में 1968 की आम हड़ताल मे सिद्ध हो गया कि राष्ट्रव्यापी आम हड़ताल भी पूंजीवादी और सरकारी व्यवस्थाओं को ठप करने मे असमर्थ रहती है। मजदूर केवल क्रांतिकारी राजनीतिक दल के नेतृत्व मे ही समाजवादी क्रांति कर सकते है, क्रांति के बाद *सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की मदद से ही* उसकी पूंजीवादी प्रतिक्रांति से रक्षा कर सकते हैं। अतः लेनिन के नेतृत्व मे रूस की समाजवादी क्रांति की सफलता के बाद यूरोप के मजदूर आदोलनों पर सिंडीकेटवादियों का प्रभाव समाप्त हो गया। तदुपरांत मजदूर आदोलन के क्रांतिकारी तत्व साम्यवादी दलों में शामिल हो गए और सुधारवादी तत्व समाजवादी या मजदूर दलों में संगठित हो गए।

विकासवादी समाजवाद : विकासवादी समाजवाद के विभिन्न देशों में अनेक रूप हैं। जर्मनी मे विकासवादी समाजवाद की विचारधारा बर्न्सटाइन के संशोधनवाद के रूप मे शुरू होती है। मार्क्स के समकालीन श्रमिक नेता लसाल भी राज्य के माध्यम से क्रमिक विकास द्वारा समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित कराना चाहते थे। विकासवादी समाजवाद पर मार्क्स के पूर्ववर्ती काल्पनिक समाजवादी विचारकों सेंटसिमोन, चार्ल्स फूरिये और राबर्ट ओवन का विशेष प्रभाव है। संशोधनवादी मार्क्स की द्वंद्वात्मक पद्धति, इतिहास की भौतिक व्याख्या और वर्ग संघर्ष के सिद्धातो की आलोचना करते हैं। वे समाजवाद की स्थापना के लिए सर्वहारा वर्ग की क्रांति को अनावश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि राजनीतिक लोकतंत्र और वयस्क मताधिकार की स्थापना के बाद उद्योगप्रधान देशो में बहुसंख्यक मजदूर वर्ग शांतिपूर्ण चुनावो के जरिए समाजवादी सुधारों को कार्यान्वित करा सकते हैं। संशोधनवादियों के नेतृत्व मे जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक दल ने क्रांति के लक्ष्य को छोड दिया और एक सुधारवादी कार्यक्रम अपना लिया। हैलोवेल के अनुसार जर्मनी के विकासवादी सोशलिस्टों का कार्यक्रम इस प्रकार था : सबको प्रत्यक्ष और समान मताधिकार, जनसख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व, लोकमत सग्रह और उपक्रम द्वारा कानून बनाने का अधिकार, केंद्रीय सेना के स्थान में क्षेत्रीय नागरिक सेना, युद्ध की घोषणा के पूर्व लोकमत संग्रह, चर्च के लिए सरकारी सहायता की समाप्ति, धर्मनिरपेक्ष शिक्षा, न्यायाधीशों का निर्वाचन और निःशुल्क कानूनी सहायता, मृत्युदंड का अंत, निःशुल्क चिकित्सा, आय के साथ बढ़नेवाला आयकर, आठ घंटे काम का नियम, बच्चो से काम लेने का निषेध और प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य जीवनबीमा। इस प्रकार विकासवादी समाजवाद और उदारवादी लोककल्याण के कार्यक्रमों मे कोई विशेष अंतर नही रहा।[13]

कार्ल कौत्स्की पहले विश्वयुद्ध के बाद सोशल डेमोक्रेटिक दल की विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक थे। वे लेनिन की विचारधारा और रूसी क्रांति के कट्टर विरोधी थे। उनका कहना था कि मार्क्सवाद की शिक्षाओं को लेनिनवादियो ने तोड़-मरोड कर रख दिया है। उनका विश्वास था कि समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक हिंसा की जरूरत नही है। कौत्स्की श्रमिक संघ आदोलन के विकास, सहकारी समितियों के विस्तार और संसदीय और संविधानिक उपायो की मदद से मजदूर वर्ग की दशा सुधारने का समर्थन करते थे। कौत्स्की तथा उनके अन्य साथी समाजवाद को श्रमिक विकास द्वारा लाना चाहते थे। यद्यपि कौत्स्की अपनी गिनती मार्क्सवादियों मे करते थे

किंतु व्यवहार में वे पक्के विकासवादी ही थे और रोजा लुक्समवर्ग तथा कार्ल लीवनेख्त जैसे क्रांतिकारी मार्क्सवादियों से उनके तीव्र मतभेद थे। वे लोकतंत्र और लोकतंत्रीय साधनों के समर्थक थे। और शायद उनकी दृष्टि में लोकतंत्र का समाजवाद से भी अधिक महत्व था। वे लेनिनवाद का यह कहकर विरोध करते थे कि यह अल्पमत का शासन है और पशुवल का प्रतीक है। 1919 में वाइमर गणतंत्र की स्थापना के बाद जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने सत्ता संभाली किंतु जर्मनी के विकासवादी समाजवादी अपने शासन-काल में किसी भी समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित न कर सके। जर्मन साम्यवादी सोशल डेमोक्रेटों को गद्दार समाजवादी कहकर उनका विरोध करते रहे। वस्तुतः सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी एक कमजोर पार्टी थी और ऐसी ही कमजोर पार्टियों के कंधों पर चढ कर हिटलर और नाजीवाद ने तानाशाही की स्थापना की। इटली में इसी तरह की कमजोरी मुसोलिनी और फासीवाद की सफलता का कारण बनी।

ब्रिटेन का फेबियन समाजवाद : फेबियन समाजवाद भी विकासवादी समाजवाद की एक शाखा है। यह विशेष रूप से अंगरेज बुद्धिजीवियों के दिमाग की उपज है। मार्क्सवाद तथा फेबियनवाद में प्रमुख मतभेद यह है कि जहां मार्क्सवाद क्रांतिकारी साधनों का समर्थक है, फेबियनवाद की कार्यनीति पूर्ण रूप से विकासवादी है और यह प्रचार द्वारा और वर्ग सहयोग के आधार पर धीरे धीरे लोगों की सहमति से समाजवादी कार्यक्रमों को लागू करना चाहता है। 1884 में कुछ अंगरेज बुद्धिजीवियों ने फेबियन सोसाइटी की स्थापना की। 1919 में इसने फेबियन समाजवाद के उद्देश्य की घोषणा करते हुए कहा : 'भूमि और औद्योगिक पूंजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके और उन्हें सार्वजनिक हित के लिए समाज के हाथों में सौंपकर समाज का पुनर्गठन करना इसका लक्ष्य है। देश की प्राकृतिक और अर्जित संपत्ति को पूरी जनता में न्यायोचित ढंग से बांटना इसी तरह संभव है···यह उन सब उद्योगों को समाज के नियंत्रण में लाने की कोशिश करता है जिनका संचालन सामाजिक रीति से किया जा सकता है और उत्पादन, वितरण और सेवाओं के नियमन में व्यक्तिगत मुनाफे की जगह सार्वजनिक हित को मुख्य उद्देश्य बनाने का प्रयास करता है।'[14]

लेडलर का मत है कि फेबियनवादी वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था की जगह समाज-वाद की स्थापना क्रमिक विकास द्वारा ही करना चाहते हैं। वे समझते हैं कि शांतिपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक तरीकों से भूमि और उद्योगों को धीरे धीरे सहकारी नियंत्रण और सामाजिक स्वामित्व में लाया जा सकता है। वे मध्यवर्ग को एक ऐसा समुदाय मानते हैं जो जनता और समाज को समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित कराने में प्रशासनिक और राजनीतिक नेतृत्व प्रदान कर सकता है।[15] फेबियनवादी लोकतंत्र और संसदीय प्रणाली के अंतर्गत राज्य के कार्यक्षेत्र को बढाकर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहते हैं।

फेबियन समाजवाद के समर्थकों में सिडनी तथा बीट्रिस वेब, ग्राहम वैलस, एच जी वेल्स, बर्नार्ड शा और जी डी एच कोल के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। इन्होंने निबंध और पुस्तकें लिखकर फेबियन समाजवाद के विचारों और कार्यक्रमों का प्रचार

किया है। वे फेबियनवाद के कार्यक्रम को बुद्धिजीवियों, मजदूर वर्ग तथा सभी राजनीतिक दलों के सहयोग से कार्यान्वित कराना चाहते थे। इन पर रिकार्डो, जॉन स्टुअर्ट मिल और हेनरी जार्ज के विचारों का प्रभाव था। वे लगान और ब्याज को आय का अनुचित और अनैतिक साधन मानते थे और मुनाफे को सीमित करना चाहते थे। अधिकांश पूजीपति अब अध्यवसायी उद्यमों मे नही लगे हुए थे। वे तो सूद और किराए की आमदनी का उपयोग करते थे।

सिडनी वेब तथा अन्य फेबियनवादी अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को नही मानते और इसीलिए पूजी और श्रम के श्रेणी संघर्ष की अनिवार्यता को नही मानते। वे पूजीपतियों की निजी संपत्ति पर श्रमिकों के अधिकार की नही अपितु संपूर्ण समाज के अधिकार का दावा करते हैं। राष्ट्रीयकृत उद्योगों के मालिको को वे उचित मुआवजा देने के पक्ष में हैं। श्रीमती बीट्रिस वेब ने फेबियन समाजवाद के अंतर्गत स्त्रियों की भूमिका के संबंध मे कुछ मनोरंजक सुझाव दिए। उनके अनुसार समाजवादी समाज में स्त्रियां न तो घरेलू कार्य करेंगी, क्योंकि खाना पकाने का काम होटलों और रेस्तराओं में पुरुष नौकर और रसोइये संभाल लेंगे, और न वे कारखाने मे मजदूरी करने जाएंगी क्योंकि विज्ञान और तकनीक के विकास के फलस्वरूप पुरुष मजदूर अकेले ही समाज के लिए कुल जरूरी चीजो का उत्पादन कर सकते है। वे राजनीति का क्षेत्र भी पुरुषों के लिए छोड देंगी। स्त्रिया केवल शिक्षा, चिकित्सा, ललित कलाओं इत्यादि क्षेत्रो में कार्य करके जीवन को सुदर और नैतिक बनाने मे सहायता करेंगी। पुरुष राजनीति और उत्पादन कार्यों मे भाग लेंगे। स्त्रियां उस उत्पादन का उपयोग करेंगी और नैतिकता, बौद्धिक विकास और सौंदर्यबोध के क्षेत्रों मे पुरुषों के कंधो पर सवार होकर उनका पथप्रदर्शन करेंगी। श्रीमती बीट्रिस वेब के अनुसार समाजवादी समाज मे युद्धो के अंत के कारण सैनिक वर्ग की आवश्यकता नही रहेगी।[26]

बर्नार्ड शा ने 'इंटेलीजेंट विमेंस गाइड टु सोशलिज्म एँड कैपीटलिज्म' नामक पुस्तक मे महिलाओं के लिए फेबियन समाजवाद की विचारधारा अत्यंत दिलचस्प तरीके मे प्रस्तुत की। उनका विचार था कि पूजीवादी व्यवस्था में मजदूरों की तरह स्त्रियां भी शोषित वर्ग की सदस्य हैं। वे अक्सर पूजीपतियो और पुरुषों के दोहरे शोषण की शिकार होती हैं। इसलिए समाजवाद मजदूरो की मुक्ति के साथ-साथ स्त्रियों को भी स्वतंत्रता दिलाएगा। बर्नार्ड शा का मत था कि अगर मध्यवर्ग की शिक्षित महिलाएं और युवतियां समाजवाद के आदर्शों को समझ लें और स्वीकार कर लें तो वे शक्तिशाली और सुसंगठित मजदूरवर्ग के कंधों पर सवार होकर एक शक्तिशाली समाजवादी आंदोलन चला सकती हैं, और सांविधानिक तथा शांतिपूर्ण उपाय से ब्रिटेन में समाजवादी ढंग की व्यवस्था कायम कर सकती हैं।[27]

लेबर पार्टी का विकासवादी समाजवाद : फेबियन समाजवाद का प्रभाव बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा। ब्रिटेन के श्रमिक संघों की संगठित शक्ति के आधार पर लेबरपार्टी की स्थापना हुई और अधिकांश फेबियनवादी इसी दल के सदस्य बन गए। लेबरपार्टी ने 1929 मे कोयले की खानो, भूमि, यातायात और जीवन बीमा के समाजीकरण तथा बैंक

आफ इंग्लैंड के राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम को अपनाया। 1945 के आम चुनाव में सफलता मिलने पर इस पार्टी ने पहली बार संसद में बहुमत प्राप्त कर स्थाई सरकार बनाई और अपने कार्यक्रम को कार्यान्वित किया। तब से इस दल ने कई बार सत्ता संभाली है और आज भी ब्रिटेन में यह सत्तारूढ है। लेबर पार्टी ने अब तक कोयले और इस्पात के उद्योगों, बैंक आफ इंग्लैंड, रेल और बस परिवहन इत्यादि का राष्ट्रीयकरण करके राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के 20 प्रतिशत भाग को राज्य के नियंत्रण मे कर लिया है। गृहनिर्माण, वृद्ध और बेकारों की सहायता और निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्रो मे लेबरपार्टी ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। ब्रिटिश लेबरपार्टी ने भी यूरोप की सोशलिस्ट और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों की तरह अब आगे उद्योगो के राष्ट्रीयकरण का विचार त्याग दिया है। भूमि के समाजीकरण का विचार 1918 से ही लेबरपार्टी के कार्यक्रम का अंग रहा है, पर उसे कार्यान्वित करने की भी कोई सभावना दिखाई नही पडती।

ब्रिटेन का गिल्ड समाजवाद : गिल्ड समाजवाद के मुख्य समर्थको मे ए जे पेंटी, ए आर ओरेज, एस जी होब्सन और जी डी एच कोल के नाम लिए जा सकते हैं। गिल्ड समाजवाद भी विकासवादी समाजवाद का ही एक रूप है। इसमे सिंडीकेटवादी और फेबियनवादी विचारों का मेल कर दिया गया है। इसका प्रभाव भी मुख्य रूप से बुद्धिजीवियों तक सीमित रहा किंतु कुछ गिल्ड समाजवादियो ने मजदूर सघो की स्थापना भी की। गिल्ड समाजवादी भी हिंसात्मक क्रांति के विरोधी है और मजदूर संघो के शांतिपूर्ण आदोलन के जरिए गिल्ड समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते है। वे राज्य के बहुलवादी विश्लेषण को स्वीकार करते हैं और राज्य में आर्थिक शक्तियो के सकेंद्रण का विरोध करते है। वे व्यावसायिक लोकतंत्र के समर्थक हैं। प्रत्येक उद्योग के कर्मचारी अपने स्थानीय और राष्ट्रीय संगठनो के निर्माण द्वारा अपने उद्योग का संचालन करेंगे। उनके अनुसार गिल्ड मजदूरों का ऐसा संघ है जिसके द्वारा मजदूर स्वय अपने कारखाने और उद्योग का प्रबंध करेंगे और जब तक उन्हे औद्योगिक स्वशासन का अधिकार न मिल जाए, वे गिल्ड के माध्यम से ही पूजीवादी व्यवस्था मे सुधार और क्रमिक परिवर्तन की माग करते रहेंगे।

जी डी एच कोल तथा गिल्ड समाजवादी वर्तमान मजदूरी प्रथा को नैतिक, मनो-वैज्ञानिक, आर्थिक और कलात्मक कारणों से बुरा और अनुचित समझते हैं। मजदूरी प्रथा मजदूरो में दास भावना पैदा करती है और उनकी सृजनात्मक प्रतिभा को दबाती है। अतः उद्योगों को मजदूर संघों के नियत्रण में कर देना चाहिए जिससे मजदूर स्वतंत्र होकर शोषण की संभावना से मुक्त होकर उत्पादन मे योगदान दे सकें। गिल्ड समाज-वादी राज्य समाजवाद के सिद्धांत के भी विरोधी है क्योकि राष्ट्रीयकृत उद्योगों का संचालन सरकारी अधिकारी करेंगे और वहा भी मजदूरो को व्यावसायिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नही हो सकेगी। गिल्ड समाजवादी राज्य के कार्यों को प्रतिरक्षा, पुलिस, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि विषयों तक सीमित कर देंगे और सभी आर्थिक कार्यों का प्रबंध मजदूर संघो को सौंप देंगे। वस्तुतः श्रेणी समाजवाद मध्य युग की गिल्ड व्यवस्था से प्रेरणा ग्रहण करता है। व्यवसायवाद पर आधारित उद्योगो का विकेंद्रीकरण अव्याव-

हारिक है। समाज में आर्थिक और राजनीतिक कार्यों का विभाजन करना व्यवहार में कार्यान्वित करना संभव नहीं है। आर्थिक और राजनीतिक विधायिकाओं को अलग समानांतर अधिकारक्षेत्रों का सुझाव भी व्यावहारिक नहीं है। नागरिकों को उत्पादकों और उपभोक्ताओं की पृथक श्रेणियों में बांटना भी कृत्रिम और अस्वाभाविक है। अतः अधिकांश गिल्ड समाजवादी कुछ समय बाद लेबर पार्टी में शामिल हो गए और राज्य समाजवाद की विकासवादी विचारधारा को स्वीकार करने लगे।

लास्की का लोकतांत्रिक समाजवाद : यह भी विकासवादी समाजवाद का एक रूप है। लास्की भी प्रारंभ में जान स्टुअर्ट मिल के विचारों से प्रभावित होकर फेबियनवादी बने थे। लास्की की प्रारंभिक विचारधारा फेबियनवाद के राज्य के समाजवादी रूप को स्वीकार नहीं करती थी और वह एक प्रकार से गिल्ड समाजवाद के अधिक निकट थी। अंत में वे राज्य समाजवाद की दिशा में फेबियनवादियों से भी आगे बढ़ गए और 1933 में उन्होंने अपने को मार्क्सवादी घोषित कर दिया। कौत्स्की की तरह लास्की भी केवल सैद्धांतिक रूप से वर्गसंघर्ष, क्रांति इत्यादि मार्क्सवादी विचारों का समर्थन करते रहे किंतु व्यवहार में वे लेबरपार्टी के विकासवादी समाजवाद का ही समर्थन करते रहे। उन्होंने हिंसात्मक क्रांति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मार्क्सवादी सिद्धांतों को कभी स्वीकार नहीं किया।

लास्की का विचार है कि विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना के कारण पूंजीवादी व्यवस्था में शांतिपूर्ण ढंग से मौलिक परिवर्तन किए जा सकते हैं। निर्वाचन में विजय मिलने पर मजदूर दल को समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का अवसर मिल जाएगा। राजनीतिक लोकतंत्र की स्वाभाविक प्रवृत्तियां उसे आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र की दिशा में ले जाती हैं। फिर भी उन्हें डर है कि सेना, नौकरशाही और न्यायालयों के विरोध के कारण विजयी मजदूर दल अपने समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित न कर सके। उनका विचार है : न तो फेबियन-वादी और न प्रगतिशील उदारवादी यह समझ सके कि संसदीय सरकार की सफलता दो शर्तों पर निर्भर थी। सर्वप्रथम इसके लिए सुरक्षा की भावना जरूरी थी। जिसमें पूंजी-पति वर्ग को असीमित मुनाफा कमाने का अवसर और उसके एक अंश को जनता में बांटने की क्षमता मिले, दूसरी शर्त यह थी कि दोनों दल राजनीति में समाज के संगठन के मूल तत्वों के विषय में एकमत होंगे जिससे बिना किसी आतंक की भावना उत्पन्न किए वे सरकार में एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर सकें। इन शर्तों को पूरा किए बगैर संसदीय शासन मतभेदों का युक्तिसंगत हल निकालने में समर्थ नहीं था।[18]

लास्की के अनुसार पूंजीवाद का पहला गंभीर दोष योजनाहीनता है। उसमें उत्पादन की कोई पूर्व योजना नहीं होती। समाज की आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं का उत्पादन करने की बजाय धनी वर्ग की मांगों की पूर्ति की जाती है। जनता के मकानों, स्कूलों, भोजन, वस्त्र आदि जरूरतों को पूरा करने के पहले युद्धपोतों के निर्माण, धनी सुंदरियों के विलास तथा धनिक वर्ग के आराम के लिए धन खर्च किया जाता है। अधिकांश उत्पादन परोपजीवी आलसी धनी वर्ग के शौकों को पूरा करने के लिए किया जाता है।

पूंजीवादी प्रणाली का दूसरा दोष असीमित मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति है। मुनाफे के लिए पूंजीपति प्राकृतिक संपदा को बरबाद कर सकते है, वस्तुओं मे मिलावट कर सकते हैं और बोगस कंपनिया खोल सकते है। वे विधायकों और अधिकारियों को भ्रष्टाचारी बना सकते है और शिक्षा प्रणाली को दूषित कर सकते है। वे इजारेदारी द्वारा वस्तुओं की कीमतों को कृत्रिम रूप से बढा सकते है और असहाय पिछडी जातियों के राष्ट्रीय धन का निर्दयता से शोषण कर सकते है।

लास्की मार्क्स के इस मत से पूर्णतया सहमत है कि उत्पादन के पूजीवादी तरीकों में समय समय पर आर्थिक संकटों का आना अनिवार्य है। 1929-1933 का महान संकट विश्व पूजीवाद के इतिहास का सबसे गभीर आर्थिक संकट था जिसके परिणामस्वरूप फासिस्ट शक्तियां जर्मनी तथा अन्य देशों में सत्तारूढ हुई और उन्होने मानवता को द्वितीय विश्वयुद्ध की भट्टी मे झोंक दिया। लास्की का विश्वास है कि पूजीवादी सकटों का एकमात्र इलाज उत्पादन मे समाजवादी पद्धति को स्थापित करना है। उनके द्वारा प्रस्तुत समाजवादी व्यवस्था की सकल्पना मूलत: मार्क्सवाद की तुलना में फेबियनवाद के अधिक निकट है। फेबियनवाद की तरह लास्की भी लोकतंत्र की परिधि के अंतर्गत क्रमिक विकास द्वारा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और धन का न्यायोचित वितरण करना चाहते है। लास्की के समाजवादी लोकतंत्र मे जन्म, जाति, धर्म, पद, स्तर, श्रेणी, योनि या नस्ल के आधार सभी विशेषाधिकारों का अंत कर दिया जाएगा। परंतु फेबियनवादियो की तरह लास्की 'सहमति से क्राति' के सिद्धात का ही समर्थन करते है। उनका विश्वास है कि समाजवादी आर्थिक योजनाए लोकतात्रिक स्वतंत्रता के वातावरण मे क्रमिक विकास की नीति द्वारा कार्यान्वित की जा सकती है।

विकासवादी समाजवाद और मार्क्सवाद का इन्ही प्रश्नो पर मौलिक मतभेद है। इतिहास अभी तक यही सिद्ध करता है कि विकासवादी समाजवादी पूजीवादी व्यवस्था को बदलकर समाजवाद लाने में किसी भी देश मे सफल नही हो सके। इसके विपरीत जहा भी मार्क्सवादी क्रांति द्वारा सत्तारूढ हुए उन्होने पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट कर सफलतापूर्वक समाजवादी व्यवस्था कायम कर दी। सोवियत रूस, पूर्वी यूरोप के देश, जनवादी चीन, वियतनाम, लाओस, कंबोडिया तथा क्यूबा इसके ज्वलंत उदाहरण है। जहा लेबर और सोशलिस्ट पार्टियों ने वर्षों तक सरकार में पद संभाले, वहा भी पूंजीवाद आज भी मजबूती से कायम है। ब्रिटेन, फ्रास, पश्चिमी जर्मनी, नार्वे, स्वीडन आदि देश इसके उदाहरण हैं। अत: मार्क्सवादी विकासवादी समाजवाद को वास्तविक समाजवाद न मानकर उसे पूजीवाद का ही एक प्रच्छन्न, नियंत्रित और सुधरा हुआ रूप समझते हैं। मार्क्सवादियों ने बड़े क्षोभ के साथ विकासवादी समाजवादियों पर यह आरोप लगाया है कि वे सर्वहारा वर्ग का साथ छोड़कर पूजीपति वर्ग के साथ गठबंधन करते हैं।

संदर्भ

1. टी बी बाटमोर तथा एम रुबेल : 'कार्ल मार्क्स', पृ० 17-19
2 वही, पृ० 126.
3 वही, पृ० 126-27.
4 वही, पृ० 128-29.
5 वही, पृ० 137.
6 वही, पृ० 138.
7 वही, पृ० 191.
8 मार्क्स का वेडमेयर को 5 मार्च 1852 को लिखा पत्र.
9. आशीर्वादम 'राजनीति विज्ञान', पृ० 635.
10 वही, पृ० 636-37.
11. वही, पृ० 644.
12. वही, पृ० 647
13 वही, पृ० 662.
14. ई आर पीज : 'दि हिस्टरी आफ दि फेबियन सोसाइटी', पृ० 259.
15, लेडलर 'सोशल-इकोनोमिक मूवमेंट्स', पृ० 184
16. आशीर्वादम : 'राजनीति विज्ञान', पृ० 670.
17. वही, 671.
18. हेरोल्ड जे० लास्की : 'दि राइज़ आफ यूरोपियन लिबरलिज्म', पृ० 242.

12

फासीवाद तथा नाजीवाद

आधुनिक युग में फासीवाद तथा नाजीवाद की विचारधाराएं और आदोलन अत्यधिक विवाद के विषय बने हुए है। पहले विश्वयुद्ध के पश्चात मुसोलिनी ने इटली मे फासिस्ट पार्टी की स्थापना की। इटली का फासीवाद आदोलन वहां पर कायम दुर्बल उदारवादी शासन प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी जिसके खिलाफ मुसोलिनी ने यह आरोप लगाया कि वह इटली को महाशक्ति का दरजा दिलाने में और प्राचीन रोम के गौरव को वापस लाने मे पूर्ण रूप से असफल रही।[1] 1920 में उत्तरी इटली मे क्रांतिकारी समाजवादियों और सिंडीकेटवादियों ने मजदूर क्रांति का झंडा बुलंद किया जिसके फलस्वरूप क्रांतिकारी मजदूरों ने मिलान इत्यादि नगरों के कारखानों पर कब्जा कर लिया। कुछ समय बाद इटली की अनुदारवादी सरकार ने दक्षिण से फौजें भेजकर उत्तरी इटली की सर्वहारा क्रांति को कुचल दिया। अत: मार्क्सवादी लेखकों के अनुसार मुसोलिनी का फासीवाद आदोलन असफल मजदूर क्रांति की प्रतिक्रिया थी जिसके द्वारा इटली के पूजीवादी वर्ग तथा अनुदार दलों ने आपसी साजिश के अनुसार इटली मे लोकतंत्र को समाप्त कर राज्य की सत्ता फासिस्ट तानाशाही को सौंप दी।

जर्मनी का नाजीवादी आदोलन, जिसे हिटलर ने शुरू किया, वाइमर गणतंत्र के दुर्बल लोकतंत्रीय शासन और मित्र राष्ट्रों के द्वारा जर्मनी पर लादी गई वार्साई संधि के अन्यायों के विरुद्ध प्रतिक्रिया माना जाता है।[2] जर्मनी मे भी निरंकुश राजतंत्र के पतन के बाद सर्वहारा वर्ग की क्रांति फूट पड़ी थी और *बर्लिन, सैक्सनी तथा बावारिया* में मजदूर वर्ग क्रांतिकारी कार्यों में उत्साह से भाग ले रहा था। मजदूर क्रांति के फलस्वरूप ही जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के दक्षिणपंथी नेता सत्ता में आए परंतु उन्होंने जर्मनी के पूजीवादी वर्ग तथा प्रतिक्रियावादी सेनापतियों से समझौता कर लिया और सर्वहारा क्रांति को कुचल दिया। वे स्वयं इस समझौते के कारण अर्थव्यवस्था मे कोई मौलिक समाजवादी परिवर्तन करने में असफल रहे। 1919 और 1924 के बीच मे तथा 1929 और 1933 के मध्य जर्मनी घोर आर्थिक संकटों का शिकार हुआ। हिटलर का नाजीवादी आदोलन जर्मनी में असफल सर्वहारा क्रांति की प्रतिक्रिया थी, जिसके माध्यम से जर्मनी के अनुदार दलों ने पूंजीपति वर्ग से साजिश कर वाइमर लोकतंत्र को नष्ट कर

राज्य की सत्ता नाजी तानाशाही के हाथ में सौंप दी।

सैबाइन तथा लास्की के अनुसार फासीवाद तथा नाजीवाद अविवेकवादी और क्रियावादी आंदोलन है जिनकी कोई तर्कसम्मत या सुनिश्चित विचारधारा ढूढ़ पाना संभव नही है। कुछ लेखक फासीवाद तथा नाजीवाद के वैचारिक स्रोत हीगेल, नीत्शे, शोपेनहावर, क्रोस इत्यादि के रोमासवादी तथा आदर्शवादी दर्शन मे खोजते हैं। इनके विचारों मे और फासिस्ट और नाजी मान्यताओं मे कुछ समता जरूर है किंतु फासीवाद या नाजीवाद कोई दार्शनिक सिद्धात नही हैं। वास्तव मे फासिस्ट तथा नाजी आदोलनों की शुरुआत पहले हुई और उसके तथाकथित सिद्धात बाद मे गढ़ लिए गए। ये सिद्धात या तो फासिस्ट तथा नाजी आंदोलनों की नीतियों और कार्यों को उचित ठहराने के लिए या विरोधी पार्टियों के सिद्धातो और नीतियो की निंदा करने के लिए जल्दबाजी मे बना लिए गए। अतः ये सिद्धात अवसरवादी प्रचार ज्यादा और युक्तिसंगत विचार कम मालूम पडते हैं और इनमे अतर्विरोध भरे पड़े हैं।

इटली तथा जर्मनी मे फासीवादी तथा नाजीवादी आंदोलनों का राष्ट्रीय निराशावाद और अपमान के वातावरण में उदय हुआ था। नाजीवादी और फासीवादी विचारधारा का उत्तेजनापूर्ण राष्ट्रवाद राष्ट्रीय मनोविज्ञान के उपर्युक्त पहलू का ही नतीजा था। इन देशो मे आर्थिक सकट मध्यवर्ग के लिए विशेष रूप से खतरनाक साबित हो रहा था। अतः फासिस्ट तथा नाजी आदोलन मे भयभीत मध्यवर्ग ने काफी संख्या में भाग लेकर एक ऐसे सर्वाधिकारवादी राज्य की मांग की जिसमे मध्य तथा उच्च वर्ग के लोगो के विशेषाधिकार सुरक्षित रहें, नागरिको को काम दिया जाए और सैन्यीकरण द्वारा राज्य को ताकतवर बनाया जाए। नाजीवाद ने नस्ल के आधार पर आर्य जर्मन जाति की श्रेष्ठता का प्रचार कर अवैज्ञानिक किंतु भावुकतापूर्ण युक्तियों से अपने राजनीतिक आदोलन को मजबूत बनाया।

इसके अलावा नाजी तथा फासिस्ट विचारधारा मे कुछ ऐसे विचार शामिल कर लिए गए जिनका मुख्य ध्येय उदारवादियो और मार्क्सवादियों के सिद्धांतो का खंडन करना था। चूकि मार्क्सवादी अपने को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी मानते थे, उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे फासीवादी और नाजीवादी अपने को आत्मवादी और रोमासवादी कहने लगे। मार्क्सवादी और उदारवादी अपने को विवेकवादी कहते थे तो फासीवादी और नाजीवादी अपने को अविवेकवादी भावनावादी या शक्तिवादी घोषित करने लगे। चूकि समाजवादी और साम्यवादी वर्ग सघर्ष और सर्वहारा वर्ग की क्राति के सिद्धातों को मानते थे, उन्होंने वर्ग सहयोग और वर्ग बंधुत्व के सिद्धातो का उपदेश देना शुरू कर दिया और अपने सर्वाधिकारवादी राज्य को सभी वर्गों का समान रूप से हितैषी घोषित किया। जहा मार्क्सवादी पूजीवादी व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन की माग करते थे वहा वे आर्थिक क्षेत्र में यथास्थिति के अनुदार समर्थक बन गए और झूठे समाजवादी नारों की मदद से मार्क्सवादी और सोशल डेमोक्रेटिक मजदूरों को बहलाकर अपने झंडे के नीचे लाने की कोशिश करने लगे। मार्क्सवादी मजदूर वर्ग को अंतर्राष्ट्रीय एकता की शिक्षा देते थे तो फासीवाद और नाजीवादी उनमें आवेगपूर्ण, विकृत और नस्लवादी राष्ट्रवाद की मनोवृत्ति भरने लगे।

इसी तरह नाजी और फासिस्ट प्रचारक उदारवाद के मुख्य सिद्धांतो का भी खंडन करते थे। जहां उदारवादी राज्य की तुलना मे व्यक्ति को प्राथमिकता देने के पक्ष मे थे, वहां फासीवादी और नाजीवादी राज्य और समाज को व्यक्ति से कही अधिक महत्वपूर्ण घोषित करते थे। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता, विचार और भाषण की आजादी एव समाचार-पत्र, सिनेमा, समुदाय, कला, विज्ञान, साहित्य, शिक्षा आदि की स्वतंत्रता को उदारवादी भ्रांतियां मानते थे। फासिस्ट राज्य में सभी राजनीतिक दलो और अन्य विरोधी संगठनों और समुदायो पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है और उनका बलपूर्वक दमन कर दिया जाता है। फासिस्ट सरकार के विपक्षियो को फासी दे दी जाती है या यातना शिविरों मे रखकर दासता की स्थिति मे श्रम कराया जाता है और तड़पाकर मारा जाता है। नाजियों ने यहूदियों, सोशलिस्टों, कम्युनिस्टों और विजित जाति के असंख्य लोगो को इन्ही यातना शिविरों मे मौत के घाट उतारा। ऐसे सर्वाधिकारवादी राज्य मे चुनाव और मताधिकार अर्थहीन और व्यर्थ हो जाते हैं। उदारवादी राज्य की प्रतिनिधि सस्थाओ को तोड़मरोड़ कर खत्म कर दिया जाता है। विधायिकाएं और न्यायपालिकाएं एकदलीय कार्यपालिका के अधीन कर दी जाती है। सारी सत्ता संकुचित होकर फासिस्ट तानाशाह के इर्दगिर्द घूमने वाले छोटे गुट मे निहित कर दी जाती है। इस तानाशाह को, मैक्स वेबर की भाषा मे, देवतुल्य चमत्कारिक नेता मान लिया जाता है।

उदारवादी लेखक प्राय: साम्यवादी और फासीवादी सिद्धांतो मे समानता दिखाने की कोशिश करते हैं। लास्की का मत है: 'लेनिन और मुसोलिनी ने कानून के शासन को हटा कर मनुष्यों का शासन स्थापित किया है। उन्होने सार्वजनिक नैतिकता को दूषित किया है जिसके आधार पर ही सभ्य समाज के संबध स्थिर है। विपक्षियों के साथ अपराधियों जैसा आचरण कर उन्होंने विचार को ही खतरनाक साहसिक कार्य बना दिया है। उन्होंने राजनीति मे ईमानदारी को दडनीय बनाया है। उन्होने आवेगो की लगाम ढीली छोड़कर जनजीवन की सुरक्षा नष्ट कर दी है।'[3] परंतु कुछ समय पश्चात विशेष रूप से जर्मनी में नाजीवाद की विजय के बाद लास्की साम्यवाद और फासीवाद के लक्ष्यों और उद्देश्यों मे मौलिक विभिन्नताओं की चर्चा करने लगे।

पूंजीपति वर्ग का क्रांतिविरोधी आंदोलन : मार्क्सवादियों के अनुसार फासीवाद तथा नाजीवाद पूंजीपति वर्ग के क्रांतिविरोधी आंदोलन हैं। इन आदोलनों का उद्देश्य है कि आर्थिक वर्गतंत्र और राजनीतिक लोकतंत्र के आपसी अंतर्विरोधों को खत्म करने के लिए लोकतंत्रीय प्रणाली का ही अंत कर दिया जाए। लास्की ने भी बाद मे स्वीकार किया कि पूंजीवादी विकास के वर्तमान चरण मे पूंजीपति श्रमिकवर्ग की मांगें पूरी करने में असमर्थ है क्योंकि पूंजीवाद के विस्तार का युग समाप्त हो चुका है और वह अब संकुचन की अवस्था में प्रवेश कर चुका है। अत: लास्की का मत है: 'अब स्थिति बिलकुल भिन्न है क्योंकि पूंजीवाद के पतन का चरण प्रारंभ हो चुका है। लोकतंत्र जिन सुविधाओं की आशा करता है, उनकी कीमत उसे ज्यादा महसूस होती है। पूंजीवाद की मान्यताएं लोकतंत्र की संभावनाओं के प्रतिकूल बैठती हैं। पूंजीवाद के पतन के चरण में यह जरूरी हो जाता है कि या तो लोकतंत्रीय प्रक्रिया को ही खत्म कर दिया जाए या समाज की

मूलभूत आर्थिक मान्यताओं को बदला जाए।'[4]

नाजी तथा फासिस्ट आंदोलन लोकतंत्रीय प्रक्रिया को समाप्त कर सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली को कायम करके पूजीवाद की रक्षा करता है। आर्थिक संकट की स्थिति मे पूजीवादी व्यवस्था में वेतनों की कटौती, जनता के जीवन स्तर में गिरावट ग्रौर व्यापक बेरोजगारी अनिवार्य बुराइया बन जाती हैं। पूजीपति अपने मुनाफों पर करों की छूट और सरकार के लोकहितकारी कार्यों की समाप्ति की मांग करते है। इसमें वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र बाधक है। इसलिए पूंजीपति वर्ग किसी फासिस्ट दल को तानाशाही स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है और तानाशाही के माध्यम से अपने उद्देश्यों को पूरा कराता है। नाजी तथा फासिस्ट दलों का, चाहे वे विपक्ष में हों या सत्ता में, पूजीपतियों से प्रकट या छिपा हुआ गठबंधन होता है। ये दल पूजीपतियो के संकेत पर मजदूर सघों तथा उनका प्रतिनिधित्व करने वाली कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट पार्टियों का क्रूरता और दृढता से दमन करते हैं। मजदूरों की हड़तालों पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है।

फासिस्ट ग्रांदोलन ग्रौर सैन्यवाद : फासिस्ट और नाजी दलों को इटली तथा जर्मनी के कुलीन जमीदारों तथा इस वर्ग से उत्पन्न सैनिक विशिष्ट वर्ग का भी व्यापक सहयोग प्राप्त होता है। फौजी कर्नल और जनरल इन दलों के सैन्यवादी कार्यक्रम और आक्रामक विदेशनीति के प्रशंसक होते हैं। फासिस्ट आंदोलन और सत्ता को मजबूत बनाने के लिए यथास्थिति के समर्थक कुलीनवर्गीय सेनापति भी पर्याप्त सहायता करते हैं। फासिस्ट तथा नाजीदलों ने अपने राजनीतिक विरोधियों को बलपूर्वक दबाने के लिए अपने अनुयायियो की एक निजी सेना भी तैयार की थी। इस निजी सेना के द्वारा जनता में सैन्यवाद की विचारधारा का प्रचार किया जाता है और सुविधाजनक परिस्थितियों मे बलपूर्वक सरकार पर कब्जा करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। फासिस्ट और नाजी सरकारों की स्थिरता बहुत कुछ फौजी जनरलों के समर्थन पर निर्भर रहती है। अतः फासीवादी और नाजीवादी नेता सशस्त्रीकरण और सैनिकीकरण की नीतियों का दृढता से समर्थन करते हैं।

मुसोलिनी और हिटलर दोनों युद्ध की आवश्यकता का प्रचार करते थे। उनका विश्वास था कि युद्ध नागरिकों के पौरुष को निखारता है और उनमें त्याग, साहस और बलिदान की भावनाओं का विकास करता है। मुसोलिनी के अनुसार युद्ध राष्ट्रीय स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए व्यायाम है। हिटलर भी विजयी तलवार की शक्ति मे विश्वास करता था। एक नाजी नेता का मत है कि एक सैनिक के दृष्टिकोण से शांतिवाद सैद्धांतिक कायरता है। कायरता कोई दर्शन नही है; बल्कि यह चरित्र का दोष है।[5] सर्वाधिकारवादी देश सैनिकवादी होते हैं और इसीलिए हिटलर का नारा था 'मक्खन से पहले बंदूक'।

नाजीवाद तथा फासीवाद राष्ट्रवाद का अर्थ संकीर्ण राष्ट्रीयता, अंधी देशभक्ति, आक्रमणात्मक लड़ाई, साम्राज्यवादी विस्तार आदि लेते हैं। उनके अनुसार राज्य एक शक्ति व्यवस्था है। मुसोलिनी का विचार था कि राज्य या तो अपनी शक्ति बढ़ाता है

और जीवित रहता है या दुर्बल होकर अपनी शक्ति खो देता है और मर जाता है। वह आधुनिक इटली के लिए रोम के साम्राज्य की सीमाएं चाहता था। मुसोलिनी के अनुसार साम्राज्यवाद जीवन का अनंत और अपरिवर्तनीय नियम है और इटली का विस्तार उसके जीवन और मरण का सवाल है। हिटलर की महत्वाकांक्षा भी सैनिक बल द्वारा विशाल जर्मन साम्राज्य स्थापित करने की थी। वह न केवल जर्मन अल्पसंख्यक क्षेत्रों को बल्कि फ्रांस, पोलैंड और रूस को भी जर्मन साम्राज्य का अंग बनाने का इच्छुक था और अपने साम्राज्यवादी लक्ष्यों की चर्चा उसने सत्ताग्रहण करने से पहले ही अपनी पुस्तक 'मीन कांफ' में कर दी थी।

सर्वाधिकारवादी निगमित राज्य : जबकि फासीवाद या नाजीवाद का आर्थिक आधार पूंजीवादी है, वह राजनीतिक क्षेत्र में सर्वाधिकारवादी निगमित राज्य की स्थापना करता है। वह बाह्य क्षेत्र में आक्रामक साम्राज्यवाद और आंतरिक क्षेत्र मे समग्रवादी तानाशाही का संयोजन है। आंतरिक रूप से नाजी या फासिस्ट दल राज्य के साथ पूर्ण एकरूपता स्थापित कर लेता है और राज्य की ओर से राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पक्ष का पूर्ण नियंत्रण करता है। राशस्त्रीकरण और सैनिकीकरण की नीतियों से फासिस्ट व नाजी सरकारें असंख्य बेरोजगार नागरिकों को फौज या हथियारों का उत्पादन करने वाले कारखानों में काम देती हैं और पूंजीवादी संकट का आशिक हल निकाल लेती हैं। उद्योगों और श्रमिकों के समग्रवादी नियंत्रण द्वारा फासीवादी राज्य औद्योगिक प्रणाली की पूरी क्षमता का उपयोग करता है और अपने सैन्यीकरण और युद्ध से संबद्ध लक्ष्यों को पूरा कर लेता है।

लास्की फासिस्ट तानाशाह की तुलना मैक्यावेली के निरंकुश शासक से करते हुए कहते हैं: 'सत्ता में रहने के लिए उसे ऐसी साविधानिक प्रक्रिया, जो उसे पद से हटा सके, नष्ट करनी पड़ती है अतः उसे असीमित सत्ता और असीमित अवधि पर आधारित निरंकुश शासन के रूप में कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार का असीमित निरंकुश शासन केवल भय पर टिका रह सकता है, अतः कानून के शासन के स्थान में आतंक का सहारा लेना आवश्यक है।'[6]

फासीवादी दावा करते है कि उनकी सबसे अधिक मौलिक और महत्वपूर्ण देन निगमित राज्य की विचारधारा है। उनके अनुसार निगमित राज्य न तो पूंजीवादी प्रणाली है और न समाजवादी प्रणाली। यह दोनों से उच्चतर नई राजनीतिक पद्धति है। मुसोलिनी के निगमित राज्य की धारणा एक प्रकार से मध्य युग की गिल्ड व्यवस्था, सोरेल के सिंडीकेटवाद और नेतृत्व के फासीवादी सिद्धांत के मेल पर आधारित है। कुमारी विलकिसन का मत है कि निगमित राज्य केवल पूंजीवादी प्रतिक्रिया ही नही है, उसमें समष्टिवाद के तत्व भी हैं। फासिस्ट राज्य दोनों का समन्वय करता है। वर्तमान पूंजीवादी राज्य में मालिक और मजदूर दो विरोधी वर्गों में संगठित होते हैं और दोनों उपभोक्ताओं के हितों की अवहेलना करते है। निगमित राज्य एक उद्योग मे संलग्न मजदूरों और मालिकों के अलावा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों को एक ही निगम में संगठित कर देता है। मालिकों, मजदूरों और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों को फासिस्ट पार्टी नियुक्त करती है।

इटली में 1934 तक किसी निगम की स्थापना नहीं की गई और जब उनकी स्थापना हो गई तो उन पर फासिस्ट पार्टी और उसकी एकदलीय सरकार का एकछत्र नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। निगमों का मुख्य कार्य राज्य को सलाह देना था। वे मालिकों और मजदूरों में विवादों का हल करते थे और राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्हें प्रेरित करते थे। हर निगम का नियंत्रण एक समिति करती था जिसका प्रधान मंत्रिमंडल का कोई सदस्य, राज्य का कोई सचिव या फासिस्ट पार्टी का कोई उच्च नेता होता था। निगमित राज्य का दावा है कि उसकी योजनाओं का आधार व्यक्तिवादी न होकर समूहवादी है, पर वास्तविकता यह नही है। फासिस्ट इटली में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा गया। व्यक्तिगत उद्यम और निजी संपत्ति का अंत नही किया गया। मुसोलिनी के अनुसार व्यक्तिगत संपत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए जरूरी है। निगमित राज्य के आलोचक जान स्ट्रैची का मत है कि फासिस्ट योजनाएं पूंजीपतियों की सहमति से बनती हैं और उनका उद्देश्य उन्हें विकास के लिए अधिकाधिक सुविधाएं देना है। निगमित राज्य स्वतंत्र मजदूर संघों का अंत कर देता है और मजदूरों के सारे पारंपरिक अधिकारों को छीनकर उन्हें राज्य का दास बना देता है।[7]

नाजी विचारधारा के अनुसार राष्ट्र को सर्वोपरि स्थान दिया गया परंतु नाजी तानाशाही की स्थापना के बाद राज्य ही राष्ट्र के गौरव का प्रतीक बन गया। नाजीपार्टी राष्ट्र और राज्य को जोड़ने वाली कड़ी थी। उसने जर्मन जनता को एक सूत्र मे बांधकर एक नेतृत्व के अधीन काम करने के लिए संगठित कर दिया। फलत. राज्य, राष्ट्र और नाजी पार्टी एकरूप हो गए। किसी भी दूसरे दल का अस्तित्व वर्जित कर दिया गया क्योंकि अनेक दलों के अस्तित्व से राष्ट्र विभाजित हो जाता है। नाजियों का सर्वाधिकार-वादी राज्य मुसोलिनी के निगमित राज्य की तुलना मे केंद्रीकरण को और भी अधिक महत्व देता था। नाजी नेताओं की एक श्रृंखला राज्य और पार्टी का संचालन करती थी। उसकी कार्यपद्धति में ऊपर से आने वाले आदेशों का पालन करना प्रत्येक स्तर के अधिकारी और कर्मचारी के लिए अनिवार्य था। शक्ति से ही नाजी राज्य की स्थापना की गई थी और शक्ति ही उसे कायम रख सकती थी। नाजी विचारधारा के कुछ लोग जन्मजात गुणों के कारण नेता बनते हैं और बाकी लोग उनका अनुसरण करते हैं। नाजी सिद्धांत के अनुसार नेता और उसके अनुयायी मे वही संबंध होना चाहिए जो मध्ययुग के सामंत और उसके वफादार घोड़े मे होता था। जिस प्रकार वफादार घोड़ा अपने मालिक को पीठ पर बैठाकर उसके हुक्म के अनुसार लड़ाई के मैदान में कूद पड़ता है, वैसे ही जर्मन नागरिकों को नेता का हुक्म मिलने पर युद्ध के मैदान में अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। हिटलर राज्य, सरकार, सेना और नाजी पार्टी के समान रूप से अध्यक्ष थे। उनके आदेश कानून थे। हिटलर ही सभी प्रमुख मंत्रियों, अधिकारियों और सेनाध्यक्षों की नियुक्ति करता था। वह जर्मनी की अर्थव्यवस्था पर भी पूरा नियंत्रण रखता था और उसका उपयोग सैन्यीकरण और युद्ध की तैयारी के लिए करना चाहता था।[8]

जर्मनी को आर्थिक क्षेत्र में स्वावलंबी बनाने के लिए नाजियो ने आर्थिक योजनाएं

बनाई। नाजियों के कथनानुसार इन योजनाओं में शुद्ध पूंजीवाद और समाजवाद के सिद्धांतों को समान रूप से अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि दोनों व्यवस्थाओं में जनता दो विरोधी वर्गों में बंट जाती है। इटली के नियमित राज्य के विपरीत नाजी सर्वाधिकारी राज्य में मालिकों और मजदूरों के पृथक संगठन नहीं थे क्योंकि नाजीवादी मालिकों और मजदूरों के हितों में किसी तरह का अंतर्विरोध नहीं मानते। नाजियों ने स्वतंत्र मजदूर यूनियनों को भंग कर दिया और मजदूरों और मालिकों को नाजी पार्टी द्वारा नियंत्रित 'मजदूर फ्रंट' में जबरदस्ती शामिल करा दिया। बड़े पूंजीवादी उद्योगों को कायम रखा गया परंतु उनके उत्पादन पर कठोर नियंत्रण भी रखा गया। वित्त मंत्रालय बैंकों, उद्योगों, व्यापार आदि पर नियंत्रण रखता था परंतु व्यक्तिगत उद्यम और निजी संपत्ति के अधिकारों पर कोई रोक नहीं थी। राजनीतिक ढांचे की भांति समूचा आर्थिक ढांचा भी नेतृत्व के कठोर केंद्रीकरण के सिद्धांत पर तथा सैनिक अनुशासन की पद्धति पर आधारित था। फासिस्ट इटली की तुलना में नाजी जर्मनी में अर्थव्यवस्था के संचालन पर राज्य और पार्टी का ज्यादा कठोर नियंत्रण था।

पितृसत्तात्मक और सामंतवादी सामाजिक दर्शन : फासीवाद प्रायः उन देशों में फलता-फूलता है जहां ऐतिहासिक कारणों से जनवादी क्रांति या तो हो न पाई हो या अधूरी रह गई हो। इटली और जर्मनी में ब्रिटेन तथा फ्रांस की तरह बुर्जुआ लोकतंत्रीय क्रांति सफल न हो सकी। इन देशों के अधिकांश में बड़ी जागीरदारियां और जमींदारियां कायम रहीं, पितृसत्तात्मक और सामंतवादी संस्कृति और परंपराएं भी जनता के अधिकांश को प्रभावित करती रहीं और काफी देर बाद लोकतंत्रीय संस्थाओं की स्थापना भी समाज के पितृसत्तात्मक और सामंतवादी तत्वों को नष्ट करने में असमर्थ रही। फासीवाद तथा नाजीवाद की विचारधाराएं इन्हीं लोकतंत्र विरोधी पितृसत्तात्मक और सामंतवादी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

सामंती परंपरा के अनुसार ही फासीवाद यह मान लेता है कि जनता की न तो राज-नीति में रुचि होती है और न उसमें अपना शासन स्वयं चलाने की क्षमता होती है। मुसोलिनी ने जनता की तुलना भेड़ों के झुंड से की थी जिसे नेता इच्छानुसार किसी भी दिशा में हांक कर ले जा सकता है। आम आदमी घोड़े की तरह है जिसे दाना और पानी खिलाओ, और फिर उसकी पीठ पर जीन कसकर मजे से सवारी कर लो। जनता उस कुतिया के समान है, जो मालिक से पिटकर या डांट मार खाकर भी [illegible] है। फासिस्ट विचारधारा के अनुसार श्रमिक [illegible] है और न उद्योग के संचालन में अधिकार। वह तो [illegible] जिसके पीछे वह आंख मूंदकर चल सके।

समाज में स्त्रियों की भूमिका के संबंध में [illegible] से पितृसत्तात्मक, सामंतवादी और [illegible] की दासी है। स्त्री का कर्तव्य राष्ट्र के लिए [illegible] बच्चों का पालन-पोषण, पति की सेवा [illegible] दायित्व निभाना है। हिटलर ने [illegible]

कार्य करने वाली महिलाओं को सभी महत्वपूर्ण पदों से हटा दिया और उनकी जगह पुरुषों को नियुक्त किया। ऊंचे पदों पर कार्य करने वाली सुशिक्षित और आजाद जर्मन महिलाएं फिर गुलाम बना दी गईं।[9] आवश्यकता पड़ने पर जर्मन नारियों को कारखानों और अस्पतालों मे नीचे स्तर की नौकरियां दी जा सकती थी। हिटलर का कथन है: 'स्त्रियों की शिक्षा मे उनके शारीरिक विकास पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए। उसके बाद ही उनके आध्यात्मिक विकास पर और आखिर में ही उनके मानसिक विकास की बात सोचनी चाहिए।'[10] नाजीवादी मातृत्व को स्त्री जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं किंतु नस्लवादी मनोवृत्ति के शिकार होकर वे निकृष्ट कोटि की वेश्यावृत्ति का भी समर्थन करते हैं। विलीबाल्ड हैंशेल ने कहा था: 'शुद्ध रक्तवाली एक हजार जर्मन लड़कियों को पकड़ लो। उन्हे एक शिविर में अलग रख दो। फिर शुद्ध रक्तवाले सौ जर्मन पुरुषों को उनके बीच में छोड़ दो। यदि इस प्रकार के एक सौ शिविर भी खोले जा सकें तो हमें एक साथ एक लाख शुद्ध रक्तवाले बच्चे मिल जाएंगे।'[11]

नाजी राज्य ने अपनी कर नीतियों तथा दूसरी सुविधाओं द्वारा स्त्रियों को अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रेरित किया। संतति निरोध को राष्ट्र के प्रति पाप घोषित किया गया। एक विशेष आयकर रियायत देकर धनी और मध्यवर्गीय परिवारों को घरेलू नौकर रखने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इस प्रकार कारखाने से निकाले हुए मजदूर घरेलू नौकर बन गए। नौकरों की तनख्वाह के अनुपात से मालिकों का आयकर घटा दिया गया। इस प्रकार अमीर घराने की महिलाओं को मुफ्त में घरेलू नौकर मिल गए, और बेकार मिल मजदूरों को फिर से रोटी रोजी मिल गई।[12] उद्योगों से स्त्रियों को निकालकर उनकी जगह बेकार पुरुषों को रखा गया। ये स्त्रियां या तो बेकार हो गईं या कुलीन और धनी परिवारों मे दासी का कार्य करने लगीं। इस प्रकार परिवार का सामंती और पितृसत्तात्मक रूप वापस लाया गया।

अमरीका में नारी मुक्ति आंदोलन की नेता कुमारी केट मिलेट का कथन है कि स्त्रियों के संबध मे नाजी नीतियों का मुख्य उद्देश्य न तो आर्थिक था और न जनसंख्या संबंधी। उनका मुख्य उद्देश्य मनोवैज्ञानिक और भावात्मक रूप से स्त्रियों पर पुरुषों के प्रभुत्व की रक्षा करना था। नाजी नेता गोटफ्रीड फेडर ने नारी मुक्ति के विचार को यहूदियों और मार्क्सवादियों का षड्यंत्र बताया था। उनका कथन है: 'यहूदियों ने यौन लोकतंत्र की पद्धतियों से स्त्री को हमसे छीन लिया है। हम युवकों को इस अजगर को जान से मार देना चाहिए जिससे हम दुनिया की सबसे पवित्र वस्तु स्त्री को दासी और सेविका के रूप मे पुन: प्राप्त कर सकें।'[13] एक नाजी महिला नेता गायडा डायल ने दासी और सेविका की सूची में रस्किन का अनुकरण करते हुए 'रानी' भी जोड़ दिया था।

एडोल्फ हिटलर ने स्त्रियों के विषय मे विचार करते हुए 'मीन काफ' में लिखा था: 'उसका संसार उसका पति है, उसका परिवार है, उसके बच्चे हैं और उसका घर है। अगर कोई इस छोटे संसार की देखभाल न करे तो बड़ा संसार कहां बचेगा? हम इसे ठीक नहीं समझते, जब स्त्री पुरुष के संसार मे प्रवेश करना चाहती है। जब दोनों अपने अपने संसार में अलग अलग रहते हैं, तो हम इसे स्वाभाविक मानते हैं। पुरुष राष्ट्र का

स्तंभ है तो स्त्री कुटुंब का आधार है। स्त्रियों के समान अधिकार इसी में निहित हैं कि वह अपनी प्रकृति द्वारा निर्धारित जीवन के क्षेत्र में अपने कर्तव्य को पूरा कर सम्मान की अधिकारिणी बने। स्त्री और पुरुष दो बिलकुल भिन्न प्रकार के प्राणी हैं। पुरुष में विवेक की प्रधानता है। वह अनुसंधान और विश्लेषण करता है और नए अनंत क्षेत्रों को खोज निकालता है। परंतु जिन चीजों को वह विवेक द्वारा प्राप्त करता है, वे परिवर्तनशील हैं। विवेक की तुलना में भावना अत्यधिक स्थाई है और स्त्री भावना है और इसीलिए वह अधिक स्थिर तत्व है।' इसी प्रकार गोयबेल्स ने कहा था : 'राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन स्वाभाविक रूप से पुरुषों का आंदोलन है। सार्वजनिक जीवन मे संचालन और सृजन के क्षेत्रों का निर्धारण कठिन नही है। इन क्षेत्रों मे से एक अत्यधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र राजनीति है। यह क्षेत्र बिना किसी अपवाद के पुरुषों का एकमात्र क्षेत्र है। जब हम स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन से निकालना चाहते हैं तो ऐसा इसलिए नहीं करते क्योंकि हम उनसे अपना पीछा छुड़ाना चाहते हैं बल्कि हम तो उन्हें उनका पुराना सम्मानित पद लौटाना चाहते हैं। स्त्री का श्रेष्ठतम और उच्चतम पेशा पत्नी और मां बनकर रहना है और यदि हमने इस दृष्टिकोण को छोड़ दिया तो यह हमारे लिए इतनी विपदाजनक बात होगी कि उसकी कल्पना भी नही की जा सकती।'[11] गोयबेल्स का राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन से तात्पर्य नाजी आंदोलन से है क्योंकि नाजी पार्टी का पूरा नाम जर्मन मजदूरों की राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी ही था।

फासीवाद तथा नाजीवाद का मूल्यांकन : लास्की फासिस्टों और नाजियो के इस दावे को स्वीकार नही करते कि उनकी सरकार पूंजीपतियों और मजदूरो, जमीदारो और किसानों एवं अन्य शोषक और शोषित वर्गों के बीच में निष्पक्ष पंच का कार्य करती है। अपनी आर्थिक मान्यताओं के कारण फासिस्ट सरकार के लिए एक पक्षपातहीन मध्यस्थ के रूप में कार्य करना असंभव है। लास्की का मत है : 'अपने शासनकाल के पहले वर्ष में ही हिटलर निजी संपत्ति के लिए खतरा उत्पन्न होने पर दक्षिणपंथी नीति अपनाने के लिए और अपनी नीतियों के समाजवादी अंश को छोड़ने के लिए विवश हुआ। निजी मुनाफो की सुरक्षा के लिए ही इटली में फासिस्ट राज्य ने निरंतर मजदूरी की दर कम करने की नीति अपनाई। एक बार इन पूंजीवादी आधार तत्वों को स्वीकार कर लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि राज्य के कार्य पूंजी के स्वामियों का पक्ष लेते हैं। इन सिद्धातों के विपरीत आचरण करना फासीवाद के अंतरंग चरित्र के प्रतिकूल है।'[15] अत. लास्की का कथन है कि पूंजीवादी समाज की अन्य सरकारों की तरह फासिस्ट और नाजी सरकार भी उत्पादन प्रणाली पर नियंत्रण रखने वाले शोषकवर्ग की कार्यपालक समिति है।

इसके विपरीत प्रोफेसर ग्रेगरी का विचार है कि फासीवाद पूंजीवाद से अत्यधिक भिन्न और साम्यवाद के निकटतर है क्योंकि पूंजीवाद का आधार निजी व्यवसाय और वैयक्तिक स्वतंत्रता है जब कि फासीवाद का आधार आर्थिक नियंत्रण और निरंकुश शासन है। नाजियों के पच्चीस सूत्री कार्यक्रम में अनेक बातें साम्यवादियों के समाजवादी कार्यक्रम से मिलती-जुलती हैं। हर्बर्ट ग्रीन का भी यही विचार है कि फासीवाद और नाजीवाद के उत्थान के लिए आर्थिक कारणों की तुलना में राजनीतिक परिस्थितियां अधिक जिम्मेदार

थीं। वास्तव में साम्यवादी और नाजी कार्यक्रमों की तथाकथित समानता दिखावटी है क्योंकि नाजी कार्यक्रम का समाजवादी अंश कभी कार्यान्वित नहीं किया गया। यह सच है कि फासिस्ट राज्य सत्तावादी है परंतु इस सत्ता का उपयोग भी पूंजीवादी व्यवस्था की रक्षा के लिए किया गया। जैसा लास्की का मत है : 'इटली और जर्मनी, इन दोनों देशों में ही यह हस्तक्षेप पूंजीपतियों द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था के पुनरुद्धार के लिए किया गया।'[16]

फासीवाद और नाजीवाद के दार्शनिक आधार की खोज भी निरर्थक है क्योंकि यह कुछ अवसरवादी वक्तव्यों का संकलन है। लास्की का विचार है : 'फासीवाद के विषय में इसके समर्थकों ने, जो भी सिद्धांतों का शब्दजाल बुना है, वह परीक्षा के बाद कुछ ऐसे प्रचार के नारे मालूम होते हैं जिनका किसी विशेष सरकार की स्थिति मजबूत करने के सिवाय कोई अर्थ नहीं है। जर्मनी मे नार्डिक श्रेष्ठता का सिद्धांत उपयोगी सिद्ध हुआ; इटली में लैटिन प्रतिभा का गीत गाया गया। यहूदी द्वेष प्रत्येक ऐसी सरकार का उपकरण रहा है जिसे इतिहास में काल्पनिक शत्रु के शोषण और संपत्ति के वितरण की जरूरत पड़ी है; और आर्थिक कठिनाई के समय निरक्षर जनता में यह नारा बहुत लोकप्रिय होता है। जर्मनी तथा इटली मे राष्ट्र के 'उज्ज्वल भविष्य' का नारा शोषण के लिए नए स्रोतों की खोज मात्र है जिससे जनता सरकार के प्रति निष्ठावान रहे। विजय का अर्थ है नौकरियां, पूंजीनिवेश की सुविधाएं और राजनीतिक रूप से नियंत्रित बाजार। लोकतंत्रीय सिद्धांत पर प्रहार का आशय है तानाशाह द्वारा अपनी निरंकुश सत्ता का औचित्य सिद्ध करने की आवश्यकता। यदि फासीवाद का कोई आधार तत्व है तो वह केवल यह कि शक्ति एकमात्र सद्गुण है और उसे सुरक्षित रखने के लिए या उसकी वृद्धि करने के लिए जिन बातों की जरूरत हो उन्हें ही नैतिक मूल्य माना जा सकता है।'[17]

फासीवाद का विकल्प : फासीवाद के संबंध मे तीन बातों पर विचार करना आवश्यक है। फासीवाद किन कारणों से उत्पन्न हुआ और उसे रोकने के लिए क्या साधन अपनाए जा सकते हैं? फासीवाद का अंत करने के लिए बलप्रयोग अनिवार्य है या नहीं? फासीवाद का सही आर्थिक और राजनीतिक विकल्प क्या है? सर्वप्रथम हमे समझ लेना चाहिए कि उदारवाद, साम्यवाद या समाजवाद की तरह यह कोई सुसंगत दार्शनिक विचारधारा नहीं है। प्रत्येक पूंजीवादी समाज मे संकुचन की स्थिति में फासीवाद का खतरा उत्पन्न हो जाता है। पूंजीवादी दल फासीवाद के प्रति सहानुभूति रखते हैं, उसका डटकर विरोध नहीं करते और समाजवाद से भयभीत होने पर उसकी छिपकर या खुले रूप में सहायता भी करते हैं।

फासीवाद के वास्तविक विरोधी वे समाजवादी दल होते हैं जो पूंजीवादी व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन चाहते हैं। अत: फासीवादी समाजवादी आंदोलन को दुर्बल करने का पूरा प्रयास करते हैं। इसका एक तरीका फासिस्ट या नाजी कार्यक्रमों में दिखावटी समाजवादी मांगों को शामिल करना और प्रत्येक वर्ग के कल्याण के लिए उदारतापूर्वक झूठे वायदे करना है। इटली में फासिस्ट दल ने मांग की कि राजतंत्र का अंत किया जाए, चर्च की संपत्ति और युद्धकालीन मुनाफों को जब्त किया जाए, जमींदारी प्रथा का

उन्मूलन हो और भूमि का किसानों में वितरण किया जाए तथा महत्वपूर्ण उद्योगों और बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाए। इसी प्रकार नाजियों के पचीस सूत्री कार्यक्रम में हिटलर ने मांग की—मेहनत से न कमाई हुई संपत्ति का खात्मा, ब्याज की दासता से मुक्ति, युद्धकालीन मुनाफों की जब्ती, बड़ी पूजी का राष्ट्रीयकरण, बिना मुआवजा दिए जमींदारी का उन्मूलन तथा पूजीपतियों और मजदूरों की मुनाफों में भागीदारी। नाजी और फासिस्ट दलो ने झूठे नारे मजदूर वर्ग की फासीवाद विरोधी एकता को तोड़कर उसके एक अंश को अपने पक्ष में लाने के लिए दिए और उनमे से किसी एक को भी सत्ताग्रहण करने के बाद कार्यान्वित नही किया।

समाजवादी दल दो कारणों से फासिस्टों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध नहीं कर सके। पहला कारण मजदूर वर्ग का दो परस्परविरोधी दलो में विभाजन था जो समाजवादी आंदोलन में पृथक साम्यवादी दलों की स्थापना के कारण हुआ था। नाजी प्रतिक्रांति की सफलता का दूसरा कारण लोकतांत्रिक समाजवादियो की दुर्बल और संकोचशील नीतिया थी। इन नीतियों की वजह से जर्मनी की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौलिक समाजवादी परिवर्तन नहीं किए जा सके। फासीवाद का उदय रोकने के लिए एकमात्र सुदृढ़ उपाय उस वर्ग को समाप्त करना है, जो इसे जन्म देता है। पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त किए बिना फासीवाद की संभावनाओं को रोकना असंभव है।

फासीवादी व्यवस्था का अंत या तो आंतरिक क्रांति द्वारा हो सकता है या बाहर से सशस्त्र हस्तक्षेप द्वारा। अतः लास्की का कथन है: 'एक ऐसी प्रणाली, जो शक्ति को छोड़कर सभी नैतिक मूल्यों का हनन करती हो और बिना किसी पश्चाताप के युद्ध को राष्ट्रीय नीति का स्वाभाविक उपकरण मानती हो या तो मनुष्य जाति को गुलाम बनाकर दम लेगी अन्यथा उसका नाश करना पड़ेगा। इन दो विकल्पों में कोई मध्यवर्ती मार्ग नही है।'[18] लास्की के मतानुसार फासिस्ट सरकार वस्तुतः गुडों और डाकुओं की सरकार है जो अपने अस्तित्व के लिए निरंतर गृहयुद्ध और अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष को बढावा देती है। इस युद्धलोलुप विचारधारा का एकमात्र प्रत्युत्तर इसको इसी के हथियार से मारना है। इसे तो युद्ध या क्रांति में पराजित करके ही नष्ट किया जा सकता है।

युद्ध में फासिस्ट शक्तियों की पराजय के बाद सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि फासीवाद के पुनरुत्थान को रोकने के लिए क्या कदम उठाए जाएं। लास्की का दृढ मत है कि पूंजीवादी लोकतंत्र फासीवादी प्रणाली का सही और स्थाई विकल्प नहीं है। वह फासीवाद का स्थाई उन्मूलन नही कर सकता। जब तक मुख्य पूजीवादी देशों में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली कायम है, किसी भी उपयुक्त परिस्थिति मे फासीवाद पुनः जन्म ले सकता है। समाजवादी लोकतंत्र और निजी संपत्ति का समाजीकरण ही फासीवाद का स्थाई विकल्प सिद्ध हो सकता है। हर्बर्ट डीन लास्की द्वारा प्रस्तुत फासीवाद के विश्लेषण की तीव्र आलोचना करते हैं। उनका निष्कर्ष है कि फासीवाद मुख्यतः एक अविवेकवादी जन आंदोलन है जो पश्चिम की उदारवादी सभ्यता के आदर्शों के खंडन पर आधारित है। इसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर पूजीपति वर्ग की पतनोन्मुख अवस्था की राजनीतिक प्रणाली समझना अनुचित है। फासिस्ट तानाशाही न केवल

श्रमिक वर्ग को बल्कि पूंजीपति वर्ग को भी अपनी सत्ता का गुलाम बनाती है। नाजीवादी तथा फासीवादी आंदोलन जर्मनी और इटली की विशेष ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के जटिल परिणाम हैं। इनमें राष्ट्रीय एकता की स्थापना में विलंब, राजनीतिक लोकतंत्र की दुर्बलता और सरकारों की अस्थिरता, आर्थिक संकट और अव्यवस्था, समाज में जमींदार वर्ग के विशेषाधिकार, कैथोलिक तथा लूथरवादी चर्च के धार्मिक और नैतिक विश्वास, वैयक्तिक स्वतंत्रता और लोकतंत्रीय परंपरा का अभाव, वार्साई संधि का अनौचित्य और राष्ट्रीय अपमान की भावनाएं इत्यादि सम्मिलित हैं।

संदर्भ

1. ई एम बर्न्स : 'आइडियाज इन कंफ्लिक्ट', पृ० 220-21.
2. वही, पृ० 223.
3. हेरोल्ड जे लास्की . 'लेनिन ऐंड मुसोलिनि, फोरेन एफेयर्स', सितंबर 1923, पृ० 54.
4. हेरोल्ड जे लास्की : 'दि स्टेट इन थियरी ऐंड प्रेक्टिस', पृ० 130.
5. ई आशीर्वादम : 'राजनीति विज्ञान', पृ० 703.
6. हेरोल्ड जे लास्की : 'रिफ्लेक्शन आन दि रिवोल्यूशन आफ अवर टाइम', पृ० 65.
7. ई आशीर्वादम : 'राजनीति विज्ञान', पृ० 717
8. वही, पृ० 728
9. वही, पृ० 726.
10. वही, पृ० 732.
11. वही, पृ० 732-33.
12. वही, पृ० 734.
13. केट मिलेट : 'सेक्सुअल पालिटिक्स', पृ० 163.
14. वही, पृ० 164.
15. हेरोल्ड जे लास्की : 'दि स्टेट इन थियरी ऐंड प्रेक्टिस', पृ० 134.
16. वही, पृ० 153.
17. हेरोल्ड जे लास्की : 'रिफ्लेक्शंस आन दि रिवोल्यूशन आफ अवर टाइम', पृ० 97.
18. वही, पृ० 97-98.

यद्यपि संस्थानवादी पद्धति एकांगी है और राजनीतिक जीवन के मूलभूत आर्थिक आधारों से कटी हुई है, तो उपर्युक्त लेखकों की कृतियों में सूचनाओं का पर्याप्त भंडार है। हमारे देश के राजनीतिक विशिष्ट वर्ग भारतीय गणतंत्र की संस्थाओं के निर्माण और विकास में इन संस्थानवादी लेखकों के विचारों से बहुत प्रभावित हुए हैं। डायसी, जेनिंग्स और लास्की ब्रिटेन में और चार्ल्स बियर्ड अमरीका में संस्थानवादी पद्धति से राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण में सर्वश्रेष्ठ समझे जा सकते हैं। मनरो तथा आग जैसे संस्थानवादी लेखकों ने संविधानों के सामाजिक आर्थिक विवेचन के बजाय उनके कानूनी पहलुओं पर ही विशेष ध्यान दिया है। इसके विपरीत लास्की तथा बियर्ड राजनीतिक प्रणालियों के मूलभूत आर्थिक आधारों की चर्चा भी करते हैं। संविधानों के विश्लेषण में अधिकांश भारतीय लेखक बियर्ड और लास्की की कृतियों से प्रेरणा लेने के बजाय डायसी और मनरो के विधानवादी दृष्टिकोण की नकल करना पसंद करते हैं। वे विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की परिधि से बाहर निकलकर आर्थिक वर्गों, हितसमूहों, राजनीतिक दलों या सैनिक विशिष्ट वर्गों के व्यवहार का विश्लेषण करना आवश्यक नहीं समझते।

व्यवहारवादी पद्धति : यह राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के विकास के दूसरे चरण की पद्धति है। इस पद्धति का व्यापक उपयोग 1955 और 1970 के बीच में हुआ। इस चरण में लेखकों ने संविधानों और शासनप्रणालियों के कानूनी विश्लेषण पर ध्यान देने के बजाय राजनीति और राजनीतिक ढांचों के व्यवहार और कार्यों पर विशेष जोर दिया। व्यवहारवादी पद्धति के विकास में अमरीकी राजनीतिवेत्ताओं ने विशेष योगदान दिया। इनमें प्रिंसटन विश्वविद्यालय के लेखकों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। इन्होंने संरचनात्मक कार्यवाद के नाम से एक नई व्यवहारवादी पद्धति का राजनीतिक विश्लेषण में उपयोग किया। आमंड और कोलमैन ने विकासशील देशों की राजनीति पर एक पुस्तक संपादित की और आमंड तथा पावेल ने तुलनात्मक राजनीति के विकासात्मक दृष्टिकोण पर अपने विचार प्रस्तुत किए। डेविड आप्टर ने घाना और लूसियन पाई ने बर्मा की राजनीति का संरचनात्मक कार्यवादी पद्धति से विश्लेषण किया। कुछ वर्षों में ही अमरीका के अनेक लेखक संरचनात्मक कार्यवादी प्रतिमानों का राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन और विश्लेषण में व्यापक रूप से प्रयोग करने लगे।[2]

इस व्यवहारवादी चरण में आधुनिकीकरण, राष्ट्रनिर्माण, राजनीतिक विकास, राजनीतिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक समाजीकरण को राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण के लिए नई उपयोगी अवधारणाओं के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इसी चरण में डेविड ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिमान प्रस्तुत किया, जिसके अंतर्गत यह बताया गया कि सामाजिक पर्यावरण से आनेवाली मांगों को राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार शासकीय नीतियों में परिवर्तित करती है तथा इन नीतियों के आधार पर फीडबैक प्रक्रिया के अनुसार किस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था को समर्थन प्राप्त होता है। यही प्रक्रिया किसी निर्दिष्ट व्यवस्था का संतुलन कायम रखती है। कार्ल डॉइश ने संचार प्रतिमान का उपयोग करते हुए सूचनाओं के आदान-प्रदान पर राजनीतिक

व्यवस्थाओं के रूपों की व्याख्या की। डेविड ईस्टन तथा कार्ल डौश का कथन है कि उनके ये प्रतिमान सांस्कृतिक और विचारधारात्मक सीमाओ से बधे नही है। इसलिए वे विविध राजनीतिक प्रणालियों का सही तरीके से विश्लेषण कर सकते हैं। इसी चरण मे अनेक लेखको ने बहुत से विषयों में आनुभविक शोध के आधार पर लघु अध्ययन (माइक्रो स्टडीज) प्रस्तुत किए है। इनमे मतदाताओ के निर्वाचकीय व्यवहार पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। कुछ लेखको ने अल्पविकसित देशो की राजनीतिक प्रक्रियाओं और व्यवहार पर भी शोध प्रवध लिखे।

व्यवहारवादी आंदोलन ने राजनीतिविज्ञान की सीमाओ का विस्तार किया और राजनीतिक व्यस्थाओ के अध्यन को मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सास्कृतिक प्रक्रियाओ से जोड़ा। अपेक्षाकृत उनके आर्थिक प्रक्रियाओ से सवधों पर बहुत कम ध्यान दिया गया। व्यवहारवादियो ने राजनीति और समाजविज्ञान के सामजस्य से राजनीतिक समाजविज्ञान के रूप में एक नए विषय को जन्म दिया। मार्क्स के पश्चात राजनीतिक समाजविज्ञान का यह संभवत. पहला व्यापक प्रयोग था परतु उसकी प्रेरणा के स्रोत मैक्स वेबर, पैरेतो और टैल्काट पार्सस थे और उसका उद्देश्य मार्क्स के समाजवैज्ञानिक सिद्धांतो का खंडन करना था। व्यवहारवादियो ने कहा कि सामान्य सिद्धांतों को प्रस्तावित करने से पहले आनुभविक तथ्यो के सकलन की जरूरत है और न केवल कुछ पश्चिमी राज्यों बल्कि एशियाई और अफ्रीकी व्यवस्थाओ के रूपो के आनुभविक ज्ञान और परिचय की आवश्यकता है। अत: व्यवहारवादियो ने परपरा तथा आधुनिकता के तुलनात्मक पैमाने की मदद से अनेक एशियाई और अफ्रीकी व्यवस्थाओ का विश्लेषण किया। एडवर्ड शील्स ने राजनीतिक व्यवहार के मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक आधारो की चर्चा करते हुए राजनीतिक सस्कृति का प्रतिमान प्रस्तुत किया। लासवेल तथा हाईमन ने राजनीतिक व्यवहार मे राजनीतिक समाजीकरण की अवचेतन और चेतन प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला।

उत्तरव्यवहारवादी पद्धति : व्यहारवादी पद्धति के तीन दोष थे लक्ष्यहीनता, संकीर्ण तथ्यमूलकता और मूल्यनिरपेक्षता। व्यवहारवादियों की शोध का कोई निश्चित लक्ष्य नही था। वे अनावश्यक और महत्वहीन विषय को चुनकर असंबद्ध तथ्यों का ढेर इकट्ठा कर लेते थे जिनके आधार पर किसी महत्वपूर्ण या गंभीर समस्या के विषय मे कोई अर्थपूर्ण निष्कर्ष निकालना संभव नहीं था। ये लेखक मूल्य निरपेक्षता की आड़ में यथा-स्थिति का समर्थन करना पसंद करते थे और साहसिक आलोचना करने से या कोई परिवर्तनात्मक सुझाव देने से कतराते थे। अत: 1970 के उपरांत डेविड ईस्टन तथा कुछ अन्य लेखकों ने उत्तरव्यवहारवादी आदोलन का नारा दिया और राजनीतिक विश्लेषण की नई पद्धति की चर्चा की जिसमे आदर्शो और मूल्यों के अध्ययन के महत्व को पुन: स्वीकार किया गया। वस्तुत: व्यवहारवादी और उत्तरव्यवहारवादी पद्धति मे कोई मौलिक अंतर नहीं है। दोनो राजनीति को मुख्य रूप से आनुभविक और तथ्यमूलक समाजविज्ञान मानती हैं। उत्तरव्यवहारवादी पद्धति में अपेक्षाकृत राजनीति के तथा-कथित नैतिक पक्ष पर थोडी सी प्रासंगिक चर्चा कर ली जाती है। व्यवहारवादी पद्धति

मे नैतिक मूल्यों को ईमानदारी से स्वीकार करने के बजाय चेतना की सतह के नीचे ढक दिया जाता है। दोनों ही पद्धतियां संकुचित उदारवाद की परिधि के अंतर्गत रहकर राजनीतिक विश्लेषण करती हैं।[3]

वियतनाम संघर्ष ने अमरीकी बुद्धिजीवियों के एक अंश पर व्यापक प्रभाव डाला। वे व्यवहारवादी मानदंडों की अनैतिकता और दिशाहीनता से क्षुब्ध हो उठे। उनमें से कुछ अपने शासकवर्ग की नवउपनिवेशवादी नीतियों के समालोचक बन गए। परिणामस्वरूप सरचनात्मक कार्यवादियो के शिविर में खलबली मच गई। प्रिंसटन के प्रोफेसरों ने 'क्राइसिज ऐंड स्वीक्वेंसेज इन पोलिटिकल डिवेलपमेंट' के शीर्षक से नई पुस्तक प्रकाशित की जिसमे उन्होंने अपने सरचनात्मक कायवाद के व्यवहारवादी सिद्धांतो का पोस्टमार्टम करते हुए स्वीकार किया कि उनके पूर्ववर्ती विश्लेषण मे कई त्रुटियां थी। भारत में रजनी कोठारी ने संरचनात्मक कार्यवाद से प्रभावित होने के बावजूद भारत की राजनीतिक व्यवस्था का एक मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया जो विकासशील देशों के दृष्टिकोण के अनुकूल था।

विकासशील देशों का दृष्टिकोण : भारतीय लेखकों के लिए आवश्यक है कि वे राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करते समय विकासशील देशो की समस्याओं को ध्यान में रखें। ब्रिटिश, यूरोपीय तथा अमरीकी राजनीतिवेत्ता प्रकट रूप से उदारवादी होते है परंतु राजनीतिक प्रणालियो के मूल्याकन मे पूजीवादी और नवउपनिवेशवादी धारणाओ का उपयोग करते है। इसके विपरीत सोवियत रूस और पूर्वी यूरोप में यूरोपकेंद्रित मार्क्सवादी पूर्वग्रहो के अनुसार राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या और समीक्षा की जाती है। एक भारतीय लेखक मनोरंजन महती के अनुसार राजनीतिक प्रणालियो के विश्लेषण में एक तृतीय विश्व के दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इसके दो अभिप्राय हैं। चूंकि विकास शील देशो की जनता साम्राज्यवाद से पीड़ित रही है, इसलिए वहां ऐसी राजनीतिक व्यवस्था होनी चाहिए, जो औपनिवेशिक शोषण और दमन द्वारा उत्पन्न आर्थिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक समस्याओं का शीघ्र हल निकाल सके। उनकी व्यवस्था का दूसरा लक्ष्य समाज तथा अर्थव्यस्था का जनवादी और समावादी पुनर्निर्माण होना चाहिए। अतः इन सभी देशो के जन आंदोलन जमीदारी प्रथा के उन्मूलन, सरकार के आर्थिक कार्यों की वृद्धि, लौकिक और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार, आर्थिक विकास में तेजी, विदेशी और देशी पूजीवादी इजारेदारियों के अंत, आदि की दृढता से मांग करते है।[4]

आमंड और ईस्टन के प्रतिमानो की मदद से विकासशील देशो की व्यवस्थाओं का विश्लेषण भ्रांति उत्पन्न करता है। इन देशों की व्यवस्था विकसित पूजीवादी या विकसित साम्यवादी देशों की तरह आत्मनिर्भर और स्वचालित व्यवस्था नही है। आमंड द्वारा वर्णित व्यवस्थाकार्य अर्थात हितनिर्धारण, हितसंयोजन, राजनीतिक समाजीकरण और राजनीतिक संप्रेषण हितसमूहो, राजनीतिक दलों और संचारसाधनो के विशेष प्रकार के विकास पर अवलंबित है, जो उद्योगप्रधान पूजीवादी देशो मे ही संभव है। इन पर आधारित संतुलन और स्थिरता भी विकासशील देशों की व्यवस्था में नही है। महा-

शक्तियों द्वारा विकासशील देशों की व्यवस्था मे हस्तक्षेप भी उसे असंतुलित और अस्थिर बनाता है। विकासशील देशो में ऐच्छिक समुदाय, प्रभावसमूह और सुसगठित राजनीतिक दल या तो अनुपस्थित होते हैं या निर्जीव और कमजोर होने की वजह से अपनी अपेक्षित और उचित भूमिका निभा नही सकते।

पाल बरान तथा आद्रे गुंडट फ्रैंक ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अल्पविकसित देशों मे आर्थिक विकास से संबद्ध राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण किया है, जो अत्यधिक उपयोगी है। इस संबध मे माओ-त्से-तुग और होचीमिन्ह के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने औपनिवेशिक और अर्धऔपनिवेशिक देशों की शोषित और उत्पीड़ित जनता के लिए सामाजिक क्रांति का रास्ता दिखाया और क्रांति के पश्चात जनवादी और समाजवादी पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक कार्यनीतियो का निर्धारण किया। गुनार मिर्डल ने प्रगतिशील उदारवादी दृष्टिकोण से 'एशियन ड्रामा' में दक्षिण एशियाई देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का आर्थिक विकास के संदर्भ में मूल्यांकन किया। चार्ल्स बीतलहाइम ने 'इंडिया इंडिपेंडेंट' में नेहरू द्वारा संचालित भारतीय व्यवस्था के आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं की मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समालोचना प्रस्तुत की।[5]

राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में महत्वपूर्ण सवाल : किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के रूप को समझने के लिए हमें उस समाज के ढाचे को समझना चाहिए जिसमें वह व्यवस्था कार्य करती है। हमे देखना चाहिए कि उस समाम मे शक्ति, अधिकारो और भौतिक संसाधनो का बंटवारा किस प्रकार किया गया है। यह तभी सभव है जब हम उस समाज में व्याप्त श्रेणी सबंधों और वर्गविभाजन को समझ लें। इसके लिए जरूरी है कि हम उस व्यवस्था की सभी क्रियाओं का अध्ययन करें—चाहे ये क्रियाए सगठित हो या असंगठित, सरकारी हों या गैरसरकारी और व्यवस्था को संतुलित करने वाली हो या उसे विच्छिन्न करने वाली। हमें यह भी जानने की कोशिश करनी चाहिए कि सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था किस दिशा मे जा रही है और उसके सामने क्या कोई दूसरे विकल्प भी हो सकते हैं। अगर हम कुछ लक्ष्य चुनें तो क्या उन्हे ऐतिहासिक और आनुभविक दृष्टियों से व्यवहार में पा लेना संभव है या नही। हमें देखना चाहिए कि व्यवस्था के कौन से अंग किन कार्यनीतियो को अपना रहे हैं। ये नीतियां सरकारी, विशिष्ट वर्गीय सुधारात्मक या क्रांतिकारी हो सकती है। हम उनकी प्रासंगिकता, उपयोगिता या व्यावहारिकता के आधार पर समीक्षा कर सकते है। एक अन्य प्रश्न व्यवस्था मे चलने वाले वर्गसंघर्षों और अंतर्विरोधों के विषय में हो सकता है। द्वंद्वात्मक पद्धति के अनुसार हम मुख्य और साधारण अंतर्विरोधो का अंतर बता सकते हैं मुख्य सघर्ष दो विरोधी सामाजिक शक्तियों मे होता है और साधारण अंतर्विरोध किसी एक सामाजिक शक्ति की अंदरूनी विसंगति होती है। मुख्य अंतर्विरोध माओ के शब्दों में शत्रुतापूर्ण विसंगति है जिसका हल हिंसात्मक संघर्ष के बिना मुमकिन नही है। साधारण अंतर्विरोध का हल शांतिपूर्ण ढग से हो सकता है। व्यवहारवादी लेखक राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण में इन अंतर्विरोधों और वर्गसंघर्षों पर ध्यान नहीं देते।

उदारवादी राजनीतिक व्यवस्थाएं : राबर्ट डाल ने पश्चिमी उदारवादी प्रजातंत्रों की

व्याख्या के लिए बहुलात्मक प्रतिमान को प्रस्तुत किया है, जिसे काफी मान्यता मिली है। संयुक्त राज्य अमरीका की राजनीतिक व्यवस्था के अनुभव के आधार पर वे बहुलात्मक प्रणाली के निम्नलिखित गुण बताते है :

1. एक से अधिक राजनीतिक दलों का अस्तित्व;
2. राजनीतिक दलों द्वारा हितसमूहों को प्रतिनिधित्व;
3. हितसमूहों के बीच में खुली प्रतियोगिता; और
4. वैयक्तिक और सामुदायिक स्वतंत्रताएं।

अपनी पुस्तक 'पोल्यार्की' मे आगे चलकर रावर्ट डाल ने स्वीकार किया कि उनके पूर्ववर्ती बहुलात्मक प्रतिमान मे एक दोष यह था कि उन्होंने हितसमूहों की शक्ति और प्रभाव को लगभग समान समझा था जबकि वास्तव में ऐसा नही है।[6] इसके विपरीत आरंड लिजफार्ट ने विशिष्टवर्गीय राजनीतिक प्रणाली का प्रतिमान प्रस्तुत किया, जो पश्चिमी प्रजातंत्र को एक राजनीतिक विशिष्ट वर्ग द्वारा शासित व्यवस्था मानता है। लिजफार्ट का मत है कि विशृंखल राजनीतिक संस्कृति पर आधारित प्रजातंत्र को यह राजनीतिक विशिष्ट वर्ग अपनी सत्ता के अखंड प्रयोग से स्थाई और सुदृढ़ लोकतंत्र में परिवर्तित कर देता है।[7] सी राइट मिल्स ने अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था को सशक्त विशिष्ट वर्ग द्वारा परिचालित व्यवस्था बताया है जिसमें एकाधिकारी पूंजीपति, उच्च-स्तरीय सैनिक पदाधिकारी और राजनीतिक दलों के उच्च नेता एक सुसंगठित और शक्तिशाली गुट के रूप मे राज्यसत्ता का प्रयोग करते हैं।

समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाएं : समाजवादी राजनीतिक प्रणालियों के विषय में पश्चिमी लेखक तीन प्रकार की व्याख्याएं करते है। दूसरे विश्वयुद्ध के तुरंत बाद कार्ल फ्रेडरिक और हन्ना आरंट ने सर्वाधिकारवादी प्रतिमान के आधार पर समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण किया और फ़ासिस्ट तथा नाजी प्रणालियों से तुलना करते हुए दोनो की समानता और एकस्वरूपता पर जोर दिया। कुछ पश्चिमी लेखकों ने उसे फासिस्ट व्यवस्थाओं से कही अधिक निरकुशतावादी और स्वतत्रता-विरोधी बताया। यह तत्कालीन शीतयुद्ध की मनोभावना के अनुकूल था। 1960 के बाद जब सोवियत रूस और अमरीका के बीच मे कूटनीतिक सबंधों मे सुधार हुआ तो सोवियत प्रणाली के लिए विकसित औद्योगिक व्यवस्था का प्रतिमान प्रस्तावित किया गया। डेनियल बेल ने कहा कि औद्योगिक रूप से विकसित व्यवस्थाएं विचारधारात्मक राजनीति से ऊपर उठ जाती है और इस तरह एक दूसरे के निकट और समक्ष आ जाती हैं। अतः अमरीकी और सोवियत व्यवस्थाओं की निकटता और बढ़ते हुए सादृश्य पर जोर दिया जाने लगा। जान काट्सकी ने समाजवादी व्यवस्था की विकासशील राष्ट्र के प्रतिमान की मदद से व्याख्या की। उन्होंने कहा कि साम्यवाद उन्ही देशों मे पनपता है, जो औद्योगिक रूप से पिछड़े होते हैं। ये देश सामाजिक क्रांति तथा केंद्रियकरण पर आधारित आर्थिक योजनाओ की मदद से अपने समाज का तेजी से उद्योगीकरण करना चाहते है। इसे साम्यवादी राष्ट्र का सिद्धांत भी कहा गया है। कुछ लेखक डेविड ईस्टन के व्यवस्थासिद्धात का उपयोग समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण मे भी

करने का प्रयाग करते हैं। कुछ लोग 'साम्यवादी राष्ट्र' तथा 'विचारधारात्मक निरपेक्षता' के प्रतिमानों में समन्वय करने का प्रयत्न करते है। इसके विपरीत कुछ अन्य लेखक पहले साम्यवादी व्यवस्थाओं की व्याख्या प्रसंग के अनुसार लेनिनवादी, माओवादी या कास्त्रोवादी प्रतिमानों के आधार पर करते हैं और फिर उन्हे राजनीतिक विकास के संरचनात्मक कार्यवादी पैमाने पर रखते हैं।

अल्पविकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएं : अधिकाश पश्चिमी लेखक अल्पविकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या करते समय चीन, वियतनाम, क्यूबा आदि को साम्यवादी व्यवस्था मानकर अलग रख देते हैं। तदुपरात राबर्ट डाल के बहुलात्मक प्रतिमान या आमड, पावेल, कोलमैन, पाई, आप्टर आदि के राजनीतिक विकास प्रतिमान की सहायता से यह देखा जाता है कि पश्चिमी प्रजातन्त्रों की तुलना मे ये अल्पविकसित देश किस कदर पिछड़े हुए है एवं पश्चिमी व्यवस्था के मानदंडों के अनुसार वे कब तक और किस प्रकार 'आधुनिकता' की तथाकथित मंजिल पर पहुच सकेंगे। ये लेखक प्रायः उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष, साम्राज्यवादी दमन, महाशक्तियों द्वारा कूटनीतिक और सैनिक हस्तक्षेप, उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण और ऐतिहासिक तथ्यों को इन अल्प विकसित प्रणालियों के तुलनात्मक विवेचन के लिए असगत और निरर्थक समझते है। ऐडवर्ड शील्स, कोलमैन, आमड, एस ई फ़ाइनर आदि अल्पविकसित देशों की व्यवस्थाओं को दिखावटी प्रजातंत्र, नियंत्रित प्रजातंत्र, प्रारंभिक कुलीनतन्त्र, आधुनिकतापरक अल्पतंत्र तथा सर्वाधिकारवादी अधिनायकतंत्र में बांटते हैं। ये लेखक राजनीतिक संस्कृति के आधार पर भी राजनीतिक व्यवस्थाओं को चार वर्गों मे बांटते हैं :

1. संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति वाली व्यवस्थाएं;
2. पराधीन राजनीतिक संस्कृति वाली व्यवस्थाएं;
3. सहगामी राजनीतिक संस्कृति वाली व्यवस्थाएं; और
4. नागरिक राजनीतिक संस्कृति वाली व्यवस्थाएं।

अल्पविकसित देशो की राजनीतिक संस्कृति मुख्य रूप से संकीर्ण और पराधीन बताई जाती है, जिसमे कही कही अपवाद रूप से सहगामी संस्कृति का थोडा बहुत अंश मिला होता है। इन लेखकों के अनुसार साम्यवादी प्रणालियो की राजनीतिक संस्कृति मुख्यत: पराधीन और सीमित रूप से सहभागिता पर आधारित है। ब्रिटेन और अमरीका नागरिक और सहभागी संस्कृतियों पर आधारित सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक प्रणालियां बताई जाती हैं। फ्रांस, जर्मनी और इटली की राजनीतिक संस्कृति खंडित है, जहां पराधीन और संकीर्ण संस्कृतियों के क्षेत्रों के साथ साथ सहभागी संस्कृति का भी काफी विस्तार हुआ है। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क और हालैंड में सहभागी संस्कृति की प्रधानता है। भारत की राजनीतिक व्यवस्था मे संकीर्ण, पराधीन और सहभागी संस्कृतियो का असंतुलित मिश्रण है। अत: इन लेखकों के अनुसार भारत की एक खंडित राजनीतिक संस्कृति पर आधारित व्यवस्था का उदाहरण है।

विशेषाधिकारों, आर्थिक संसाधनों और शक्ति का वितरण : व्यवहारवादी लेखकों ने राजनीतिक व्यवस्थाओं में शक्ति, संसाधनों और अधिकारों के विभिन्न सामाजिक वर्गों

में वितरण पर विशेष ध्यान नही दिया है। कुछ लोगों ने अगर इस विषय की चर्चा की है तो उसका उद्देश्य केवल कार्ल मार्क्स की शासक वर्ग संबंधी धारणा का खंडन करना है। राबर्ट डाल ने असंचयशील सिद्धांत के प्रतिपादन द्वारा यह साबित करने की कोशिश की कि पश्चिमी ढंग के बहुलात्मक प्रजातंत्र मे शक्ति का किसी एक वर्ग या हितसमूह द्वारा सचय सकेंद्र नही किया जा सकता। इसी के साथ उन्होंने बिखरी हुई विषमताओ के सिद्धात की चर्चा करते हुए कहा कि समाज में विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न वर्ग के लोग उत्कृष्टता प्राप्त करते हैं। जिनके पास धन है, उनके पास राजनीतिक पद नही है। जो शिक्षा और सस्कृति में उत्कृष्ट हैं, उनके पास धन नही है। अतः विषमताओं के आधार पर समाज को दो शत्रुतापूर्ण वर्गों मे बांटना, जैसा कि मार्क्सवादी करते हैं, अनुचित है। सी राइटमिल्स राबर्ट डाल के मत से सहमत नही हैं। उन्होंने शासक वर्ग के स्थान में सशक्त विशिष्ट वर्ग की संकल्पना प्रस्तुत की जिसके अनुसार अमरीका में शासन—सत्ता केवल पूंजीपति वर्ग के नियंत्रण मे न होकर पूंजीपतियो, उच्च सैनिक अधिकारियों और सर्वोपरि राजनीतिक नेताओ के मिले-जुले विशिष्ट वर्ग में निहित है। राबर्ट की धारणा की तुलना में मिल्स की संकल्पना राजनीतिक तथ्यों के निकटतर है।

उपर्युक्त व्याख्या का एक पहलू तो यह है कि इसके द्वारा आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं मे विशिष्ट वर्गों और आम जनता के अंतविरोधों का पता चला है। मौस्का, पैरेतो, मिचेल्स ने आधुनिक समाजो मे विशिष्ट वर्गीय शासन की अनिवार्यता की ओर संकेत किया है। निर्वाचकीय व्यवहार के बारे में किए गए आनुमानिक अध्ययनों ने विशिष्ट वर्ग सिद्धात की पुष्टि की। इस विश्लेषण का दूसरा पहलू वर्गविभाजन और श्रेणी सघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धांतो को चुनौती देना है। उदाहरणार्थ रैल्फ डाहरेन डार्फ ने बताया कि आधुनिक औद्योगिक समाजों में मध्यम वर्ग और विशेष रूप से संपन्न वेतनभोगी वर्ग मार्क्स की धारणा के विपरीत सख्या और सामाजिक प्रभाव में निरंतर उन्नति कर रहा है। इसी बहुसख्यक सपन्न मध्यम वर्ग से राजनीतिक विशिष्ट वर्ग की उत्पत्ति होती है, जो आजकल औद्योगिक देशो की व्यवस्था मे सर्वोच्च सरकारी पद संभालता है और राज्यसत्ता का प्रयोग करता है।

बेंटले, ट्रूमैन और काट्स्की ने पारंपरिक और आधुनिक समूहो की सहायता से राजनीतिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण का प्रयत्न किया है। अल्पविकसित राजनीतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ मे अधिकाश लेखकों ने कबीलों, जातियों तथा अन्य पारंपरिक समूहों के आचरण और भूमिकाओं पर विशेष जोर दिया है। केवल विकसित देशों की राजनीतिक प्रणालियो के विवेचन में आधुनिक हितसमूहो पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। कुछ भारतीय विद्वानो जैसे श्री निवास, रजनी कोठारी और आन्द्रेबेतेय ने पारंपरिक रक्तवशीय समूहों तथा आधुनिक हितसमूहों के कार्यों का समान रूप से अध्ययन किया है। रुडोल्फ दंपति ने पारंपरिक समूहों के आधुनिक राजनीतिक कार्यों की व्याख्या की है। कुल मिलाकर न केवल उदारवादी अपितु मार्क्सवादी लेखक भी विशेषाधिकारों, आर्थिक संसाधनो तथा शक्ति के वितरण पर यथेष्ट प्रकाश डालने में असमर्थ रहे हैं।

राजनीतिक कार्य और भूमिकाएं : राजनीतिक व्यवस्थाओं के अधिकांश विश्लेपक केवल सरकारी कार्यों को विशेष महत्व देते हैं। पहले उनका ध्यान सरकारी कार्यों में भी विधायी, कार्यपालक और न्यायिक कार्यों तक सीमित था। 1950 के पश्चात दो अन्य कार्यों पर भी ध्यान दिया गया। ये कार्य लोककल्याण और लोकप्रशासन से संबद्ध कार्य थे। इस प्रकार सरकार के आर्थिक, सामाकि और सांस्कृतिक कार्यों की ओर भी दृष्टि गई। अल्पविकसित देशों की व्यवस्था में आर्थिक योजना संबंधी कार्यों पर भी ध्यान दिया गया। लोक प्रशासन कार्यों के संबंध में दो प्रकार के दृष्टिकोण अपनाए गए। कुछ लेखकों ने मैक्स वेबर की नौकरशाही की व्याख्या और नौकरशाही तथा औद्योगीकरण के परस्पर सिद्धांत को स्वीकार किया। अन्य लेखकों ने अमरीकी पूंजीपतियों की कंपनियों के संचालन से प्रेरणा लेकर नौकरशाही को एक संचालन व्यवस्था के रूप में देखा और उसके प्रबंधकारी रूप पर विशेष ध्यान दिया। यूरोप और तीसरे विश्व के लेखक मैक्स वेबर से प्रभावित होकर नौकरशाही को कानून द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार कार्य करने वाली विवेक तथा तर्क पर आधारित नीतियों को कार्यान्वित करने वाली संस्था मानते हैं। इसके विपरीत अमरीका के समाज वैज्ञानिक लोकप्रशासन को औद्योगिक प्रबंध और संचालन की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। दोनों में अंतर केवल यह है कि राज्य का लोक प्रशासन राष्ट्र के सार्वजनिक उद्देश्यों से संबद्ध है और निजी उद्योगों का प्रशासन व्यक्तिगत उद्यम पर आधारित है।[9]

उपर्युक्त राजनीतिक कार्यों के अध्ययन से राजनीतिक व्यवस्थाओं के नए पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। इन अध्ययनों का एक दोष यह है कि इनमें व्यवस्था के आधारभूत सैद्धांतिक प्रश्नों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। प्रशासनिक तथा लोककल्याण संबंधी कार्यों को सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के चरित्र के परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। जो लोग केवल सरकारी क्रियाओं का अध्ययन करते है, वे भी सरकार की नीतियों को कार्यान्वित करने में बलप्रयोग के पहलू पर ध्यान नहीं देते। राजनीतिक व्यवस्था की चर्चा करते समय सेना या पुलिस की भूमिकाओं की व्याख्या नहीं की जाती। केवल उन राजनीतिक व्यवस्थाओं में जहां सैनिक अधिनायकतंत्र स्थापित हो या एक दल का शासन हो, सेना और पुलिस की भूमिका की चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। वहां भी पुलिस और फौज के कार्यों को श्रेणीगत आधार पर परखने के बजाय पुलिस और सेना के अधिकारियों को एक स्वतंत्र हितसमूह का दर्जा दे दिया जाता है। पूंजीवादी प्रजातंत्रों में उनकी श्रमिक वर्ग विरोधी भूमिका और क्रियाओं पर प्रकाश डालना अनावश्यक समझा जाता है।

अधिकांश उदारवादी विद्वान राजनीतिक दलों की भूमिका और क्रियाओं की व्याख्या करते समय ब्रिटिश, अमरीकी तथा पश्चिमी यूरोपीय दलपद्धियों को एकमात्र संदर्भबिंदु मानकर चलते है। इस आधार पर अन्य राजनीकि व्यवस्थाओं के विश्लेपण के लिए उन्होंने 'सर्वाधिकारवादी दल' या 'एक दल प्रभावित पद्धति' जैसी संकल्पनाओं को प्रस्तुत किया है। व्यवहारवादी लेखक भी राजनीतिक दलों के अध्ययन में सामाजिक और आर्थिक आयामों के विश्लेपण की आवश्यकता केवल अपवाद के रूप में ही स्वीकार

करते हैं। सेमूर लिप्सेट ने पश्चिमी प्रणालियों के संदर्भ में सामाजिक आर्थिक व्याख्या पर कुछ ध्यान अवश्य दिया है परंतु अल्पविकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं पर इस प्रकार के अध्ययन अभी नहीं किए जा सके।[10]

व्यवहारवादी लेखकों ने प्रभाव समूहों की चर्चा काफी की है लेकिन मजदूरसंगठनों किसानसंघों, युवा आंदोलनों एवं महिला स्वातंत्र्य अभियानों से संबद्ध राजनीतिक क्रियाओं का निष्पक्ष और सैद्धांतिक विश्लेषण कभी कभी ही दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश लेखक इन संस्थाओं और समूहों के कार्यों की केवल व्यवस्था अनुकूलन के दृष्टिकोण से व्याख्या करते हैं। उपर्युक्त समुदायों और संघों के विधिविहीन कार्यों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यवस्था में ऐसे संगठन भी होते हैं, जो कानून विरोधी राजनीतिक कार्यों में संलग्न होते हैं। इन व्यवस्थाविरोधी संगठनों के गैरकानूनी कार्यों का अंतिम परिणाम असफल या सफल क्रांति के रूप में देखा जा सकता है। हिंसात्मक राजनीतिक कार्यों और क्रांतियों पर इधर कुछ कृतियां लिखी गई हैं परंतु इनमें सैद्धांतिक ढांचे और भावात्मक रुचि की कमी बहुत खटकती है और अधिकांश पश्चिमी लेखक क्रांतिविरोधी और प्रति-क्रियावादी मनोवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। सैमुअल हंटिंगटन का यह मत है कि हिंदचीन में तथाकथित लोकतंत्र की शक्तियों की जीत के लिए अगर संपूर्ण वियतनामी जनता का संहार अनिवार्य हो तो अमरीकी सेनापतियों को इस रणनीति से कतराना नहीं चाहिए, उनकी मानवताविरोधी भावना का उदाहरण है।

राजनीतिक विकल्पों का प्रश्न : राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में यह आवश्यक है कि हम देखें कि किस राजनीतिक व्यवस्था ने अपने विकास के लिए कौन सा राजनीतिक विकल्प चुना है। यहां राजनीतिक विकल्प से हमारा तात्पर्य कार्ल मैनहाइम के कल्पित आदर्श से ही नहीं है, न ही हम विचारधारा के अंत की घोषणा करने वाले लेखकों की तरह राजनीतिक विकल्प के विचार को सिर्फ मताग्रह मान सकते हैं। मार्क्स ने भी विचारधारा को मिथ्या चेतना और शासक वर्ग के निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए सोचा गया तर्क माना था। मार्क्स की यह परिभाषा विचारधारा के एक पक्ष की ही व्याख्या करती है। किसी शासक वर्ग की विचारधारा को अनिवार्य रूप से उस समाज के चिंतन की सर्वमान्य पद्धति नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में सभी विचारधारा पर आश्रित विचार श्रेणीस्वार्थों पर आधारित हैं। फिर भी जब कोई विचारधारा समाज के बहुसंख्यक वर्ग या वर्गों के हितों को प्रतिबिंबित करे, तो उसकी सार्वभौमिकता का दावा सचाई के निकटतर समझा जा सकता है। इसी कारण लेनिन तथा माओ-त्से-तुंग राजनीति में क्रांतिकारी विचारधारा की भूमिका पर जोर दिया है। इस प्रकार उन्होंने विचारधारा की धारणा को अधिक व्यापक बनाया है और उसे ऐसी वैचारिक व्यवस्था माना है, जो क्रांतिकारी आचरण और अभ्यास में पथप्रदर्शन कर सके।

व्यवहारवादी लेखकों ने विचारधारा के संबंध में दो भ्रांतियों का प्रचार किया था। पहली भ्रांति विचारधारा के अंत की घोषणा करने वाले डेनियल बेल और रेमंड आरोन जैसे लेखकों ने प्रचारित की। उनका मत था कि अमरीका, पश्चिमी यूरोप, रूस, पूर्वी यूरोप और जापान आदि देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएं पूर्णतः प्रबंधात्मक और

प्रौद्योगिकी (टेक्नालाजी) पर आधारित व्यवस्थाएं बन गई हैं जिनमें विचारधारा का कोई क्रियात्मक महत्व या भूमिका नहीं है। इस विचारधाराहीन व्यवस्था की धारणा के पीछे वस्तुतः यथास्थितिवादी विचारधारा छिपी हुई थी। दूसरी भ्रांति, जिसका पश्चिमी लेखकों ने काफी प्रचार किया, विचारधारा की तथाकथित एकमात्र सर्वाधिकारवादी भूमिका और क्रियाओं के विषय में थी। इनका मत था कि सर्वाधिकारवादी तानाशाही गिरोह की जनता को अपने वश में रखने के लिए विचारधारा का उपयोग अपने असली चेहरे को छिपाने वाली नकाब के रूप में करते हैं।[11]

अल्पविकसित देशों की व्यवस्थाओं में विचारधारात्मक विकल्प के विषय में काफी वादविवाद हुआ है। जनवादी चीन में विचारधारा केवल राजनीतिक प्रेरणा और प्रचार का माध्यम नहीं है। चीन की राजनीति की संपूर्ण प्रणाली, जिसमें विचारधारा भी एक अंग के रूप में शामिल है। अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने का सचेतन प्रयास है। पश्चिम के पूंजीवादी देशों में हर्बर्ट मारक्यूज तथा 'नूतन वामपक्ष' आंदोलन के अन्य विचारक राजनीतिक विकल्प के नए मानदंड प्रस्तुत कर रहे हैं। अब विचारधारा को मताग्रह घोषित करने का हठ कम हो रहा है और उसके स्थान में उसे उद्देश्यों, उपायों और दृष्टिकोणों के वक्तव्य के रूप में देखने की परिपाटी चल पड़ी है। मनोरंजन महंती का मत है कि कुछ लेखक नवक्रियावाद की दृष्टि से प्रभावित होकर कहते हैं : 'माओवाद संभवतः चीन के लिए उसी तरह उपयुक्त है, जैसे अमरीका के लिए बहुलात्मक विचारधारा, या जैसे भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता और पाकिस्तान के लिए इस्लामी समाजवाद, या जैसे भारत के लिए बहुदलीय पद्धति और बंगला देश के लिए अधिनायकतंत्र।'[12] पारंपरिक क्रियावाद की तरह यह नवक्रियावाद भी वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को युक्तिसंगत और विवेकपूर्ण व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर लेने की विचारधारा है, जो अधिक व्यापक और सार्वभौम संदर्भों में सार्थक प्रश्न उठाकर नए राजनीतिक विकल्प की आवश्यकता पर विचार करने की स्थिति से बचना चाहती है। इस तरह का दृष्टिकोण राजनीतिक विकास के गतिशील विकास में बाधा पहुंचाता है।

सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन : विकास, आधुनिकीकरण, राज्यरचना, राष्ट्र-निर्माण और सामाजिकीकरण पर लिखा हुआ साहित्य प्रायः निराशाजनक है। प्रारंभ में उपर्युक्त धारणाओं की परिभाषा प्रगति के पश्चिमी दृष्टिकोण के आधार पर की गई थी, जिसमें प्रगति को उद्योगीकरण की मात्रा से नापा जाता था। इन लेखकों की कृतियों का मुख्य दोष यह था कि वे नस्ल और संस्कृति पर आधारित प्रतिमानों का प्रयोग करते थे और कुछ संस्कृति तथा नस्ल संबंधी गुणों को आर्थिक और राजनीतिक विकास की अनिवार्य शर्त समझते थे। इसके अतिरिक्त व्यवहारवादी लेखकों के प्रतिमानों में द्वंद्व अंतर और विरोध पर बेहद जोर दिया गया था जैसे राजनीति और अर्थनीति का अंतर, विचारधारा और आधुनिकीकरण का भेद, नगर और ग्राम का पृथक्करण तथा विशिष्ट वर्ग और सामान्य वर्गों की संस्कृतियों का अलगाव। उन्होंने परिमाणात्मक वृद्धि में अधिक रुचि दिखाई और फलस्वरूप आधुनिकीकरण के गुणात्मक परिणामों पर ध्यान नहीं दिया।

पिछले कुछ वर्षों में अल्पविकसित देशों की चुनौती के कारण विकासनीति के निर्धारण मे गुणात्मक मानदंडों का महत्व बढ़ रहा है। विचारधारा के अनुसार व्यक्तियों और सामाजिक व्यवस्थाओं की धारणाओं में गुणात्मक अंतर होता है। कुछ पश्चिमी लेखक आर्थिक वृद्धि की गति की तुलना में राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण पर ज्यादा जोर देते हैं। इसके विपरीत जनवादी चीन या वियतनाम मे जनसहयोग की रणनीति के द्वारा समाज के सर्वतोमुखी विकास द्वारा तेजी से उत्पादन-वृद्धि और सामाजिक आर्थिक न्याय की स्थापना पर जोर दिया जाता है। भारत मे भी कांग्रेस और जनता पार्टी ने समान रूप से न्याय पर आधारित विकास और क्रमिक परिवर्तनों द्वारा क्रांति को अपने दल की कार्यनीति घोषित किया है। यह दृष्टिकोण भी पश्चिम के व्यवहारवादी दृष्टिकोणों से भिन्न है। अल्पविकसित देशों के दृष्टिकोणों में प्रगति के राजनीतिक सारतत्व पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। यदि सामाजिक व्यवस्था के सही विश्लेषण के आधार पर परिवर्तन की रणनीति निर्धारित की जाए, तो हम ऐसे राजनीतिक विकल्प की विचारधारा निश्चित कर सकते है, जिसकी सहायता से हम एक गतिशील अर्थव्यवस्था का निर्माण कर सकें। क्रांतिकारी राजनीतिक विचारधारा ही क्रांतिकारी राजनीतिक अर्थनीति के संचालन मे सहायक हो सकती है।

इस प्रकार विकास संबंधी प्रश्नो पर चिंतन की दिशा मे परिवर्तन हुआ है। आर्थिक वृद्धि की विशुद्ध रूप से परिमाणात्मक कार्यनीतियों के स्थान में राजनीतिक परिप्रेक्ष्यों पर आधारित सामाजिक क्रांति की ओर अब लोगो का ध्यान आकर्षित हो रहा है। राजनीतिविज्ञान अब इस बात को स्वीकार करता है कि सामाजिक परिवर्तन एक व्यापक प्रक्रिया है जिसमे आर्थिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक परिवर्तन शामिल हैं।

संदर्भ

1. मनोरंजन महती 'कंपेरेटिव पोलिटिकल थियरी एंड थर्ड वर्ल्ड सेंसिटिविटी', टीचिंग पालिटिक्स, 1975, खंड 1-2, पृ० 23.
2. वही, पृ० 24-25.
3. एस पी वर्मा : 'माडर्न पोलिटिकल थियरी', पृ० 99-101.
4. मनोरंजन महती : 'कंपेरेटिव पोलिटिकल थियरी एंड थर्ड वर्ल्ड सेंसिटिविटी', टीचिंग पालिटिक्स, 1975, खंड 1-2, पृ० 28.
5. वही, पृ० 50
6. राबर्ट डाल : 'पोल्यार्की', पृ० 32.
7. आरंट लिजफार्ट : 'कंसोशिएशनल डेमोक्रेसी', वर्ल्ड पालिटिक्स, खंड 21, नं० 2, जनवरी, 1969.
8. मनोरंजन महती : 'कंपेरेटिव पोलिटीकल थियरी एंड थर्ड वर्ल्ड सेंसिटिविटी' टीचिंग पालिटिक्स, 1975, खंड 1-2, पृ० 32.
9. वही, पृ० 33.
10. वही, पृ० 34.
11. वही, पृ० 35.
12. वही, पृ० 36

14

शासकों का वर्गीकरण और संगठन

राजनीति विज्ञान मे इस सबध मे तीन शब्दावलियो का प्रयोग किया जाता है : राज्यो का वर्गीकरण और संगठन, शासनो का वर्गीकरण और सगठन एव राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण और सगठन। अरस्तू, मैक्यावेली, मातेस्क्यू आदि पारपरिक राजनीतिक चिंतक राज्यो के वर्गीकरण की चर्चा करते थे। बीसवी सदी के सस्थानवादी लेखक ब्राइस, मनरो, फाइनर आदि शासनो के वर्गीकरण और सगठन की बात करते हैं। व्यवहारवादी लेखक मैक्रिडीज, राबर्ट डाल, आमड, ईस्टन, शील्स, ब्लोंडिल आदि राजनीतिक व्यवस्थाओ के वर्गीकरण और सगठन की शब्दावली का प्रयोग करना अधिक उचित समझते हैं।

राज्यों का पारंपरिक वर्गीकरण और संगठन : यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने रिपब्लिक में राज्यो को पाच वर्गो मे बाटा था। इनमे सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जहां सत्ता दार्शनिक वर्ग के हाथ में निहित होती है। योद्धा वर्ग तथा उत्पादक वर्ग दार्शनिक वर्ग की अधीनता मे कार्य करते हैं। यह पूर्ण ज्ञान का राज्य है। इसको प्लेटो विचारतंत्र कहते हैं। श्रेष्ठता की दृष्टि से दूसरे स्तर का राज्य सैनिकतंत्र है, जिसमे सत्ता योद्धावर्ग मे निहित होती है। यह वीरोचित सम्मान पर आधारित राज्य है। श्रेष्ठता की दृष्टि मे तीसरे स्तर का राज्य धनिकतंत्र है, जिसमें सत्ता समाज के अल्पसख्यक धनिकवर्ग में निहित होती है। यह ऐश्वर्य की महिमा पर आधारित राज्य है। चौथे स्तर का राज्य और प्लेटो की दृष्टि मे एक निकृष्ट राज्य प्रजातंत्र है, जिसमे सत्ता जनता के बहुसख्यक दरिद्र वर्ग के हाथ में निहित होती है। इसमे जनता के नाम पर भीड को उकसाने वाले सिद्धान्तहीन और स्वार्थी नेता शासन करते हैं। इस राज्य का आधार मनुष्य की तामसी प्रवृत्तियां और इंद्रियसुख की लालसा है। पांचवे स्तर का और निकृष्टतम राज्य निरंकुश आततायी एकतंत्र है, जिसमे सर्वोपरि सत्ता एक अत्याचारी और स्वेच्छाचारी अधिनायक मे निहित होती है। यह आततायी शासक पहले जनता की खुशामद कर लोगो का विश्वास प्राप्त करता है और सत्ता हाथ मे लेने पर निरकुश और स्वेच्छाचारी प्रशासक के रूप मे उनपर मनमाने अत्याचार करता है। इस राज्य में मनुष्य की तामसी प्रवृत्तिया सीमा पर पहुंच जाती हैं।[1]

प्लेटो ने अपनी दूसरी कृतियों 'लाज' तथा 'स्टेट्समैन' में राज्यो को दो मुख्य वर्गो मे विभाजित किया और फिर प्रत्येक वर्ग को तीन उपवर्गों मे बांटा। प्रथम वर्ग में वे राज्य है, जहा शासक और शासित दोनो कानून के अनुसार आचरण करते है। ये राज्य क्रमश. राजतत्र, कुलीनतत्र तथा विनम्र प्रजातत्र है। द्वितीय वर्ग मे वे राज्य है, जिनमे कानून का पालन होने के बजाय उसका नियमित रूप से उल्लघन किया जाता है। ये राज्य क्रमश. स्वेच्छाचारी एकतत्र, स्वार्थी वर्गतंत्र और उग्र लोततंत्र हैं।

अरस्तू द्वारा प्रस्तुत राज्यो का वर्गीकरण इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। वस्तुत: उसमे मौलिकता का पूर्ण अभाव है। वह प्लेटो द्वारा 'लाज' तथा 'स्टेट्समैन' में प्रस्तुत वर्गीकरण पर ही आधारित है। अरस्तू के अनुसार भी राज्यो के दो मुख्य वर्ग हैं: सामान्य राज्य तथा भ्रष्ट राज्य। सामान्य और भ्रष्ट राज्यो के भी तीन उपवर्ग हैं। राजतत्र, कुलीनतत्र और उदार लोकतत्र सामान्य राज्य की श्रेणी मे आते है। इनमें शासक सार्वजनिक कल्याण को राज्य का आधार मानते हैं और शासक तथा प्रजा समान रूप से कानून का पालन करते है। असामान्य या भ्रष्ट राज्यो की कोटि मे अरस्तू ने निरकुश एकतत्र, स्वार्थी अल्पतत्र और उग्र लोकतत्र को शामिल किया। इनमे शासक कानून का पालन नही करते और स्वार्थसिद्धि तथा वर्गहित से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। कुछ समय पूर्व तक अरस्तू द्वारा प्रस्तुत राज्यो का वर्गीकरण सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। संस्थानवादी लेखक गिल्क्राइस्ट का कथन है: 'आधुनिक सरकारो के स्वरूपो के लिए यह वर्गीकरण पर्याप्त नही है, परतु आज तक जितने भी वर्गीकरण किए गए है, उन सभी के लिए यह ऐतिहासिक आधार रहा है।'[2]

अरस्तू के बाद पोलिबियस, सिसरो, मैक्यावेली, बोदा, हाब्स, लाक इत्यादि राजनीतिक चिंतकों ने राज्यो और सरकारो के वर्गीकरण मे कोई मौलिक संशोधन प्रस्तुत नही किया। मैक्यावेली, हाब्स इत्यादि यथार्थवादी लेखको ने अरस्तू द्वारा प्रतिपादित भ्रष्ट से या कानून रहित राज्यो की श्रेणी को पृथक रूप से मान्यता नही दी। हाब्स तथा मैक्यावेली के अनुसार राज्यो के केवल तीन भेद हैं: राजतंत्र जहां एक व्यक्ति सर्वोपरि सत्ता का प्रयोग करता हो; कुलीनतत्र जहा सर्वोच्च सत्ता अल्पसख्यक गिरोह के हाथ मे हो; और अत मे प्रजातत्र जहा शासक जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति हो। मातेस्क्यू का विचार है कि सभी सरकारो के पीछे एक प्रेरक शक्ति होती है। एकतंत्र की प्रेरक शक्ति भय का संचार है। राजतत्र का आधार आदर की मनोभावना है। कुलीनतत्र का प्रेरक सिद्धात अनुशासन है। प्रजातत्र का मूल तत्व लोकसेवा की प्रवृत्ति है।

लीकाक और मैरियट के संस्थानवादी वर्गीकरण: आधुनिक संस्थानवादी लेखकों में मैरियट तथा लीकाक द्वारा प्रतिपादित शासनो के वर्गीकरण उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार आधुनिक शासनप्रणाली या तो निरकुश होती है या लोकतंत्रीय। निरंकुश शासन सभी एक प्रकार के होते है। लोकतत्रीय शासन दो प्रकार के होते हैं: सीमित राजतंत्र और गणतंत्र। सीमित राजतंत्र ब्रिटेन तथा हालैंड मे स्थापित है। फ्रांस और अमरीका गणतत्र है। सीमित राजतत्र मे राज्य का प्रधान राजा होता है या रानी

किंतु वास्तविक सत्ता जनता द्वारा निर्वाचित ससद और मंत्रिमडल मे निहित होती है। गणतंत्र में राज्य का प्रधान राष्ट्रपति होता है जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति सत्ता का स्वय प्रयोग करता है। अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति राजा या रानी की तरह नाम मात्र का शासक होता है और वास्तविक सत्ता मत्रिमडल और विधानमडल मे निहित होती है।

इसी प्रकार केंद्रीय शासन और क्षेत्रीय प्रशासन के बीच शक्तियो के विभाजन के अस्तित्व या अभाव के आधार पर भी शासनप्रणालियो को दो वर्गों मे बाटा जाता है। जिन राज्यों के संविधान केंद्रीय सरकार और क्षेत्रीय सरकारो के बीच अधिकारपूर्ण विभाजन कर देते है, उन राज्यों की शासनप्रणाली संघात्मक कहलाती है। सयुक्त राज्य अमरीका और स्विटजरलैंड सघात्मक प्रणालियो के उदाहरण है। जिन राज्यो मे सविधान सभी शक्तियों को केंद्रीय सरकार मे संकेंद्रित कर देते है, उन्हे एकात्मक शासनप्रणालियों मे गिना जाता है। फ्रास, ब्रिटेन, जापान और चीन एकात्मक शासन-प्रणालियों के उदाहरण हैं। भारत और सोवियतरूस एकात्मक प्रवृत्ति वाली सघात्मक शासनप्रणालिया है।

लीकाक तथा मैरियट कार्यपालिका के स्वरूप के आधार पर सरकारों को ससदीय और असंसदीय पद्धतियों मे भी विभाजित करते हैं। ससदीय सरकार ब्रिटेन, हालैंड, इटली, जर्मनी, जापान, भारत आदि देशो में स्थापित है। इन देशों मे कार्यपालक सत्ता मंत्रिमडल मे निहित होती है जो अपनी नीतियों के लिए विधानमडल के प्रति उत्तरदायी होते है। असंसदीय प्रणालियों के उदाहरण सयुक्त राज्य अमरीका, लैटिन अमरीका के राज्य, फ्रास का पाचवां गणतत्र, फिलीपीन आदि राज्य हैं। इन देशों मे कार्यपालका का स्वरूप अध्यक्षात्मक है, क्योंकि वहां राष्ट्रपति ही वास्तविक कार्यपालिक शक्तियों का प्रयोग करता है। असंसदीय शासनप्रणाली का एक अन्य उदाहरण स्विटजरलैंड है जहा बहुलात्मक कार्यपालिका एक समिति के रूप मे शासन करती है। यह समिति सभी राजनीतिक दलों, भाषाओं और क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करती है।[3]

मैरियट सविधान की संशोधनपद्धति के आधार पर सरकारो को लचीली और कठोर शासनप्रणालियों मे भी विभाजित करते हैं। ब्रिटेन का सविधान अत्यधिक लचीला है, क्योंकि वहां समद साधारण बहुमत से ही संविधान के किसी नियम को बदल मकती है। इसके विपरीत अमरीका का संविधान अत्यधिक कठोर है क्योंकि वहा संविधान मे संशोधन के लिए कांग्रेस के दोनों सदनो के दो तिहाई बहुमत की तथा राज्यो के तीन चौथाई विधान मंडलो के सामान्य बहुमत की आवश्यकता होती है। मैरियट और लीकाक के मत के अनुसार ब्रिटिश शासन प्रणाली लोकतंत्रीय, समिति राजतंत्रीय, संसदीय, एकात्मक और लचीली है और अमरीकी शासनप्रणाली लोकतंत्रीय, गणतंत्रीय, अध्यक्षात्मक, संघात्मक और कठोर है।

यद्यपि मैरियट और लीकाक निरंकुश शासनप्रणालियो के वर्गीकरण की आवश्यकता नही समझते परंतु आधुनिक अधिनायकतंत्रीय सरकारो को कुछ संस्थानवादी लेखक साम्यवादी तथा फासिस्ट प्रणालियों में विभाजित करते हैं। फासिस्ट शासनप्रणाली में

उत्पादन के साधनों पर निजी संपत्ति के अधिकार को मान्यता दी जाती है और पूंजीवादी व्यवस्था को सुरक्षित रखा जाता है। साम्यवादी शासनप्रणाली में उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होता है और उन पर निजी संपत्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया जाता है। लीकाक और मैरियट द्वारा वर्णित लोकतंत्रीय शासन-प्रणालियां भी फासिस्ट शासनप्रणालियों की तरह पूंजीवादी व्यवस्था और निजी संपत्ति के अधिकार को मान्यता देती हैं। फासिस्ट और साम्यवादी प्रणालियों में मुख्य समानता यही है कि दोनों में एक राजनीतिक दल का ही शासन होता है परंतु उनके उद्देश्यों और कार्यक्रमों में मौलिक भेद होता है। अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से फासिस्ट और पूंजीवादी लोकतंत्र एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। मैरियट और लीकाक फासिस्ट और लोकतंत्रीय प्रणालियों की उपर्युक्त समानता पर ध्यान नहीं देते। अतः उनका वर्गीकरण अत्यधिक औपचारिक है।

श्वार्जनबर्गर ने राज्यों को एकजातीय और बहुजातीय राज्यों में विभाजित किया है। उदाहरणार्थ फ्रांस एकजातीय राज्य है और सोवियत संघ बहुजातीय राज्य है। इसका कारण यह है कि सोवियतसंघ के अंतर्गत विभिन्न जातियों के लोग निवास करते हैं। श्वार्जनबर्गर के अनुसार इतिहास में बहुजातीय राज्यों के निम्नलिखित उदाहरण हैं: आस्ट्रिया हंगरी राजवंशीय साम्राज्य; फ्रांस और ब्रिटेन के औपनिवेशिक साम्राज्य तुर्की को ओटोह्न धर्मतंत्रीय राज्य; ब्रिटिश राष्ट्रमंडल; बहुजातीय संघात्मक राज्य और कृत्रिम संघात्मक राज्य।[4] आजकल राजवंशीय औपनिवेशिक और धर्मतंत्रीय साम्राज्य समाप्त हो गए हैं। राष्ट्रमंडल को वर्तमान रूप में राज्य मानना उचित नहीं है। संघात्मक या कृत्रिम संघात्मक राज्यों की जातियां धीरे धीरे अपना पृथक अस्तित्व खो रही हैं। सोवियत संघ को छोड़कर आजकल किसी राज्य को सही अर्थ में बहुजातीय राज्य कहना अतिशयोक्ति होगी।

संघात्मक और एकात्मक प्रणालियां

शक्तियों के क्षेत्रीय वितरण या संकेंद्रण के आधार पर तथा केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारों के पारस्परिक संबंधों के आधार पर भी हम शासन प्रणालियों का वर्गीकरण करते हैं, जिन्हें क्रमशः संघात्मक और एकात्मक प्रणाली कहा जाता है।

संघात्मक प्रणाली : इस प्रणाली में विधायन और प्रशासन संबंधी शक्तियों को एक केंद्रीय सरकार और अनेक क्षेत्रीय सरकारों के बीच में संविधान के प्रावधानों द्वारा बांट दिया जाता है। डायसी की परिभाषा के अनुसार संघात्मक शासनप्रणाली राष्ट्रीय एकता और राज्यों के अधिकारों में समन्वय करने की एक राजनीतिक पद्धति है। संघात्मक प्रणाली में एक लिखित संविधान का होना जरूरी माना जाता है। इसी संविधान को राज्य का सर्वोच्च आधारभूत कानून समझा जाता है। सभी शासनांगों की तुलना में न्यायपालिका की स्थिति और प्रतिष्ठा उच्चतम होती है। उच्चतम न्यायालय केंद्रीय संसद तथा क्षेत्रीय विधानमंडलों द्वारा स्वीकृत कानूनों को भी संविधान विरुद्ध होने पर अवैध घोषित कर सकता है। न्यायालयों के इस विशेष अधिकार को न्यायिक पुनरीक्षण

का अधिकार कहते हैं। राज्य के उच्चतम न्यायालय को संघात्मक प्रणाली के अंतर्गत संविधान का संरक्षक माना जाता है। स्विटजरलैंड ही एकमात्र ऐसी पारंपरिक संघीय प्रणाली है जहां संघीय न्यायालय को न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार प्राप्त नहीं है। तिहाई संघीय संविधान प्रायः बहुत कठोर होते है, जिनमे सशोधन करने के लिए ससद के दो बहुमत की और प्रादेशिक इकाइयों के साधारण या असाधारण बहुमत से समर्थन की आवश्यकता पड़ती है। स्विटजरलैंड मे जनता लोकमतसग्रह के द्वारा सशोधन को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है।

सघात्मक प्रणाली में केंद्रिय तथा क्षेत्रीय स्तरो पर दो समानातर विधानमडल कानून बनाते हैं और दो समानांतर कार्यपालिकाए प्रशासन चलाती है। सयुक्त राज्य अमरीका मे दो समानातर न्यायपालिकाएं न्याय भी करती है और न्याय का आधार दो समानांतर कानून सहिताओ को माना जाता है। इन समानातर सरकारो के अधिकारों और शक्तियों का औपचारिक विभाजन लिखित सविधान के प्रावधान कर देते है। इसलिए क्षेत्रीय सरकारों को अपनी शक्तियो और अधिकारो के प्रयोग के लिए केंद्रीय सरकार की अनुमति पर अवलबित नही रहना पडता।

आशिर्वादम के अनुसार संघात्मक प्रणाली की सफलता और सुदृढता के लिए निम्न-लिखित बातें आवश्यक हैं:

1. संघात्मक राज्य मे सम्मिलित होने वाले क्षेत्रो मे सामान्य हितों की सिद्धि के लिए परस्पर मिलकर एक केंद्रीय शासन स्थापित करने की अभिलाषा होनी चाहिए।

2. क्षेत्रों के निवासियों मे सहयोग की अभिलाषा तो हो पर एक रूप तथा एकाकार होने की इच्छा नही होनी चाहिए। राष्ट्रीय समस्याओं के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय प्रश्नों पर प्रादेशिक स्वायत्तता कायम रखने के लिए भी नागरिको मे उत्कट इच्छा का होना आवश्यक माना जाता है।

3. राजनीतिक इकाइयों की भौगोलिक असंबद्धता और दूरी उनमे अलगाव और बिखराव की भावना पैदा करती है। इसलिए ऐसे ही क्षेत्र संघ बना सकते है जो भौगोलिक रूप मे एक दूसरे के समीप हैं।

4. क्षेत्रों में जनसख्या, क्षेत्रफल और आर्थिक उन्नति की दृष्टि से बहुत असमानता न हो। कोई भी प्रदेश इतना शक्तिशाली न हो कि वह दूसरे क्षेत्रों का स्वामी बन बैठे। 1919 मे पूर्व जर्मन संघ में प्रशा अपनी विशाल जनसंख्या और क्षेत्रफल के कारण अन्य क्षेत्रों पर प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हो गया था।

5. संघात्मक शासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है। नागरिक केंद्रीय एवं क्षेत्रीय सरकारों के प्रति अपनी निष्ठा में युक्तिसंगत संतुलन रखें और इन दोनों निष्ठाओं में परस्पर विरोध न होने दें। नागरिकों को चाहिए कि वे केंद्रीय और क्षेत्रीय सरकार द्वारा घोषित कानूनो और आदेशों का समान रूप से सम्मान करते है।[5]

संघात्मक प्रणाली के दोष: दो समानांतर कार्यपालिकाओं और विधानमंडलों के कारण प्रशासनिक और विधायी नीतियो में अतर उत्पन्न हो जाता है। कद्र और प्रदेशों में नौकरशाही के अस्तित्व की वजह से प्रशासन मे संघर्ष पैदा हो जाता है।

क्षेत्रीय सरकारों के बीच में अधिकारों और शक्तियों के वितरण के प्रश्न पर मतभेद विकसित होने लगते हैं। समानांतर प्रशासन और विधायन होने के परिणामस्वरूप संघात्मक शासनप्रणाली अत्यधिक खर्चीली साबित होती है। केंद्र और राज्यों के बीच में तनाव बढ़ने पर कुछ क्षेत्र संघ से पृथक होने की मांग करने लगते हैं, जिससे देश की एकता खतरे में पड़ जाती है। अमरीका में अफ्रीकी निग्रो की दासता के प्रश्न पर दक्षिण राज्यों द्वारा विच्छेद की चुनौती का सामना करना पड़ता था। गृहयुद्ध में संघीय सेना की विजय के कारण ही अमरीका की राष्ट्रीय एकता सुरक्षित रह सकी थी।

संघात्मक प्रणाली के लाभ : उपर्युक्त दोषों के बावजूद इस प्रणाली में कई गुण हैं। संघ दुर्बल और छोटे राज्यों को संयुक्त होकर शक्तिशाली और विशाल राज्य बन जाने की सुविधा देता है। संघ की स्थापना के पश्चात भी इन राज्यों की क्षेत्रीय स्वायत्तता और पृथक स्थिति कायम रहती है। यह उन बड़े राज्यों के लिए लाभदायक है, जिनमें विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों, जातियों और भाषाओं के लोग निवास करते हैं। यह क्षेत्रीय विभिन्नताओं के मध्य राष्ट्रीय एकता स्थापित करती है। इस व्यवस्था में जहां राष्ट्र की नीतियों, प्रशासन और कानूनों के लिए एकरूपता चाहिए, वहां केंद्रीय सरकार उन्हें एकरूपता प्रदान कर सकती है। इसी प्रकार जहां नीतियों, प्रशासन और विधायन के क्षेत्र में विभिन्नता लाभदायक है, वहां स्वायत्त क्षेत्रीय सरकारें विभिन्नता की रक्षा कर सकती हैं। यह प्रणाली क्षेत्रीय स्तर पर जनता को स्वशासन में भाग लेने का अवसर देती है और इस प्रकार केंद्रीय सरकार के प्रशासन संबंधी दायित्वों को हल्का कर देती है। केंद्रीय शासन और राज्यों की सरकारों में शक्तियों के विभाजन के कारण इस प्रणाली के अंतर्गत एक निरंकुश शासक द्वारा पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी शासन या अधिनायकतंत्र की स्थापना करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

एकात्मक शासन प्रणाली : इस प्रणाली के अंतर्गत सभी कार्यपालक शक्तियां केंद्रीय कार्यपालिका में और सभी विधायी शक्तियां केंद्रीय संसद में संकेंद्रित कर दी जाती हैं। केंद्रीय और क्षेत्रीय सरकारों में अधिकारों और शक्तियों का वितरण केंद्रीय संसद करती है। यह शक्तियों का स्थाई विभाजन न होकर केंद्र द्वारा क्षेत्रों को सीमित शक्तियों का अस्थाई हस्तांतरण है, जिन्हें केंद्र इच्छानुसार क्षेत्रों से वापस ले सकता है। स्थानीय सरकारें अपने सभी अधिकार केंद्र से प्राप्त करती हैं। पृथक क्षेत्र के रूप में उनका अस्तित्व भी केंद्रीय सरकार की अनुमति पर अवलंबित है।

एकात्मक प्रणाली में शासन, विधायन और न्याय की संपूर्ण शक्तियों पर केंद्रीय सरकार, संसद और न्यायपालिका का एकाधिकार होता है। इस व्यवस्था में संविधान के प्रावधानों द्वारा केंद्र और प्रदेशों में निश्चित और औपचारिक रूप से शक्तियों का वितरण नहीं किया जाता। केंद्रीय सरकार को ही शक्ति का एकमात्र स्रोत माना जाता है। प्रशासनिक सुविधा के लिए एकात्मक राज्य भी प्रांतों और जिलों में बांट दिए जाते हैं। केंद्रीय सरकार प्रांतों और जिलों को थोड़े से अधिकार हस्तांतरित कर देती है परंतु हस्तांतरित अधिकारों के क्षेत्र में भी उसे निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार बना रहता है। प्रांतों और जिलों की सीमाएं और उनका अस्तित्व भी केंद्रीय सरकार की

नीति द्वारा निर्धारित होते है। उनके निर्माण, विनाश या पुनर्गठन मे संविधान की कोई भूमिका नही होती। एकात्मक राज्य के क्षेत्रीय प्रशासक केंद्रीय व्यवस्था के ही अभिन्न अंग होते है। वे केंद्रीय सरकार के आधीन रहकर और उसके प्रतिनिधि के रूप मे क्षेत्रीय प्रशासन चलाते हैं। इसी तथ्य को दूसरे शब्दो मे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि क्षेत्रीय सरकारों की शक्तिया और अधिकार मौलिक नही होते। इन अधिकारों को केंद्रीय शासक इच्छानुसार घटा-बढा सकते है।

एकात्मक शासन प्रणाली से हानियां : इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि इसमे सुदृढ क्षेत्रीय संस्थाओ का विकास नही हो सकता। यह बात फ्रास की प्रणाली पर स्पष्ट रूप से लागू होती है परंतु ब्रिटेन मे एकात्मक प्रणाली के अंतर्गत भी सुदृढ और स्वायत्तशासी क्षेत्रीय संस्थाएं विकसित हो सकी है। इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि क्षेत्रीय नीतियो का संचालन और उनकी प्रशासनिक समस्यओं का समाधान दूर राजधानी मे विराजने वाले केंद्रीय प्रशासक करते है। उन्हें प्राय: इन क्षेत्रो की स्थिति और समस्याओ का सही और पर्याप्त ज्ञान भी नही होता। दूसरो पर निर्भर रहने के कारण एकात्मक राज्य के नागरिको को क्षेत्रीय स्तर पर ही अपनी समस्याओ के स्वयं हल करने मे कोई अभिरुचि नही होती। इसीलिए उनमें स्वशासन की क्षमता और कला अविकसित रह जाती है। क्षेत्रीय स्वतंत्रता के समर्थक स्वाभाविक रूप से एकात्मक राज्य को पसंद नही करते। केंद्रीय अधिकारी सामान्य रूप से क्षेत्रीय समस्याओं और आवश्यकताओ से परिचित नही होते। परिणामस्वरूप क्षेत्रीय हितो की पूर्ति मे बाधा पडती है। स्थानीय और प्रांतीय प्रशासन के उत्तरदायित्वों से केंद्रीय सरकार के कार्यों में बहुत वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप प्रशासन में लालफीताशाही, शिथिलता और अकुशलता उत्पन्न हो जाती है।

एकात्मक शासन प्रणाली के गुण : उपर्युक्त हानियो के बावजूद यह सीमित जनसंख्या और क्षेत्रफल वाले देशों के लिए एक उपयुक्त और गुणकारी व्यवस्था है। एकात्मक राज्य संपूर्ण राष्ट्र में नीतियो, प्रशासन और विधायन के क्षेत्रों में एकरूपता और सामं-जस्य लाता है। इस एकता से सुव्यवस्थित प्रशासन तंत्र की स्थापना संभव हो जाती है। एकात्मक प्रणाली के अंतर्गत आर्थिक नीति, सुरक्षा नीति, विदेश नीति इत्यादि गंभीर प्रश्नों पर शीघ्रता से निर्णय लिए जा सकते हैं और उन्हें दृढता से कार्यान्वित किया जा सकता है। केंद्रीय सरकार तथा क्षेत्रीय सरकारों में अधिकारों के वितरण के विषय मे किसी प्रकार के संघर्ष की संभावना नही होती। एकात्मक शासनप्रणाली संघात्मक शासनप्रणाली की अपेक्षा कम खर्चीली और सरल होती है। विश्व के अधिकांश राज्यो में आजकल एकात्मक प्रणाली ही प्रचलित है। अनेक संघात्मक प्रणालियों मे भी केंद्रीयकरण एवं एकीकरण की प्रवृत्तियां बढ रही हैं। सोवियत रूस और भारत जैसे संघात्मक राज्य व्यवहार में एकात्मक राज्य के रूप में आचरण करते हैं। जनवादी चीन ने एकात्मक प्रणाली को ही स्वीकार किया है। ब्रिटेन और फ्रास एकात्मक शासनप्रणाली के प्रसिद्ध पारंपरिक उदाहरण है।

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत : यद्यपि सर्वप्रथम अरस्तू ने विवेचनात्मक,

अधिशासकीय और न्यायपालक शक्तियो में अंतर बताया था और उनके पृथक्करण की बात कही थी, तो भी सही अर्थ मे इस सिद्धात का प्रतिपादन आधुनिक युग के फ्रांसीसी लेखक मातेस्क्यू ने किया। मातेस्क्यू ने तत्कालीन ब्रिटिश शासनप्रणाली से प्रेरणा लेकर इस सिद्धात का प्रतिपादन किया था। यह कहा जाता है कि अंगरेजी शासनप्रणाली के वास्तविक रूप को मातेस्क्यू समझ नही सके। यद्यपि उस समय ब्रिटेन मे शक्तियो के पृथक्करण को समाप्त करने वाली मंत्रिमंडल प्रणाली का विकास नहीं हुआ था, परंतु वहा तो भी शक्तियो का स्पष्ट रूप से पृथक्करण भी अस्तित्व में नही था। ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था के समझने मे विदेशी होने के कारण मातेस्क्यू की त्रुटि को क्षम्य माना जा सकता है। परंतु ब्लैकस्टन द्वारा, जो स्वयं अंगरेज, ब्रिटिश प्रणाली को विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियो के पृथक्करण पर आधारित बताना सचमुच आश्चर्यजनक है।

स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए मातेस्क्यू ने शक्तियो के पृथक्करण के नियम को अनिवार्य शर्त माना। उनका मत है: 'जब विधायिका और कार्यपालिका की शक्तियां एक ही व्यक्ति या संस्था मे केंद्रित कर दी जाती है, तो स्वतंत्रता असंभव हो जाती है··· अगर न्यायिक और विधायी शक्तिया मिला दी जाए तो जनता के जीवन और स्वतंत्रता पर असीमित नियंत्रण स्थापित हो जाएगा···और यदि न्यायपालिका और कार्यपालिका की शक्तिया इकट्ठी कर दी जाए तो न्यायाधीश अत्याचारी बन सकता है।'[6]

1789 की क्रांति के पश्चात फ्रास के क्रांतिकारी संविधानो मे कुछ समय के लिए शक्तियों के पृथक्करण के नियम को मान्यता दी गई परंतु बाद में संसदीय पद्धति के मंत्रिमंडल के निर्माण के पश्चात इस नियम की अवहेलना कर दी गई। केवल अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था मे इस सिद्धात को स्थाई और पूर्णरूप से मान्यता प्रदान की गई। वहा राष्ट्रपति विशेष रूप से कार्यपालक शक्तियों का, कांग्रेस के दोनों सदन विशेष रूप से विधायी शक्तियों का एव सर्वोच्च न्यायालय स्वतंत्र रूप से न्यायिक शक्तियों का प्रयोग करते हैं। फिर भी व्यवहार मे अमरीकी प्रणाली में भी इन संस्थाओं का एक दूसरे पर नियंत्रण और प्रभाव है। इस प्रकार अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था में अवरोध तथा संतुलन के सिद्धात और पद्धति का विकास हुआ है।

उदारवादी शासनप्रणालियों मे शक्तियों के पृथक्करण का एक लाभ यह है कि इसके द्वारा इन प्रणालियों के अंतर्गत न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियंत्रण और हस्तक्षेप से स्वतंत्र रखने का प्रयास किया जाता है। परंतु न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा अन्य उपायो से भी हो सकती है। ये उपाय है न्यायधीशों की राजनीतिक दलबंदी से मुक्ति। उनके कार्यकाल की सुरक्षा और यथेष्ट वेतन जिसे कार्यपालिका के अधिकारी कम न कर सकें। ब्रिटेन जैसे देशो मे कार्यपालिका और विधायिका की शक्तियों मे पृथक्करण नही है और न्यायपालिका भी कानूनी दृष्टि से संसद के आधीन है। फिर भी उदारवादी प्रणालियो मे ब्रिटिश न्यायपालिका को एक निष्पक्ष और स्वतंत्र न्यायपालिका के रूप मे देखा जाता है। वह अमरीकी न्यायपालिका से कम निष्पक्ष और स्वतंत्र नही जाती। शक्तियों के पृथक्करण से दूसरा लाभ यह है कि यह नौकरशाही और

कार्यपालिका को सचेत और सावधान करता है कि वे विधायी और न्यायिक कार्यों मे अनुचित हस्तक्षेप करने का साहस न करें। हर्मन फाइनर का कथन है कि यह नियम शासन के प्रत्येक अंग को अपने कार्यों और अधिकार क्षेत्र की सीमा का ज्ञान कराता है और उसे अपनी निर्धारित परिधि मे आचरण करने का आदेश देता है।

शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत की आलोचना : राजनीतिक दलो के विकास के कारण शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धात न केवल संसदीय संवैधानिक व्यवस्था मे अपितु असंसदीय अध्यक्षात्मक प्रणाली मे भी व्यावहारिक रूप से निरर्थक हो गया है। इस संबंध मे आशीर्वादम का मत है कि लोकतांत्रिक देशों मे हमे राजनीतिक दलो के प्रभुत्व और प्रशासन अधिकारियों की निरंकुशता के विरुद्ध रक्षा की आवश्यकता हो सकती है पर इनमे से किसी प्रकार के भी प्रभुत्व के विरुद्ध शक्तियो के पृथक्करण की व्यवस्था सफल नही हो सकती। यह स्वभावतः बहुत यांत्रिक है। लोकतंत्रात्मक देश मे जानकार और जागरूक निर्वाचकमंडल वैयक्तिक स्वतंत्रता का सर्वोत्तम रक्षक है।[7]

शक्तियो के पृथक्करण का सिद्धांत जहा एक ओर कार्यकुशलता का विस्तार करता है। वहा दूसरी ओर ईर्ष्या, अविश्वास और संघर्ष भी उत्पन्न करता है। हर्मन फाइनर के अनुसार यह सिद्धांत सरकार को कभी उन्माद तो कभी अचेतनता की स्थिति मे ले जाता है। अमरीका की संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत यह सिद्धात काग्रेस और राष्ट्र-पति के मध्य तथा इन दोनों और सर्वोच्च न्यायालय के बीच अनेक बार गतिरोध उत्पन्न कर चुका है। ब्रिटिश संसदीय पद्धति के अंतर्गत शक्तियो तथा दायित्वो के संकेंद्रण के कारण इस तरह के गतिरोध पैदा नही होते और यदि उत्पन्न हो भी जाते हैं तो उनका समाधान सरलता से हो जाता है।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि मातेस्क्यू की आशा के विपरीत शक्तियो के पृथक्करण का सिद्धात अपने सहयोगी अवरोध और संतुलन के सिद्धांत के साथ भी उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत स्वतंत्रता का बहुत बडा रक्षक सिद्ध नही हुआ। अमरीका में शीतयुद्ध के समय मैकार्थीवाद के उदय और कुछ वर्ष पूर्व निक्सन के वाटरगेट काड के उदाहरणो से यही निष्कर्ष निकलता है। मैकार्थी ने सीनेट जांचसमिति के द्वारा अमरीका की न्यायिक व्यवस्था में अनधिकार हस्तक्षेप करके लाखों निरपराध व्यक्तियों को सताया और दंड दिया। इस समिति ने बिना किसी प्रमाण के लोगो को बदनाम कर उनके चरित्र का हनन किया और अंत मे स्वयं अंतर्धान हो गई। निक्सन के वाटरगेट कांड से साबित हो गया कि शक्ति पृथक्करण के बावजूद अमरीकी राष्ट्रपति नागरिक स्वतंत्रताओं को तिलांजलि देकर एक निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक बनने की दिशा मे किस प्रकार अग्रसर हो सकता है। मैकार्थी तथा निक्सन को उनके अपराधो की कोई सजा नही मिली।

सैबाइन का मत है कि मांतेस्क्यू ने शक्तियो के पृथक्करण के नियम को स्वतंत्रता के संवैधानिक सिद्धांत से जोडकर एक सारहीन विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया। मातेस्क्यू का यह सिद्धात राजनीतिक तथ्यो के अत्यधिक सरलीकरण पर आधारित है। फाइनर का भी यही विचार है कि आधुनिक काल में शक्ति पृथक्करण के नियम को कठोरता-

पूर्वक कार्यान्वित करना अनुचित, निरर्थक और शायद असंभव भी है। वर्तमान परिस्थितियों में आवश्यकता इस बात की है कि सरकार के विभिन्न अंगों की शक्तियों में युक्तिसंगत सामंजस्य स्थापित किया जाए। इस संबंध में हेरोल्ड लास्की का मत है: 'विधायिका अपना कार्य तब तक पूरा नहीं कर सकती जब तक वह कानून को लागू करने की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के लिए समर्थ न हो और जरूरत पड़ने पर उसे अधिकार होना चाहिए कि वह कानून बना कर न्यायाधीशों के ऐसे निर्णय रद्द कर सके। जिनके परिणाम अत्यधिक असंतोषजनक हों। कार्यपालिका कानून को लागू करते समय साधारण नियम को व्याख्या द्वारा विस्तृत करते हुए बदल देती है। आजकल इस कार्य की परिधि इतनी व्यापक है कि प्रायः इसमें और विधायिका के कार्य में भेद करना मुश्किल हो जाता है। अंत में न्यायपालिका भी कार्यपालिका की शक्ति को निर्धारित करने में या दो नागरिकों के विवाद का निर्णय करने में ऐसे कार्य करती है, जो स्वाभाविक रूप से कभी कभी विधायी कार्य बन जाते है।'[8] अतः वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का केवल औपचारिक महत्त्व शेष रह गया है।

संसदीय शासन प्रणाली : संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका की शक्तियां मंत्रिमंडल में निहित होती हैं, मंत्रिमंडल का नेता प्रधानमंत्री होता है। प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल प्रत्यक्ष रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं और संसद के माध्यम से निर्वाचकमंडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संसदीय शासनप्रणाली में राज्य की अध्यक्षता वंशानुगत रानी या राजा गणतंत्र में राज्य की अध्यक्षता संसदीय प्रणाली के अंतर्गत अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति करता है। अध्यक्ष के पास, चाहे वह वंशानुगत हो या निर्वाचित, केवल औपचारिक शक्तियां होती हैं, जिनका प्रयोग वह प्रधानमंत्री या मंत्रिमंडल के परामर्श से करता है।

जनता द्वारा निर्वाचित संसद में जिस राजनीतिक दल को या राजनीतिक दलों के गठबंधन को बहुमत प्राप्त होता है, राज्य का अध्यक्ष उस दल या गठबंधन के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त कर देता है। फिर प्रधानमंत्री की राय के अनुसार संपूर्ण मंत्रिमंडल की नियुक्ति कर दी जाती है। मंत्रिमंडल सभी सरकारी कार्यों के लिए उत्तरदायी है। प्रशासन का समस्त कार्य मंत्रिमंडल के आदेशों के अनुसार नौकरशाही के अधिकारी चलाते हैं। मंत्रिमंडल में, जब सभी मंत्री एक दल के सदस्य हों, राजनीतिक एकरूपता रहती है और नीतियों और कार्यक्रमों के विषय में उनमें पारस्परिक मतभेद नहीं होता। अनेक दलों के गठबंधन पर आधारित संयुक्त मंत्रिमंडल में नीति और कार्यक्रम संबंधी एकता का अभाव होता है।

संसद के बहुमत दल और मंत्रिमंडल के नेता के रूप में प्रधानमंत्री सरकार और संसद के कार्यों का नियंत्रण करता है। प्रधानमंत्री ही मंत्रिमंडल के जन्म, जीवन और मरण के लिए उत्तरदायी होता है। एकदलीय मंत्रिमंडल का प्रधानमंत्री प्रायः सभी मंत्रिमंडलीय और संसदीय शक्तियों को अपने व्यक्तित्व में केंद्रित कर लेता है और एक अत्यधिक बलवान शासक बन जाता है। अनेक दलों के गठबंधन पर आधारित मंत्रिमंडल का प्रधानमंत्री एक दलीय मंत्रिमंडल के प्रधानमंत्री की तुलना में दुर्बल शासक होता है।

वैधानिक दृष्टि से मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से संसद के निर्वाचित सदन के प्रति उत्तरदायी होता है। नीतियों के संबंध में सभी निर्णय सामूहिक रूप से प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिमंडल ही सामूहिक रूप से करने का अधिकारी है। कहावत प्रसिद्ध है कि मंत्रिमंडल के सभी सदस्य या तो एक साथ नदी में डूबते हैं या किनारे जा लगते हैं। यदि गृहमंत्री अपनी त्रुटियों के कारण संसद का विश्वास खो दे, तो युद्धमंत्री और वित्त-मंत्री अपने पद पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। बहुदलीय मंत्रिमंडल प्रायः सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य नहीं करते। मंत्रिमंडल के सदस्य संसद के किसी न किसी सदन के सदस्य अवश्य होते हैं। मंत्रिमंडल तभी तक अपने पद पर आसीन रह सकता है, जब तक संसद के लोकप्रिय सदन का उसमें विश्वास हो।

व्यावहारिक दृष्टि से प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल दलीय पद्धति के कठोर अनुशासन की सहायता से संसद पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। संसदीय प्रणाली विधायिका और कार्यपालिका के सहयोग पर आधारित है। जब संसद किसी मंत्रिमंडल में अविश्वास प्रकट करे, तो प्रधानमंत्री या तो अपने मंत्रिमंडल का त्यागपत्र दे देता है या लोकप्रिय सदन को भंग कर नया निर्वाचन कराता है। संसद और मंत्रिमंडल के मतभेदों का अंतिम निर्णायक निर्वाचकमंडल ही है। यदि नए निर्वाचन द्वारा सिद्ध हो जाए कि लोकमत मंत्रिमंडल के पक्ष में नहीं है, तो मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देना अनिवार्य हो जाता है।

संसदीय प्रणाली की आलोचना : इस प्रणाली का लाभ यह है कि इसमें संसद और सरकार के बीच सामंजस्य स्थापित हो जाता है और फलतः दोनों के बीच में गतिरोध उत्पन्न होने की कम संभावना रहती है। बेजहाट के अनुसार संसदीय व्यवस्था अत्यधिक लचीली होती है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर, जैसे युद्ध अथवा आपात स्थिति में संसद ही नई सरकार का निर्वाचन कर सकती है। उदाहरणार्थ 1940 में ब्रिटिश संसद ने चैंबरलेन के नेतृत्व में टोरी मंत्रिमंडल का इस्तीफा मंजूर कर चर्चिल के नेतृत्व में संयुक्त मंत्रिमंडल निर्वाचित कर लिया था और स्वयं अपनी अवधि को बढ़ा लिया था। संसदीय प्रणाली जनता की सर्वोपरिता के नियम पर आधारित है। संसद तथा उसके बाहर परिलक्षित लोकमत के अनुसार ही मंत्रिमंडल शासन करने के लिए विवश होता है। अनेक दलों की खुली प्रतिस्पर्धा, समयानुसार निर्वाचनों की शृंखला एवं स्वतंत्र समाचार पत्रों द्वारा लगातार राजनीतिक प्रचार इस व्यवस्था को और अधिक उपयोगी बना देते हैं।

संसदीय प्रणाली के आलोचक कहते हैं कि इस प्रणाली में शक्तियों के पृथक्करण के नियम का उल्लंघन किया जाता है। मंत्रियों को संसदीय कार्यों के लिए अपना अमूल्य समय देना पड़ता है। जिसकी वजह से वे प्रशासन संबंधी अपने दायित्वों की ओर उचित ध्यान नहीं दे पाते। संसदीय सरकार अस्थिर होती है क्योंकि मंत्रिमंडल का कार्यकाल संसद के समर्थन पर निर्भर रहता है। बहुदलीय पद्धति में तो संसदीय समर्थन किसी भी समय वापस लिया जा सकता है। इस व्यवस्था में विरोधी दल की सत्ता की लालसा में हर समय सरकारी दल की नीतियों और कार्यों की सिद्धांतहीन आलोचना और निंदा करते रहते हैं। संसदीय प्रणाली में अधिकांश मंत्री प्रशासन के कार्यों में कुशल और दक्ष

नहीं होते क्योंकि उनका जीवन राजनीति के दलदल में फंसकर ही व्यतीत होता है। दलीय पद्धति की कठोरता के कारण संसदीय सरकार दलगत पक्षपात से प्रभावित होकर शासन करती है। संसदीय व्यवस्था के अंतर्गत आपातकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए शीघ्र निर्णय लेना और फिर इन निर्णयों को शीघ्रता से कार्यान्वित करना कठिन होता है, क्योंकि लोकमत आपातकालीन कठोर नीतियों को सहन नहीं करता।

अध्यक्षात्मक शासनप्रणाली : अध्यक्षात्मक प्रणाली की सरकार संवैधानिक रूप से अपनी कार्यपालक शक्तियों के प्रयोग में संसद से स्वतंत्र होती है। इस व्यवस्था में राष्ट्रपति ही राज्य और सरकार का समान रूप से अध्यक्ष होता है। जनता प्रत्यक्ष या तथाकथित अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा राष्ट्रपति को चुनती है। उसका कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है। संसद उसको असाधारण परिस्थिति में असाधारण बहुमत के द्वारा केवल महाभियोग की प्रक्रिया के अनुसार उसे दोषी ठहराकर अपने पद से हटा सकती है। वह न तो संसद पर आश्रित रहता है और न उसके प्रति उत्तरदायी होता है।

इस व्यवस्था में शक्तियों के पृथक्करण को भी औपचारिक मान्यता दी जाती है। फिर भी कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रपति विधायिका की नीतियों को प्रभावित कर सकता है। राष्ट्रपति तथा उसके सहायक सचिव संसद के सदस्य नहीं हो सकते। फिर भी दलीय अनुशासन की मदद से, अगर संसद में राष्ट्रपति के दल का बहुमत हो, तो अध्यक्ष संसद पर नियंत्रण स्थापित कर सकता है। प्रतिकूल परिस्थिति में राष्ट्रपति तथा संसद के बीच में नीतिविषयक गतिरोध उत्पन्न हो जाते हैं। अध्यक्षात्मक प्रणाली में राष्ट्रपति विधायिका को भंग करने का अधिकार नहीं रखता। फिर भी धीरे धीरे राष्ट्रपति अध्यक्षात्मक प्रणाली के अंतर्गत एक सुदृढ़ और शक्तिशाली शासक बन गया है। अमरीकी राष्ट्रपति की संसार की सभी कार्यपालिकाओं में सबसे अधिक बलवान शासकों में गणना होती है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली में सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। फिर भी वह एक लोकप्रिय और प्रतिनिधिमूलक शासनप्रणाली है। राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होने से और उसके दूसरी बार चुने जाने की संभावना से सरकारी नीतियों में स्थायित्व आ जाता है। सभी शक्तियां एक शासक में निहित होने की वजह से इस व्यवस्था में शीघ्रता से निर्णय लिए जा सकते हैं और उन्हें तत्परता से कार्यान्वित किया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली का मूल्यांकन : आशीर्वादम का विचार है कि विभिन्न हितों और संस्कृतियों वाले बड़े राज्यों के लिए अध्यक्षात्मक प्रणाली ही लाभदायक है। यह सरकार दलगत पक्षपात और अनुशासन से संसदीय प्रणाली की अपेक्षा कम प्रभावित होती है। मंत्रियों को विधायी कार्यों से मुक्त रहने के कारण प्रशासनिक कार्यों के करने के लिए अधिक समय प्राप्त होता है। इससे प्रशासन की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

इसके विपरीत एस्मीन का मत है कि अध्यक्षात्मक शासनप्रणाली स्वेच्छाचारी, उत्तरदायित्वहीन और खतरनाक होती है। अपने अधिकारक्षेत्र के अंतर्गत रहकर या उसका और अधिक विस्तार करके राष्ट्रपति एक निरंकुश अधिनायक बनने की क्षमता

रखता है। परंतु कुछ अन्य लोगो का विचार है कि राष्ट्रपति कभी अधिनायक नही वन सकता क्योकि वह विधायी और वित्तीय क्षेत्रो मे कांग्रेस अर्थात विधानमंडल पर अत्यधिक निर्भर है। कार्यपालिका को अध्यक्षात्मक प्रणाली के अंतर्गत कानून बनाने में पहल करने का मौका नही मिलता। इस प्रकार वह अपनी नीतियो को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक कानूनो के निर्माण के लिए विधानमंडल के सदस्यों पर निर्भर रहती है।

ब्राइस के अनुसार इस प्रणाली मे संसदीय समितियो की विविधता और उनके अनुत्तरदायित्व के कारण काम होने मे देरी होती है, अव्यवस्था उत्पन्न होती है और परस्परविरोधी उद्देश्यों से प्रेरित होकर कार्य किए जाते हैं। उनका मत है कि शक्ति के पृथक्करण का वास्तविक परिणाम यह हुआ है कि स्वाभाविक रूप से जुडी हुई वस्तुएं एक दूसरे से अलग हो गई है। चूकि अध्यक्षात्मक प्रणाली में शासन के विविध अंग संविधान द्वारा निर्धारित दायरे के अंदर काम करने के लिए विवश है, इसलिए इस व्यवस्था मे लचीलापन नही होता। अध्यक्षात्मक प्रणाली में विविध शासनांगों के आपसी गतिरोध के कारण प्रगतिशील नीतियो और कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने में बाधाओं का सामना करना पडता है।

पारंपरिक वर्गीकरण की आलोचना : राजनीतिक प्रणालियो के पारंपरिक वर्गीकरण में केवल सरकार के ढांचे की ओर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता है। लीकाक और मैरियट भी केवल लोकतंत्रीय शासनप्रणालियो के वर्गीकरण मे अभिरुचि रखते है। तथाकथित निरंकुश शासनप्रणालियों के वर्गीकरण को वे अनावश्यक समझते है। वस्तुतः उनका वर्गीकरण केवल यूरोपीय संस्कृति से प्रभावित कुछ शासनप्रणालियों का वर्गीकरण है और वस्तुतः उनका सारा ध्यान विशेप रूप से ब्रिटेन और अमरीका की राजनीतिक प्रणालियों पर केंद्रित रहता है। लीकाक, मैरियट इत्यादि संस्थानवादी लेखको द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण के मुख्य दोप निम्नलिखित है:

1. वे राजनीतिक प्रणाली को निर्जीव और स्थिर मान लेते हैं। वे वर्गीकरण को केवल संवैधानिक आकृति पर आधारित करते है और राजनीतिक व्यवस्था के गतिशील तत्वो पर ध्यान नही देते। प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली आंतरिक संरचनात्मक परिवर्तनों और राजनीतिक प्रक्रियाओ के द्वारा विकसित होती रहती है और फलस्वरूप उसका रूप बदलता रहता है। सस्थानवादी लेखक इस तथ्य पर ध्यान नही देते।

2. वे *वर्गीकरण करते समय केवल कार्यपालिका, विधायका, न्यायपालिका, आदि* शासनागो के संगठन पर ध्यान देते हैं। वे इन शासनागों की व्यवस्था में भूमिकाओं पर विशेप ध्यान नही देते। किसी प्रणाली में राजनीतिक समाजीकरण या राजनीतिक संस्कृति या सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का इन शासनागों की क्रियाओं या भूमिका पर क्या प्रभाव पडता है। इससे इन संस्थानवादी लेखकों को कोई सरोकार नही है।

3. ये लेखक वर्गीकरण करते समय इस बात पर ध्यान नही देते कि शासन पद्धति के संवैधानिक आधार मे समानता या अंतर होने पर भी प्रत्येक व्यवस्था का अपने आर्थिक, सास्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक अनुभवो और परिवेश के कारण अपना विशेप व्यक्तित्व होता है, जो उसे प्रत्येक अन्य व्यवस्था से पृथक करता है।

संशोधनों के साथ राबर्ट डाल आधुनिक प्रणालियों का एक मौलिक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। उनके वर्गीकरण के चार आधार हैं :

1. सरकार के निर्णयो पर अंतिम नियंत्रण कौन करता है ? एक व्यक्ति, थोड़े से लोग, बहुत से लोग या मिश्रित रूप से। इस आधार पर व्यवस्थाएं एकतंत्र, अल्पतंत्र, लोकतंत्र अथवा मिश्रित हो सकती हैं।

2. सत्ता अर्थात सरकार की वैधता सुदृढ है अथवा दुर्बल। सुदृढ वैधता पर आधारित व्यवस्था वैध प्रणाली और दुर्बल वैधता पर आधारित व्यवस्था निरंकुश प्रणाली कहलाती है।

3. प्रणाली के अंतर्गत समुदायो और समूहो को कार्य करने के लिए उपप्रणाली स्वायत्तता कम प्राप्त है अथवा अधिक। इस आधार पर व्यवस्था को एकात्मक या बहुलात्मक प्रणाली माना जा सकता है।

4. व्यवस्था के अंतर्गत राजनीतिक संसाधनो और प्रभाव का वितरण किस प्रकार किया जाता है। इस आधार पर वह व्यवस्था विशिष्टवर्गीय या लोकतंत्रीय मानी जा सकती है।[11]

इस स्थल पर वर्गीकरण करते समय राबर्ट डाल ने व्यवस्थाओं के आर्थिक आधार की अवहेलना कर दी है। आज व्यवस्थाओ का सबसे अधिक महत्वपूर्ण वर्गीकरण उन्हे आर्थिक आधार पर समाजवादी और पूजीवादी प्रणालियों मे विभक्त करना है। एक दूसरा महत्वपूर्ण वर्गीकरण व्यवस्थाओं को आर्थिक दृष्टि से विकसित, अर्धविकसित और अल्पविकसित प्रणालियो में विभाजित करना है। एक वियतनामी लेखक के अनुसार आजकल विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओ को निम्नलिखित छः वर्गो मे बाटा जा सकता है .

1. विकसित समाजवादी प्रणालिया : सोवियत रूस, पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया आदि इनके उदाहरण हैं।

2. अर्धविकसित समाजवादी प्रणालिया : जनवादी चीन, यूगोस्लाविया, रूमानिया आदि इनके उदाहरण है।

3. अल्पविकसित समाजवादी प्रणालिया : मंगोलिया, अल्बानिया, वियतनाम, लाओस और कंबोडिया इनके उदाहरण हैं।

4. विकसित पूंजीवादी प्रणालियां : अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, जापान आदि इनके उदाहरण है।

5. अर्धविकसित पूजीवादी प्रणालिया : भारत, मिश्र, ब्राजील, अर्जेंटिना, मेक्सिको, स्पेन आदि इनके उदाहरण हैं।

अल्पविकसित पूजीवादी प्रणालियां : एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अधिकाश पिछड़े हुए देश, जो आज भी नव उपनिवेशवाद के शिकार हैं और पूजीवादी जगत के अभिन्न अंग हैं, इस वर्ग में आते है। इन देशो मे आर्थिक विकास की कोई संभावना नही है।[12]

उपर्युक्त आर्थिक आधारों की पूर्ण अवहेलना करते हुए राबर्ट डाल राजनीतिक

व्यवस्था का अत्यंत सीमित और संकुचित अर्थ निकालते हैं। वे अपने मानदंडो के आधार पर, जो संकीर्ण रूप से राजनीतिक मानदंड हैं, व्यवस्थाओं को सोलह वर्गों मे बाटते है किंतु यह भी एक वैचारिक और सैद्धांतिक वर्गीकरण ही है। व्यवहार मे हम आनुभाविक परीक्षण से ही किसी का चरित्र निर्धारित कर सकते हैं। रावर्ट डाल की मौलिकता उपप्रणाली की स्वायत्तता के आधार में झलकती है। प्रत्येक प्रणाली के अंतर्गत उपप्रणालिया होती है जैसे - समाज के अंतर्गत समुदाय होते है या राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत दल प्रणाली या विधायन प्रणाली है। दलप्रणाली राजनीतिक व्यवस्था की उपप्रणाली का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। रावर्ट डाल का मत है कि उदारवादी लोकतंत्र इन उपप्रणालियो की स्वायत्तता को काफी हद तक स्वीकार करते हैं परंतु साम्यवादी अधिनायकतंत्र इन प्रणालियो की स्वायत्तता को या तो अस्वीकार कर देते है या अत्यंत संकुचित क्षेत्र मे ही स्वीकार करते है। अत: वे पूजीवादी लोकतंत्रो को बहुलात्मक प्रणालियो और साम्यवादी राजनीतिक प्रणालियो को एकात्मक कहते है। इसी प्रकार उनका विश्वास है कि पूजीवादी लोकतंत्र मे सरकार की वैधता सर्वमान्य और सुदृढ होती है किंतु साम्यवादी अधिनायकतंत्रो मे सरकार की वैधता दुर्बल होती है और नागरिक भयभीत होकर सरकार की आज्ञा मानते है।

एलेन बाल आधुनिक राजनीतिक प्रणालियो को लोकतंत्रीय, सर्वाधिकारवादी और स्वेच्छाचारी प्रणालियो मे बाटते है। लोकतंत्रीय प्रणालियो का वर्गीकरण वे पारस्परिक ढंग से ही करते हैं। ये प्रणालिया एकात्मक और संघात्मक अथवा संसदीय और असंसदीय हो सकती है। सर्वाधिकारवादी राज्यों को वे फासिस्ट तथा साम्यवादी उपवर्गों मे विभाजित करते है। नाजी जर्मनी, मुसोलिनी द्वारा शासित इटली और जनरल फ्रैंको द्वारा शासित स्पेन फासिस्ट सर्वाधिकारवादी प्रणाली के उदाहरण है। वर्तमान स्वेच्छाचारी प्रणालिया भी दो उपवर्गों मे बंटी हुई हैं। स्वेच्छाचारी प्रणालियो में सत्ता सैनिक या असैनिक विशिष्ट वर्ग के हाथ मे होती है। असैनिक विशिष्ट वर्ग से उनका तात्पर्य एकदलीय पद्धति मे राजनीतिक नेताओ तथा नौकरशाही के उच्चतम अधिकारियो के विशिष्ट वर्ग से है। सैनिक विशिष्ट वर्ग से उनका अभिप्राय सेना के उच्च अधिकारियो से है जो बलप्रयोग द्वारा राज्य की सत्ता पर कब्ज़ा कर लेते है। एलेन बाल इन प्रणालियों के विश्लेषण में राजनीतिक समाजीकरण, राजनीति संस्कृति एवं हित समूहो के कार्य आदि आधुनिक मानदंडों का उपयोग करते है।[13]

आमंड ने राजनीतिक व्यवस्थाओ के चार आगत और तीन निर्गत कार्य बताएं है।[14] ये चार आगत कार्य निम्नलिखित है :

1. राजनीतिक समाजीकरण और भरती : प्रत्येक व्यवस्था मे परिवार, स्कूल, क्षेत्रीय संस्थाएं, व्यावसायिक संस्थाएं और राजनीतिक दल प्रत्येक नागरिक को उसके जन्म से प्रारंभ कर जीवनपर्यंत कुछ ऐसे विचारो और आचारो मे दीक्षित करते है जिनमे उस का राजनीतिक व्यवहार उस राजनीतिक व्यवस्था की मांगो के अनुकूल हो जाए। लासवेल के अनुसार समाजीकरण प्रक्रिया मुख्य रूप से अवचेतन प्रक्रिया है, जो मनुष्य की अवचेतन प्रेरणाओ और प्रवृत्तियो पर आधारित है। हाइमैन के अनुसार यह सचेतन

प्रक्रिया है और मनुष्य द्वारा निरंतर तार्किक ज्ञान के विस्तार पर निर्भर है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही समाज के अधिक सक्रिय सदस्य राजनीतिक दलों और सरकार के उत्तरदायी और महत्वपूर्ण पदों को संभालते है। ऐसे व्यक्ति और वर्ग, जो व्यवस्था के अंतर्गत अधिकारहीन होने की वजह से या व्यवस्था विरोधी विचारों के कारण समाजीकरण के प्रभाव से वंचित रहते हैं, उस व्यवस्था में असंतुलन फैलाते है। अतः राजनीतिक समाजीकरण व्यवस्था के संतुलन और स्थायित्व के लिए एक आवश्यक आगत कार्य माना जाता है।[15]

2. **हितनिर्धारण**: प्रत्येक व्यवस्था में नागरिक अपने हितों के आधार पर समूहों का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थ उद्योगपति उद्योग संघों और मजदूर श्रमिक संघों का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार डाक्टर, शिक्षक, वकील और अन्य पेशों के लोग अपने हितसमूह बनाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सभी लोग और वर्ग अपने हितसमूहों का निर्माण कर लें। उदाहरणार्थ हमारे देश में खेतिहर मजदूर अपने हितसमूह में संगठित नहीं है। भारतीय महिलाएं भी उचित रूप से अपने हितसमूह में संगठित नहीं हैं। श्रमिक संघों में राजनीतिक दलों ने फूट पैदा कर दी है। प्रत्येक व्यवस्था में सुसंगठित हितसमूहों द्वारा अपने समूह का हितनिर्धारण एक महत्त्वपूर्ण आगत कार्य माना जाता है।[16]

3. **हित संयोजन**: प्रत्येक व्यवस्था में राजनीतिक दल हित संयोजन का कार्य करते हैं। प्रत्येक हितसमूह एक या अनेक राजनीतिक दलों को प्रभावित कर इस बात के लिए राजी करने की कोशिश करता है कि उस हितसमूह की मांगों को राजनीतिक दल की नीतियों और कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण एवं उचित स्थान दिया जाए। राजनीतिक दल विभिन्न हितसमूहों के परस्पर विरोधी एवं असंबद्ध हितों और मांगों में व्यावहारिक सामंजस्य और संयोजन करते है। राजनीतिक दल हितसमूहों की अस्पष्ट, अत्यधिक व्यापक, अतिवादी और अव्यावहारिक मांगों को स्वीकार नहीं करता और विभिन्न हितसमूहों की स्पष्ट, सामान्य और व्यावहारिक मांगों की परीक्षा कर समझौते के आधार पर युक्तिसंगत मांगों को अपने दल के कार्यक्रमों में शामिल कर लेता है। अतः राजनीतिक दलों द्वारा हितसंयोजन भी एक महत्वपूर्ण आगत कार्य है।[17]

4. **राजनीतिक संप्रेषण**: प्रत्येक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पहलू सूचनाओं का आदान प्रदान है। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में संप्रेषण और प्रचार के साधनों का अत्यधिक विकास हुआ है। राजनीतिक संप्रेषण के मुख्य साधन समाचारपत्र, सार्वजनिक सभाएं, रेडियो, दूरदर्शन आदि हैं। इनके द्वारा हितसमूह और राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों और कार्यक्रमों का प्रचार करते हैं। राजनीतिक संप्रेषण ही व्यवस्था में सुदृढ लोकमत तैयार कर सकता है और सरकार को हितसमूहों और सामाजिक वर्गों की समस्याओं से सरकार को अवगत और परिचित कराता है। अतः राजनीतिक संप्रेषण भी आधुनिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण आगत कार्य है। आमंड के अनुसार यह साथ ही व्यवस्था का एक निर्गत कार्य भी है। निर्गत कार्य मुख्यतः सरकार के नीति संबंधी कार्य होते है। चूंकि सरकार भी अपनी नीतियों के प्रचार के लिए सूचना के समस्त साधनों का उपयोग करती है। इसलिए राजनीतिक संप्रेषण सरकार

का एक महत्वपूर्ण निर्गत कार्य भी बन जाता है।[18]

आमंड तथा पावेल के अनुसार राजनीतिक व्यवस्थाओ के तीन निम्नलिखित निर्गत कार्य हैं :

1. **नियमनिर्माण** : यह एक महत्वपूर्ण निर्गत कार्य है, जिसे विशेष रूप से विधायिका और संसद करती है। यह मुख्य रूप से विधायन कार्य है। हस्तांतरित विधायन के रूप मे अब कार्यपालिका और प्रशासन के अधिकारी भी नियमनिर्माण का कार्य कर सकते हैं। कानूनों की व्याख्या करते समय न्यायाधीश भी नियम बना सकते है। वस्तुतः समाज की गैर सरकारी संस्थाएं जैसे राजनीतिक दल, हितसमूह, चर्च और धार्मिक संगठन भी व्यवस्था के लिए नियमो का निर्माण करते रहते है। अतः नियमनिर्माण सरकारी कार्य ही नही गैर सरकारी निर्गत कार्य भी है।

2. **नियमकार्यान्वयन** : यह दूसरा महत्वपूर्ण निर्गत कार्य है, जिसे विशेष रूप से कार्यपालिका और नौकरशाही के अधिकारी करते है। यह कार्य व्यवस्था को संचालित करता है। यह मुख्य रूप से सरकार का कार्यपालक और प्रशासनिक कार्य है। इसके *द्वारा सरकार अपनी नीतियो को कार्यान्वित करती है। वस्तुतः समाज की गैरसरकारी* संस्थाएं जैसे राजनीतिक दल, हितसमूह, चर्च और धार्मिक संगठन भी नियमकार्यान्वयन का कार्य करते हैं और कुछ परिस्थितियों मे वे सरकारी कार्यों पर अपने निषेध के अधिकार का भी प्रयोग करते हैं और इस प्रकार सरकार द्वारा स्वीकृत नियमो के कार्यान्वयन में बाधाएं डालते हैं। अतः नियम कार्यान्वयन एक महत्वपूर्ण सरकारी और गैरसरकारी निर्गत कार्य है।

3. *नियमानुसार न्याय : यह राजनीतिक व्यवस्था का तीसरा महत्वपूर्ण निर्गत* कार्य है, जिसे विशेष रूप से न्यायालयो के न्यायाधीशो के न्यायाधीश करते हैं। यह कार्य नियमों के कार्यान्वयन और उल्लंघन से उत्पन्न विवादो के निर्णय से संबंध रखता है। यह मुख्य रूप से सरकार का ही न्यायिक कार्य है। इसके द्वारा सरकार व्यवस्था द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन कराती है और नियमो के उल्लंघन करने वालो को दंड देती है। प्रशासनिक न्याय के विस्तार के कारण अब सरकारी विभाग भी नियमानुसार *प्रशासनिक न्याय करने लगे हैं। वास्तव मे समाज की गैरसरकारी संस्थाएं भी सीमित* रूप से नियमानुसार न्यायिक कार्य में संलग्न रहती हैं। इन संस्थाओ मे चर्च और धार्मिक संगठन, हितसमूह और राजनीतिक दल शामिल किए जा सकते हैं। अतः नियमानुसार न्याय भी प्रत्येक व्यवस्था मे एक महत्वपूर्ण सरकारी और गैरसरकारी निर्गत कार्य है।[19]

आमंड और पावेल के अनुसार राजनीतिक प्रणाली के विकास के तीन आधार हैं :

1. *समानता : पारंपरिक व्यवस्था असमानता पर आधारित शृंखलाबद्ध और* सोपानात्मक व्यवस्था होती है। इसमे जन्म, कुलीनता और प्रतिष्ठा को महत्व दिया जाता है। आधुनिक व्यवस्था समानता पर आधारित लोकतंत्रीय व्यवस्था है जिसमे नेतृत्व का आधार वैयक्तिक योग्यता, प्रतिभा और परिश्रमशीलता है। इसमे जन्म, कुलीनता और पारंपरिक प्रतिष्ठा को महत्व नही दिया जाता।

2. सामर्थ्य : पारंपरिक व्यवस्था मे सरकार की सामर्थ्य सीमित होती है। वह समाज के विविध क्षेत्रों मे कोई रचनात्मक कार्य नही करती। आधुनिक व्यवस्था मे सरकार के कार्यों का निरंतर विस्तार किया जाता है। वह समाज के प्रत्येक क्षेत्रों में, चाहे वह आर्थिक क्षेत्र हो या सांस्कृतिक, रचनात्मक कार्य करने का प्रयास करती है और इस प्रकार व्यवस्था की सामर्थ्य की वृद्धि हो जाती है।

3. विशेषीकरण : पारंपरिक व्यवस्था मे कार्यों का सामान्यीकरण होता है क्योंकि एक समुदाय अनेक प्रकार के कार्यों को करने के लिए सामान्य रूप से सक्षम होता है। कुटुंब या धार्मिक संघ केवल पारिवारिक या धार्मिक क्षेत्र तक अपनी अभिरुचि सीमित नही रखते बल्कि राजनीतिक क्षेत्र मे भी अपने सदस्यो की गतिविधियो को संचालित और नियंत्रित करते हैं। आधुनिक व्यवस्था मे कार्यों का विशेषीकरण कर दिया जाता है, इसलिए एक समुदाय साधारणतः अपने कार्यों को एक विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रखता है। राजनीतिक कार्य विशेष रूप से राजनीतिक दल और सरकारी संस्थान करते हैं। अत आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था अपने अंतर्गत कार्यरत ढांचो के कार्यों के विशेषीकरण पर आधारित है।

राजनीतिक प्रणाली की परिभाषाएं : आमंड के अनुसार राजनीतिक प्रणाली अपने अंतर्गत बने हुए ढाचो के कार्यों, प्रतिक्रियाओ और अंतःक्रियाओ की व्यवस्था है। राजनीतिक विश्लेषण का उद्देश्य यह पता लगाना है कि किसी निर्दिष्ट राजनीतिक प्रणाली में कौन कौन से आधारभूत कार्य किए जाते है; इन कार्यों को कौन कौन राजनीतिक अथवा अन्य अराजनीतिक ढाचे संपादित करते है तथा इन कार्यों को किन परिस्थितियों के अंतर्गत किया जाता है। यहा कार्य से हमारा अभिप्राय व्यवस्थाजन्य क्रियाओ के वास्तविक परिणाम से होता है। इन कार्यों के द्वारा व्यवस्था अनुकूलन और समायोजन करती है जिसका अर्थ है नई परिस्थितियो के अनुसार अपना रूपांतर करना जिसमे व्यवस्था संतुलित और स्थिर रह सके। व्यवस्था के अंतर्गत यदि कोई ढांचा ऐसे कार्य करे, जिसका उस व्यवस्था के अस्तित्व और स्थिरता पर प्रतिकूल और विध्वंसात्मक प्रभाव पड़े, तो आमंड के अनुसार इन्हे दुष्कार्य माना जाएगा। दुष्क्रियाएं व्यवस्था को अस्तव्यस्त और भंग कर सकती हैं और परिणामस्वरूप राजनीतिक क्रांति हो सकती है।

आमंड के अनुसार राजनीतिक प्रणाली सभी स्वतंत्र समाजो में उपलब्ध अंतःक्रियाओ की ऐसी व्यवस्था है, जो न्यूनाधिक वैध बलप्रयोग या उसकी धमकी के डर से अनुकूलन तथा समायोजन के कार्य करती है।[20] यह कार्य आतरिक भी है और अन्य समाजो से संबद्ध भी है। आमंड की परिभाषा में तीन तत्व शामिल है। पहला तत्व राज्य के विषय मे मैक्स वेबर की परिभाषा है जिसके अनुसार वह समाज मे वैध बल प्रयोग करनेवाला एकमात्र समुदाय है। दूसरा तत्व डेविड ईस्टन की व्यवस्था की परिभाषा है, जिसके अनुसार राजनीतिक व्यवस्था मूल्यवान वस्तुओं का व्यक्तियो और वर्गों में अधिकारपूर्ण वितरण है। दूसरा तत्व इसमे टैल्काट पार्संस द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था की धारणा है, जिसके अनुसार व्यवस्था संस्थागत क्रियाओं और

प्रक्रियाओं का सामूहिक और व्यवस्थित रूप है। राजनीतिक प्रणाली की आमंड तथा पावेल के अनुसार चार विशेषताएं है :

1. **सर्वव्यापकता** : राजनीतिक व्यवस्था समाज के सभी राजनीतिक, आर्थिक, सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक ढाचों के सपूर्ण अगात और निर्गत कार्यों और अंतः-क्रियाओं को शामिल करती है।

2. **पारस्परिक निर्भरता** : व्यवस्था के अतर्गत किसी भी उपप्रणाली या ढांचे में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन का दूसरी उपप्रणालियो और ढाचो के स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है और उनमे भी तदनुसार परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

3. **सीमाओं का अस्तित्व** : यह निर्णय करना कठिन है कि कहां अन्य व्यवस्थाए समाप्त होती हैं और कहा से राजनीतिक व्यवस्था शुरू होती है। राजनीतिक व्यवस्था की सीमा तक विचार है न कि वास्तविकता। अतः हमे राजनीतिक व्यवस्था पर अन्य व्यवस्थाओ के प्रभाव को और अन्य व्यवस्थाओं पर राजनीतिक व्यवस्था के प्रभाव को ध्यान मे रखना चाहिए।

4. **संतुलन की स्थापना** . आमंड की मान्यता के अनुसार राजनीतिक प्रणाली की एक महत्वपूर्ण विशेषता सतुलन की स्थिति है। सामान्य रूप से राजनीतिक प्रणाली के सभी ढाचे व्यवस्था मे सतुलन, सहयोग, स्थिरता और स्थायित लाने का प्रयास करते हैं।

आमड तथा पावेल के अनुसार राजनीतिक प्रणाली की चार प्रकार की समताएं हैं :

1. **निकास की क्षमता** : प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली राष्ट्र की उपलब्ध संपदा का निकास करती है। भूगर्भ मे छिदे हुए खनिज पदार्थो, तकनीकी उन्नति द्वारा औद्योगिक वस्तुओ, कृषि द्वारा भूमि की शक्ति के उपयोग आदि से वह संसाधनों का विकास करती है। इसे ही निकास की क्षमता कहते हैं।

2. **विनियमन की क्षनता** . प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली उपयुक्त और आवश्यक नियमो के द्वारा अपने अतर्गत वने हुए ढाचों के कार्यों के नियंत्रण की क्षमता रखती है। इन नियमो के कार्यान्वयन मे शिथिलता या तत्परता के आधार पर भी व्यवस्था की क्षमता और कार्यकुशलता को नापा जा सकता है।

3. **वितरण की क्षमता** : राजनीतिक प्रणाली उपयुक्त और युक्तिसंगत नियमो के अनुसार मूल्यवान वस्तुओ और सेवाओ का समाज के विभिन्न वर्गों मे वितरण करने की क्षमता रखती है।

4. **प्रत्युत्तर की क्षमता** : राजनीतिक व्यवस्था मे विशिष्ट वर्गो, सामाजिक समूहों और अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओ की चुनौतियो का प्रत्युत्तर देने की क्षमता भी होती है। इस क्षमता के अभाव मे राजनीतिक प्रणाली का अस्तित्व खतरे मे पड़ सकता है।

राजनीतिक संस्कृतिक के आधार पर ऐडवर्ड शील्स शासनप्रणालियों को चार वर्गों में बाटते है :

1. **संकीर्ण राजनीतिक संस्कृतिवाली प्रणाली** : यह अपने मूल रूप में कबीलाई समाज की राजनीतिक प्रणाली है। अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमरीका मे यह उन क्षेत्रों में विशेष रूप से पाई जाती है, जहा लोग आज भी कबीलो मे *सगठित हैं। इसके*

अलावा यह कृषिप्रधान देशो के ग्रामीण क्षेत्रो मे उपलब्ध है। कृषक वर्ग प्रायः स्थानीय समस्याओ में ही अभिरुचि रखता है। सामती व्यवस्था मे भी संकीर्ण संस्कृति होती है।

2. पराधीन राजनीतिक संस्कृतिवाली प्रणाली : पारपरिक निरकुश राजतत्र, आधुनिक वाणिज्यवादी राजतत्र तथा आधुनिक अधिनायकतत्रीय राज्य पराधीन राजनीतिक सस्कृति वाली प्रणालिया माने जाते है। इस व्यवस्था मे लोग निरकुश शासकों की शक्ति से डरकर स्वाभाविक रूप से उनकी आज्ञा का पालन करते है। नागरिकों को राजनीतिक प्रक्रियाओं मे भाग लेने का अवसर नहीं मिलता। आमड के अनुसार यह फासिस्ट और साम्यवादी विचारधाराओ पर आधारित सर्वाधिकारवादी प्रणालियो की राजनीतिक सस्कृति है।

3. सहभागी राजनीतिक संस्कृतिवाली प्रणाली : सहभागी राजनीतिक सस्कृति उदारवादी लोकतत्रीय प्रणालियो की विशेषता है। जिन प्रणालियों मे हितसमूहो और राजनीतिक दलो को अपने कार्यो के लिए पूर्ण स्वतत्रता और अवसर प्राप्त है, वहा ही सहभागिता की राजनीतिक सस्कृति विकसित होती है।

4. नागरिक राजनीतिक संस्कृतिवाली प्रणाली : जहा राष्ट्रीय जीवन मे मूल्यो और आदर्शो की पूर्ण एकता स्थापित हो जाती है और नागरिक अपनी सभी सकीर्ण निष्ठाओ को छोडकर राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों का पालन करते है एवं राजनीतिक कार्यों में स्वतंत्रतापूर्वक और उत्साह मे भाग लेते है, वहा ही नागरिक राजनीतिक संस्कृति विकसित होती है। ब्रिटिश प्रणाली नागरिक सस्कृति का सर्वोत्तम उदाहरण है।

राजनीतिक विकास के विभिन्न मापदडो के आधार पर तुलना करते हुए आमंड और पावेल चार प्रकार की राजनीतिक प्रणालियों की चर्चा करते है!

1. आंगल अमरीकी शासन प्रणालियां : इनमे ब्रिटेन, अमरीका और यूरोपीय नस्ल के राष्ट्र मडलीय देशो को शामिल किया गया है। ये नागरिक संस्कृति पर आधारित सबसे अधिक प्रगतिशील और सतुलित आधुनिकतम व्यवस्थाएं है।

2. यूरोपीय शासन प्रणालियां . राजनीतिक विकास के पैमाने पर दूसरे स्तर की प्रणालिया पश्चिम जर्मनी, इटली, फ्रास आदि यूरोपीय राज्यो की व्यवस्थाएं है। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैंड आदि की प्रणालियो की तुलना मे पिछड़ी हुई है।

3. सर्वाधिकारवादी शासन प्रणालियां : राजनीतिक विकास के पैमाने पर तीसरे स्तर की प्रणालियां सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के राज्यों मे पाई जाती है। ये व्यवस्थाए आर्थिक रूप से समुन्नत होने पर भी राजनीतिक विकास के पैमाने पर पिछड़ी हुई हैं।

4. अल्पविकसित देशों को शासन प्रणालियां : अंत मे एशिया अफ्रीका और लैटिन अमरीका की प्रणालियां आती है। जो राजनीतिक तथा आर्थिक विकास के पैमानों पर समान रूप से पिछडी हुई है। आधुनिकता, स्थायित्व, राजनीतिक संस्कृति और संरचनात्मक कार्यो के विशेषीकरण के दृष्टिकोण से ये शासनप्रणालियां अत्यधिक अविकसित हैं।[21]

अंत में निष्कर्ष के रूप में शासनप्रणालियों के वर्गीकरण के संबंध मे ज्यां ब्लोंडिल

के विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं। उनका कहना है कि शासनप्रणालियां राजतंत्रीय अथवा लोकतंत्रीय होती हैं। इसी प्रकार शासनप्रणालियां रुढ़िवादी अथवा परिवर्तनवाद होती हैं। अत मे वे सत्तावादी अथवा उदारवादी होती है। यह भी शासनप्रणालियों का एक सैद्धांतिक वर्गीकरण है, जिसको व्यवहार मे लागू करने पर कठिनाइयां आ सकती हैं। इस प्रतिमान के अनुसार उदारवादी परिवर्तनवादी-राजतंत्रीय प्रणाली अथवा रुढिवादी सत्तावादी-लोकतंत्रीय प्रणाली विचार के रूप मे संभव है परंतु व्यवहार में कोई भी शासनप्रणाली इन तत्वों के मिश्रण से गठित नहीं हुई है।[22]

वस्तुतः राजनीतिक व्यवस्थाओ का सर्वश्रेष्ठ वर्गीकरण आर्थिक विकास के स्तर और अर्थव्यवस्था विशेषता से उत्पन्न वर्ग संबंधो के अनुसार ही किया जा सकता है। इसे आधार बनाकर विश्व की सारी व्यवस्थाओ को निम्नलिखित वर्गों मे बांटा जा सकता है : 1. विकसित पूंजीवादी प्रणालियां; 2. विकसित समाजवादी प्रणालियां; 3. अर्धविकसित पूजीवादी प्रणालियां, 4. अर्धविकसित समाजवादी प्रणालियां; 5. अल्पविकसित पूजीवादी प्रणालियां; और 6. अल्पविकसित समाजवादी प्रणालियां इनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

संदर्भ

1 प्लेटो · 'दि रिपब्लिक', एच डी पी ली द्वारा अनुवादित, पृ० 312-44
2 आर एन गिल्क्राइस्ट : 'प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल साइंस', पृ० 228.
3 ई आशीर्वादम . 'राजनीति विज्ञान', पृ० 368-69.
4. वही, पृ० 370
5 वही, पृ० 384,
6. वही, पृ० 474.
7. वही, पृ० 476.
8 आर एन गिल्क्राइस्ट : 'प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल साइंस', पृ० 63.
9. आर ए डाल : 'माडर्न पोलिटिकल एनलिसिस', पृ० 28.
10. वही, पृ० 8.
11. वही, पृ० 37-38.
12. डेंजिल पीरिस : 'दि टाइम्स आफ इंडिया', 25 मई, 1977.
13. एलेन बाल . 'आधुनिक राजनीति और शासन', पृ० 57.
14 आमंड तथा कोलमैन : 'पालिटिक्स आफ डेवलपिंग एरियाज', पृ० 17.
15. वही, पृ० 26-28.
16. वही, पृ० 33-35.
17. वही, पृ० 39-41.
18. वही, पृ० 45-47.
19. वही, पृ० 52-57.

20. वही, पृ० 7.
21. जहीर मसूद कुरैशी : 'पोलिटिक टैक्सोनोमी : ए सब्सटैटिव माडल', इंडियन जनल आफ पोलिटीकल साइंस, (अप्रैल-जून 1975), पृ० 112.
22. वही, पृ० 113.

अनुक्रमणी

भारत सरकार से नियंत्रित मूल्य पर प्राप्त कागज पर मुद्रित.

कृष्णकांत मिश्र दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदू कालेज में सन 1956 से अध्यापन कर रहे हैं. 'स्टडीज इन इंटरनेशनल रिलेशंस', 'आधुनिक शासन प्रणालियां', 'लास्की का राजनीतिक चिंतन' तथा 'भारत की राजनीतिक प्रणाली' उन की महत्वपूर्ण प्रकाशित कृतियां हैं. वे राजनीतिशास्त्र के ख्यातिलब्ध विद्वान माने जाते हैं.